वर्ष : 8 • अंक : 31 • जनवरी–मार्च 2022 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 5000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* लेख में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोध लेखक के अपने विचार हैं तथा इसमें सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल के विचारों की उद्‌भावना स्पष्टत: नहीं है। अत: इसके लिए शोध-लेखक स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. एम.एस. चौहान**
(निदेशक, राष्ट्रीय डेयरी शोध संस्थान, करनाल, हरियाणा)
- **प्रो. अरविन्द कुमार पाण्डेय**
(पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व कला संकाय अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **महामहोपाध्याय प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री**
(पूर्व उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. शम्स-उल-इस्लाम**
(प्रधानाचार्य, गया कॉलेज, गया, बिहार)
- **प्रो. राम सरेख सिंह**
(पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. पवन अग्रवाल**
(हिन्दी एवं आधुनिक भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)
- **प्रो. आभा त्रिवेदी**
(पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. कमला उपाध्याय**
(विभागाध्यक्षा, संस्कृत, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू)
- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)
- **डॉ. विक्रमादित्य राय**
(अध्यक्ष, समाज-शास्त्र विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, (बी.एच.यू.) वाराणसी
- **प्रो. राजेश रंजन**
(पालि विभाग, नालन्दा नव-महाविहार)
- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. मनीष सिन्हा**
(अध्यक्ष, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Mob : 9555222747, 9540468787,
9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Assistant Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
Asst. Prof., Department of Sanskrit
PGDAV College, University of Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Co- Editor
Abhishek Priyadarshi
M.A., Ph.D. (History),
Asst. Prof., History Department
Satyawati College, University of Delhi
Mob. 9971656921

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
I-11, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi-****110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (Bihar) :
Prof. D.S. Chauhan
C/o Late Bindeshwari Singh, Jaiprakash Nagar, Gewal Bigha,
Gaya-*823001*
Mob. : 9263078395

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

Correspondence Address :
B-11/39, MIG Flats, Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747
www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. वी.के. यादव**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. कृष्ण लाल**
(सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, अरविन्दो कॉलेज (प्रात:), दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **डॉ. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रात:), दिल्ली)
- **डॉ. दिलीप कुमार झा**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रात:), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. राजमोहिनी सागर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रात:), दिल्ली)
- **डॉ. सुभाष कुमार सिंह**
(संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चन्द्रशेखर राम**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. लालजी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

प्रो. मदन मोहन अग्रवाल
पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. दलवीर सिंह चौहान
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार

प्रो. राजवीर शर्मा
पूर्व उपाचार्य, राजनीति शास्त्र विभाग,
आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Kawal Malik
Mob. 9818455819

J.D. Computers

All Types of Hindi, English, Sanskrit Typing,
Job Work and Printing

2157, Outram Line, Near Canara Bank, Kingsway Camp,
G.T.B. Nagar, Delhi-110009, Email : malikkawal@gmail.com

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय .... *viii*

श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ की अवधारणा 1
बिभूति कुमार

संप्रेषण की अवधारणात्मक समझ 5
विवेक विक्रम सिंह

आधुनिक परिवेश में बदलते हुए संस्कार गीत 9
कुमारी अनीता

मुक्तिबोध के कथा साहित्य में चित्रित मध्यवर्गीय जीवन 15
सतवीर सिंह

उत्तरी भारत की संत परंपरा में आने वाले गुरु नानक देव के साहित्य की प्रासंगिकता 21
डॉ. सिम्मी चौहान

नारीवाद की गत्यात्मकता 26
डॉ. पिंकी पुनिया / डॉ. ऋतेष भारद्वाज

आधुनिक हिंदी कविता में बिंब का उद्भव एवं प्रसार 34
डॉ. अंजन कुमार

पत्ती रोग की बेहतर पहचान के लिए ResNet-50 के संयोजन में चुनी गई विशेषताओं का उपयोग : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 38
रश्मि मिश्रा

महर्षि दयानन्द आधारित काव्यों में शान्त रस की अभिव्यक्ति 43
मधुलिका

राष्ट्र निर्माण में भाषा की महत्ता 47
डॉ. श्रुति रंजना मिश्रा

महाभाष्य-रत्नप्रकाश के आलोक में कर्मवद्भाव विमर्श 51
रोहित कुमार

मनीषा कुलश्रेष्ठ के साहित्य में स्त्री मुक्ति के सरोकार (शिगाफ के विशेष संदर्भ में) 55
डॉ. अवधेश कुमार

नार्थ कैम्पस के कॉलेजों तथा नार्थ ईस्ट जनपद दिल्ली के कॉलेजों में दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का अध्ययन 60
डॉ. ओम मिश्रा / डॉ संदीप कुमार मिश्रा

जलवायु परिवर्तन रोकने के लिए स्थानीय आन्दोलन 'झारखंड के विशेष संदर्भ में' 64
डॉ. कुमारी शुभ्रा

मण्डलब्राह्मणोपनिषदि प्रतिपादितात्मतत्वस्येतरदर्शनैः समीक्षणम् 67
सचिन द्विवेदी

फक्किकाप्रकाशरीत्या कृत्तद्धितसमासाश्च इति सूत्रविचारः 71
अनिलकुमारद्विवेदी

उर्वशी की सांस्कृतिक चेतना 76
डॉ. अर्चना गौड़

गाहड़वालों का इतिहास-लेखन एवं उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन 79
आशिद खान

'लहरों के राजहंस' की प्रतीकात्मकता 82
उत्तम कुमार

21वीं शताब्दी में महिलाएं : अवसर के साथ नई चुनौतियाँ 86
भावना

हिन्दी रंगमंच और पृथ्वी थिएटर 90
डॉ. योगेश रस्तोगी

जम्मू-कश्मीर : साझा संस्कृति और विरासत 95
संगीता

सामाजिक सरोकारों के परिप्रेक्ष्य में सुलगता हुआ शहर की कविताएँ 99
अमन सिंह

आंवा : भारतीय नारीवादी युगबोध का दस्तावेज ... 104
कुमारी रंजना

सम्बन्धसमुद् देश में सम्बन्ध का स्वरूप विमर्श 108
युवराज भट्टाराई

मध्यवर्ग, यथार्थवाद और औपन्यासिक युगबोध 114
विवेक कुमार त्रिपाठी

रसस्वरूपम् 117
स्वर्णदत्त अनंत बाहेरवाडे

'अंधायुग' में आधुनिकताबोध और प्रयोगधर्मिता 121
आराधना तिवारी

कारक तथा कर्ता का पर्यायवाचित्व एवं सम्प्रदानादि कारकों में भी कर्तृत्व की उपस्थिति 125
Ramjatton Kirthee Devi

वर्तमान मीडिया का समाजशास्त्र एवं दलित 128
डॉ० गुरनाम सिंह

वेदों में सृष्टि विचार 131
डॉ. प्रीति कौशिक

हिंदी फिल्मों में बनारस : पहचान, विरासत और मिथक का आधुनिक संदर्भ 135
डॉ. समरेन्द्र कुमार

पूर्वोत्तर विषयक हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन 143
डॉ. मोहम्मद शबीर

सम्पादकीय

जनवरी–मार्च 2022 के इस **'वाक् सुधा'** अंक को कोविड सम्बन्धी तमाम पाबंदियों के हटने के बाद प्रकाशित किया जा रहा है। 31 मार्च 2022 से केन्द्र सरकार और अधिकांश राज्य सरकारों ने बंदिशों को हटा लिया है। हम सबको बखूबी याद है कि पिछले दो साल से कम या ज्यादा कोरोना से संबंधित गाइडलाइंस का पालन हम सभी करते रहे हैं। 24 मार्च 2020 को सम्पूर्ण देश में लॉकडाउन लगाया गया। लॉकडाउन के शुरुआती दिनों में देश में बहुसंख्यक आबादी की आजीविका और जीवन पर संकट आ गया था। मैं उन तमाम दुखद पहलू की चर्चा यहां नहीं करना चाहता। देश की अर्थव्यवस्था अब रास्ते पर आ रही है। महंगाई और बेरोजगारी की रफ्तार पर पूर्ण रूप से लगाम नहीं लग सकी है। आशा है इस स्थिति में जिस तरह से सुधार हो रहा है, कुछ दिनों में बेहतर रिकवरी कर सकते हैं। हम सभी शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े हैं इसलिए बात शिक्षा की करते हैं। पिछले दो साल से यह गहन विमर्श का विषय बना हुआ है कि बच्चों को स्कूल–कॉलेज भेजना सुरक्षित है या नहीं? शिक्षा का ऑनलाइन और ऑफलाइन माध्यम में से बेहतर माध्यम कौन सा है? इस विमर्श को चलाने वाले ऐसे बौद्धिक भी हैं जो देश में शिक्षा की दशा–दिशा का निर्धारण करते हैं। अधिकांश लोगों को ऐसा मानना था कि बच्चों को स्कूल–कॉलेज नहीं भेजा जाए। जबकि वही बौद्धिक समाज अपने बच्चों को लेकर छुट्टियों में देशाटन कर रहे थे। शादी–विवाह जैसे भीड़–भाड़ वाले बड़े पारिवारिक फंक्शन में बच्चों को लेकर जाते थे। बस उनका स्कूल–कॉलेज से ही परहेज था। अब जबकि धीरे–धीरे स्कूल–कॉलेज खोले जा रहे हैं तब भी उनकी झिझक कम नहीं हो रही है। बच्चों के बहुमुखी विकास के लिए स्कूल–कॉलेज जाना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों में इम्यूनिटी ठीक–ठाक होती है, बड़ों के बनिस्पत कोरोना ने बच्चों को कम परेशान किया है। तमाम कोरोना की विभीषिका झेल चुके देशों के शोध में यह बात कई बार सिद्ध हो चुकी है। हाल ही के एक शोध में हमने यह पढ़ा कि देश के अधिकांश बच्चे कोरोना से संक्रमित हो चुके हैं, क्योंकि ओमिक्रोन का संक्रमण शत–प्रतिशत था। जिस भी परिवार में कोई भी एक सदस्य कोरोना से संक्रमित हो गया था तो यह मानकर चलिए कि उस परिवार के सभी सदस्यों बच्चों समेत संक्रमित हो चुके हैं। इसलिए मेरा भी आग्रह है कि बच्चों को स्कूल–कॉलेज भेजें। यह मानकर चलिए कि कोरोना इतनी जल्दी समाप्त नहीं होने वाला है, इसलिए कोरोना के साथ जीवन जीने के लिए मानसिक रूप से तैयार हो जाइए।

अंत में एक बात और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के लागू करने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई है जिसमें देश के सभी 45 विश्वविद्यालयों में स्नातक पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए संयुक्त परीक्षा यानी सीयूईटी आयोजित की जा रही है। देश भर में स्नातक प्रवेश की प्रक्रिया अतार्किक हो गई थी। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने मार्क्स जिहाद नाम से पिछले साल एक अभियान भी चलाया था। विभिन्न बोर्ड परीक्षाओं में 12वीं के प्राप्तांकों में बढ़ोत्तरी ने कॉलेज के कटऑफ को शत–प्रतिशत पहुंच दिया था। केरला बोर्ड द्वारा पास बच्चे कैसे दिल्ली विश्वविद्यालय एक खास कॉलेज में नामांकन करा लेते थे। वह सारी कथा आपको याद हो गई होगी। इसलिए दोहराना ठीक नहीं है। 'वाक् सुधा' के प्रति आप सभी शोधकर्ताओं एवं युवा शोधार्थी का स्नेह अतुलनीय है। आप सबका अभिनन्दन करते हुए आपको यह बताते हुए अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है कि 'वाक् सुधा पब्लिकेशन' से कई बड़े विद्वानों की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उस सब पर भी दृष्टिपात कीजिए।

– **डॉ. राजेश कुमार**
उपसम्पादक

शोध-पत्र

श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ की अवधारणा

बिभूति कुमार

सार-संक्षेप:

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में अत्यंत प्राचीन कल से ही यज्ञ का प्रचलन रहा है। इसके अन्तर्गत अग्निहोत्र जैसी कर्मकाण्ड क्रिया से लेकर आत्म परिष्कार की आध्यात्मिक साधना को समाहित किया जाता है। अन्य पुरातन विधाओं के समान यज्ञ की स्थूल मान्यता भी आज लोक में प्रतिष्ठित है। यज्ञ का प्राय: तीन अर्थों में प्रयोग किया जाता है - दान, संगतिकरण और देवपूजन। श्रीमद्भगवद्गीता में हमें व्यापक अर्थों में इसके दर्शन होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यज्ञ एक 'जीवनदर्शन' है। यज्ञ की प्रतिष्ठा कर्म सम्पादन की शुभ्र व सप्राण प्रेरणा के रूप में दृष्टिगोचर होती है। 'यज्ञार्थ कर्म' से कर्त्ता के कर्म ही आहुति रूप होकर परमार्थ के विराट कुण्ड में अर्पित किए जाते हैं। कामना, लोभ व निष्क्रियता से रहित जीवन क्रम यज्ञमय बनता है, जो संकीर्णता जन्य असंतोष से मुक्ति प्रदान करने वाला है। यज्ञीय जीवन सह-अस्तित्व के मूल्यों से युक्त एक सतत प्रवहमान अवस्था है, जिसमें हर क्षण कर्म व्यक्त व विलीन होते हैं। गीता में यज्ञ विविध प्रकार से कहे गए हैं। यह अर्पण द्वारा आरोहण की क्रिया है, जिसमें चेतना निम्न स्वभाव से उच्च व उच्चतर रूपों की ओर बढ़ती है। यह एक ओर साधनों का महत प्रयोजन के लिए संधान है, जो कर्मयोग का पर्याय बनता है, वहीं दूसरी ओर आत्म शुद्धि की सूक्ष्म व गुह्य प्रक्रिया। इस शोध पत्र में अन्वेषक द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ की अवधारणा विषयक ज्ञान प्राप्ति का एक सार्थक प्रयास किया गया है।

बीजशब्द:

यज्ञ, कर्म, मुक्ति, आत्मशुद्धि, श्रीमद्भगवद्गीता।

विषय-प्रवेश:

श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में यज्ञ की महिमा का उल्लेख किया गया हैं। यहां यज्ञ की वैदिक रीति के अनुसार किए जाने वाले अनुष्ठान के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। यहां देवताओं और यज्ञ का अन्योन्य संबंध भी वर्णित है। श्री अरविंद के अनुसार, ''गीता में यज्ञ के सिद्धांत का प्रतिपादन दो पृथक् स्थानों पर हुआ है, पहला वर्णन उसे इस प्रकार के शब्दों में प्रयुक्त करता है कि यदि हम उन शब्दों को उसी रूप में ग्रहण कर लें तो ऐसा जान पड़ेगा कि वह केवल वैदिक विधि के अनुसार अनुष्ठान किए जाने वाले स्थूल यज्ञों का प्रतिपादन कर रहे हों''। बाल गंगाधर तिलक के अनुसार, ''ज्ञान विषयक ग्रंथ भी गीता कहलाते हैं।'' गीता यज्ञ के कर्म-काण्ड पर बात न करके उसके ज्ञान-काण्ड वाले पहलू की विवेचना करती है।

तीसरे अध्याय में प्रजापति द्वारा यज्ञ की उत्पत्ति तथा देवों का इसके माध्यम से पोषण करने का वर्णन है। यज्ञ से पोषित देवों का याजक पर पड़ने वाला प्रभाव याजक को इष्ट भोग की प्राप्ति कराएगा, इस प्रकार के अर्थ यहाँ वर्णित हैं। दूसरा वर्णन यज्ञ को एक व्यापक दार्शनिक प्रतीक का भाव प्रदान करता है। उसके संपूर्ण अर्थ को बदल देता है और उसे एक ऊंचे मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सत्य के स्तर में उठा देता है। स्थूल कर्मकांड की दृष्टि से यज्ञ की अवधारणा का प्रयोग उसका विज्ञान

पक्ष हुआ जो कि व्यवहारगम्य है। तत्वज्ञान यज्ञ का वह स्वरूप है, जिसमें यज्ञ को व्यष्टि व समष्टि के कार्यों में होने वाली अन्योन्याश्रित परिघटना बताया गया है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में यज्ञ की अवधारणा :

गीता के तृतीय अध्याय के श्लोक 9 से भगवान श्रीकृष्ण यज्ञ की महिमा बताते हैं और अर्जुन को यज्ञ करने के लिए कहते हैं:-

यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। (3/9)

अर्थात् यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बंधता है। इसलिए हे अर्जुन! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भली भांति कर्तव्य कर्म कर। यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त कर्म में लगा हुआ मनुष्य कर्म में बंधता है। तीसरा अध्याय कर्मयोग का है, इसके पूर्व भगवान श्रीकृष्ण द्वारा ज्ञान की महिमा बताई गई है, किंतु यहां ज्ञान के साथ कर्म को जोड़ा गया है। ज्ञानी का कर्म कैसा हो यहां हमें यह ज्ञात होता है। यज्ञ की भावना से इतर किसी भाव को रखकर किया जाने वाला कर्म कर्ता को ही उलझन में डाल देता है। वह कर्म तो करता है परंतु वह एक जैविक घटना जैसी होती है, उसके पीछे निहित उद्देश्य का स्पर्श उसे नहीं होता। वह नाना प्रकार की अपेक्षाओं से संलिप्त हो जाता है। अपेक्षाएं कभी परिस्थितियों से तालमेल रखती हैं तो कभी उनसे विरोध भी हो जाता है। ऐसे में विकृत अपेक्षाएं व्यक्ति को उन कर्मों से ही और ज्यादा बांधती हैं। यह मन के असंतोष और ताप का कारण बनता है। यदि कर्म के द्वारा शांति और संतोष प्राप्त करना चाहे तो कर्म के फल से आसक्ति को अलग करके कर्म करें-''मुक्तसंगः समाचर।'' लेकिन कर्म अनायास तो बन नहीं पड़ेगा। किसी चीज को करने के लिए कोई अर्थ होता है, निमित्त बनता है। वह निमित्त यहां यज्ञ को माना गया है। यज्ञ के निमित्त कर्म करना है, तब कर्मों के जंजाल से व परिणाम से मुक्त रहकर व्यक्ति बंधन मुक्त रह सकेगा। यज्ञ को यहां मोक्ष के लिए कर्म का निमित्त बताया गया है।

लोकमान्य तिलक के अनुसार, ''मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए करता है सब कर्मों के दो वर्ग हो गए, एक यज्ञार्थ कर्म जो स्वतंत्र रीति से फल नहीं देते, अत एव अबंधक हैं, और दूसरे पुरुषार्थ कर्म जो पुरुष को लाभकारी होने के कारण बंधक हैं''- गीता रहस्य।

श्रीअरविंद ने 'गीता विज्ञान' में कहा है - ''संपूर्ण जीवन, संपूर्ण विश्व प्रकृति का पुरुष को अर्पण किया जाने वाला यज्ञ है। जब तक हम अहंकार के अधीन हैं, तब तक हम अहंकार की तृप्ति के लिए और अहंकार की भावना में, यज्ञार्थ से भिन्न प्रकार कर्म करते हैं। अहंकार ही बंधन की ग्रंथि है।''

यज्ञ का एक अर्थ त्याग भी है। त्याग मम भाव का किया जाता है। यह भाव अविद्या के कारण उत्पन्न होकर अनात्म तत्वों में आत्म भाव आरोपित करता है। यह आरोपण ही अहंकार की ग्रंथि है, जो बंधन का कारण है।

सामान्य रूप से त्याग किसी वस्तु से संबंधित मान लिया जाता है। वस्तु का त्याग, त्याग का एक स्थूल प्रतीक मात्र है। वस्तु या पद के साथ अथवा इनके बिना भी यदि अनात्म तत्वों जैसे तीन गुणों और इनकी क्रियाशीलता में से आत्म भाव का त्याग कर दिया जाए तो मिथ्या ज्ञान के कारण उत्पन्न यह आरोपण की ग्रंथि भी कट जाती है और इस मनोभूमि में किया गया कर्म बंधन का कारण नहीं बनता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (3/10)

अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो।

परमात्मा का क्रियात्मक स्वरूप यज्ञ प्रक्रिया के रूप में मिलता है। वह यज्ञ में स्वयं प्रतिष्ठित होकर वैश्विक क्रियाओं का संचालन करने वाले हैं। पारिस्थिति की तंत्र के परस्पर सहयोग की प्रवृत्ति यज्ञ की उपरोक्त प्रक्रिया की स्थूल अभिव्यक्ति ही है।

देवान्भावयतानेन ते देवाभावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (3/11)

''अर्थात् तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।'' इसके अनुसार यज्ञ के द्वारा देवताओं और मनुष्यों (प्रजाओं) के मध्य आदान-प्रदान से दोनों का विकास (वृद्धि) होता रहे और परस्पर पोषण के साथ परम कल्याण को प्राप्त करना

भी इसी से संभव है, ऐसा बताया गया है।

श्री अरविंद के अनुसार, ''गीता यज्ञ की प्राचीन आर्य विचार धारा के अनुसार यज्ञ का प्रतिपादन करती है और उसे देवताओं और मनुष्यों के बीच में आदान-प्रदान मानती है।''

श्रीमद्भगवद्गीता (3/12) के अनुसार, ''यज्ञ के द्वारा बनाए हुए देवता तुम लोगों को बिना मांगे ही इच्छित भोग (कर्तव्य-पालन की आवश्यक सामग्री) निश्चय ही देते रहेंगे'', इस प्रकार देवताओं के द्वारा दिए हुए लोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है वह चोर ही है।

उपरोक्त श्लोक में भोग प्राप्त होने के विषय में कहा गया है। यानि यज्ञार्थ कर्म करने से कर्म बंधन से मुक्त होने के साथ ही भोग भी प्राप्त होते रहे हैं। प्राप्त हुए भोग का उपभोग व उपयोग कैसे करना है इसमें भी यज्ञ का सिद्धांत समावेशित है। भोगों में से देवताओं को पुन: अर्पित करना यानि नि:स्वार्थ भाव से भोग का उपभोग करना बताया गया है। यह ईशावास्योपनिषद के 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का समर्थन है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस:।

याज्ञयाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते।। (4/23)

अर्थात् जो मनुष्य आसक्ति से रहित हो गया है, मुक्त है, जिसके मन, हृदय और आत्मा आत्मज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठित हो गए हैं और जो यज्ञ के रूप में कर्म करता है उसका संपूर्ण कर्म विलीन हो जाता है।

यहां यज्ञ को ऐसे कर्म के रूप में स्थापित किया गया है, जिसमें कर्ता पहले अशुद्धि रूपी आसक्ति, जड़भाव वाले अज्ञान और बंधन के भाव से रहित हो गया हो। जब तक यह कार्य संपन्न नहीं हो जाता, उसके कर्म लोकबंधन के हेतु ही बनेंगे और तब वह यज्ञ करने वाला नहीं कहलाएगा। वहीं दूसरी ओर धर्म जगत में कहा जाता है और आज प्राय: यही प्रत्यक्ष दर्शन होता है कि मुक्ति का तात्पर्य, ज्ञानी हो जाने का तात्पर्य कार्य से विराम ले लेना है। कार्य से शून्य हो जाना है। कर्म को बंधन मान कर संन्यास की परिकल्पना की गई परंतु वह संन्यास यदि यज्ञ रूप कर्म से रहित हुआ तो पूर्णता की बजाय अन्ध सन्यास और बंधन का कारण ही बन जाएगा। अतएव यहां मुक्ति को लक्ष्य नहीं यज्ञार्थ कर्म करने की एक पात्रता के रूप में वर्णन किया गया है - 'मुक्तस्य' और यह मुक्त अवस्था कोई जड़भावापन्न दशा नहीं, ज्ञान युक्त अवस्था हैय 'ज्ञानावस्थित चेतस:' चित्त की सम्यक ज्ञान में प्रतिष्ठा भी है।

श्रीअरविंद ने कहा है - ''उसकी मुक्ति उसे लेशमात्र भी कर्म करने से नहीं रोकती। उसके कर्म मुक्त आत्मा से उद्भूत होते हैं और उसमें किसी प्रकार का भी विकार उत्पन्न किए बिना उन लहरों के समान विलीन हो जाते हैं जो कि अगाध चित्समुद्र के उत्तल पर उठती हैं और विलीन हो जाती हैं।''

अर्जुन नामक पात्र सांख्य योग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता को कृष्ण से सुनता है फिर दूसरी तरफ कृष्ण ही उसे कर्म करने को प्रेरित कर रहे हैं -'युद्धाय कृत निश्चय:' ऐसी दशा में संन्यास का भाव लिए अर्जुन द्वन्द्व में पड़ जाता है। ज्ञान योग जब श्रेष्ठ है तो कर्म करने की आवश्यकता क्या है? इस भीषण लौकिक कर्म में क्यों नियोजित होऊँ? मेरी शिथिलता को भगवान क्यों धिक्कारते हैं? इन द्वंद्वात्मक समस्याओं और उससे उपजे अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान से ही कर्म करने की तकनीक बताई गई, जिससे कर्म बंधन के कारण न बनें। ऐसा कर्म यज्ञ है। ज्ञानी यज्ञ के निमित्त कर्म करता है। ज्ञान योग से सम्यक दृष्टि प्राप्त होने के बाद किया जाने वाला कर्म संयत, सुनिश्चित और आसक्ति से रहित होगा। यज्ञ की यह शिक्षा कर्म के संबंध में हमारी समझ को व्यापक करने और इससे उसे विकसित करने के निमित्त कही गई है। यहां तक कि ज्ञान को भी यज्ञ के अंतर्गत ही समाहित कर ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता बताई गई है।

वास्तव में देवताओं की पुष्टि परहित के कार्य में लोक कल्याणकारी योजनाओं के संचालन से होती है। लोक हितार्थ जीवन को महापुरुषों ने सेवा यज्ञ कहा है, और इस हेतु अपनी बुद्धि, धन, प्रतिभा व अन्य क्षमताओं को नियोजित कर देना यज्ञ अनुष्ठान जैसा ही माना है।

यज्ञशिष्टाशिन: संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। (3/13)

अर्थात् यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिए ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।

(3/12) में कहा गया है ''उन देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।''

जो अकेले खाता है वह चोर, पापी है। ऋण ही पाप है। सहयोग के आधार पर प्राप्त भोग का उतना ही अंश ग्रहण योग्य है जितना हमारा पुरुषार्थ रहा। उससे ज्यादा ग्रहण करने की वृत्ति ऋण रूपी पाप से लिप्त कर देती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ के प्रकार :

साधक की शुद्धि के लिए गीता में यज्ञ के विभिन्न प्रकार बताए गए हैं। उन सबका स्वरूप साधक की पात्रता भेद से कुछ भी हो लेकिन उनका साध्य आत्म शुद्धि है। यज्ञ की एक व्यापक प्रणाली को बताते हुए (4/24) में कहा गया है, ''जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा ब्रह्म रूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्म कर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है।''

श्रीअरविंद ने कहा है – ''जिस विश्व शक्ति में कर्म की आहुति दी जाती है वह स्वयं भगवान हैं; आरती की उत्सर्ग की हुई शक्ति भगवान हैं; जिस वस्तु की आहुति दी जाती है वह भगवान का ही कोई रूप है, होता भी मनुष्य के अंदर स्वयं भगवान ही हैं; क्रिया, कर्म, यज्ञ सब गतिशील कर्मशील भगवान ही हैं; यज्ञ के द्वारा गंतव्य स्थान भी भगवान ही हैं।''

यज्ञ का यह एक आदर्श सिद्धांत है, जो वेदांत के सिद्धांत से मेल खाता है, और मनुष्य को परम तत्व अद्वैत तक ले जाने वाला है। उपलब्ध स्थूल अथवा सूक्ष्म शक्ति रूप साधनों, योग्यताओं को वर्तमान की चेतना से अगले स्तर की अधिक कुछ पवित्र एवं प्रखर चेतना की ओर आरोहण करने में लगाना (आहुति देना) या प्रयत्न की अग्नि में आहुति देना यज्ञ होगा, ऐसा हम समझ सकते हैं। अब चेतना के स्तर में भी विविधता होती है। इसी दृष्टि से यज्ञ कर्म संपादन की कई विधियों के होने से यज्ञ के विभिन्न प्रकार भी बताए गए हैं। यज्ञ के साधन विविध हैं, हव्य भी नानाविध हैं। गीता के चौथे अध्याय में पात्र भेद के अनुसार यज्ञ के 13 प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

निष्कर्षत: इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यज्ञ जहाँ एक ओर व्यवस्थित एवं आदर्श लक्ष्य के लिए किया जाता है वहीं दूसरी ओर यह आत्म शुद्धि की क्रिया है। यज्ञ एक व्यापक एवं सार्वभौमिक अवधारणा है। यह सृष्टि के आरंभ से शुरू होकर प्राणियों एवं प्रकृति की घटनाओं में आज भी व्याप्त है। इस यज्ञ प्रणाली के प्रति सजग होकर हम जीवन शैली को प्रकृति के साथ समग्र रूप से जीवन का विकास कर सकते हैं। हमारे कर्म, क्रिया से ऊपर उठकर समष्टि के हितों के साथ जुड़ें, इसके लिए हमें कर्म को योग बनाना की आवश्यकता है। जिससे हमारा कर्म, यज्ञ की अवधारणा को स्पर्श कर सके और मानवीय चेतना का विस्तार हो सके।

पीएचडी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. श्री अरविंद, गीता प्रबंध, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, चंद्रदीप श्री अरविंद ग्रंथमाला, पांडिचेरी, 1948
2. श्री अरविंद, गीता विज्ञान, 4 संस्करण, श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, 2007,
3. तिलक, बालगंगाधर, गीता रहस्य अथवा कर्म योग शास्त्र, 27वां संस्करण, तिलक मंदिर, पूना, संवत 1972 वि.,
4. श्रीमद्भगवद्गीता, 26वां मुद्रण, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत 2069
5. गांधी, महात्मा, हिन्दू धर्म क्या है, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2009
6. शर्मा, श्रीराम, भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा. 2013

शोध-पत्र

संप्रेषण की अवधारणात्मक समझ

विवेक विक्रम सिंह

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज में लोगों से संबंध स्थापित करने के लिए बातचीत का सहारा लेना पड़ता है। इसी बातचीत को संप्रेषण कहते हैं। संप्रेषण का अविर्भाव मानव के अविर्भाव के साथ ही हुआ है। संप्रेषण मानव समाज के साथ-साथ पशु-पक्षी में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। जीवों के लिए जिस प्रकार वायु आवश्यक है, मानव समाज के लिए संप्रेषण भी उसी प्रकार है। संप्रेषण के बिना मानव समाज की परिकल्पना असंभव सी प्रतीत होती है। संप्रेषण की प्रक्रिया काफी पुरानी है परंतु इसे एक अनुशासन के रूप में मान्यता काफी बाद में मिली।

संप्रेषण शब्द की व्युत्पत्ति संप्रेषण के योग से हुई है। आज संप्रेषण शब्द अंग्रेजी के कम्युनिकेशन (communication) के समानार्थी माना जाता है। communication शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के communis से हुई है। संप्रेषण सन्देश की वह प्रक्रिया है जिसमें संप्रेषक एवं श्रोता आपस में आचार, विचार, ज्ञान, अनुभवों तथा भावनाओं का कुछ संकेतों द्वारा आदान-प्रदान करते हैं। 'सुस्मिता बाला' एवं 'अम्बरीष सक्सेना' ने communis के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है - To share - आदान प्रदान करना, बाँटना (ज्ञान, परेशानी, संवेदना, खुशी आदि) केवल विचार ही नहीं भावनाएँ भी। To Impart - प्रदान करना, बताना, उदाहरण के लिए कक्षा में अध्यापक छात्र को सूचनाएँ प्रदान करता है। To Transmit - बताना, पहुँचाना, भेजना, संचारित, प्रसारित, प्रेषित करना। इस काम में उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। To make common - संचार में संदेश देकर और लेकर प्रक्रिया में शामिल लोगों का एक ही धरातल पर जाना।[1]

संप्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच तथ्यों, विचारों, भावनाओं और सूचना का मौखिक, लिखित, संकेत अथवा मुद्राओं के माध्यम से आदान-प्रदान की प्रक्रिया है। यह दो तरफा प्रक्रिया है। जिसमें एक अपने भाव या विचार अभिव्यक्त करता है और दूसरा उसको ग्रहण करता है। तत्पश्चात श्रोता अपना फीडबैक देकर संप्रेषण को पूर्ण करता है। बिना फीडबैक के संप्रेषण पूरा नहीं माना जा सकता। संप्रेषक को यदि श्रोता या संदेश ग्रहण कर रहे व्यक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पता हो तो उससे संप्रेषण की प्रभावशीलता बढ़ जाती है। आज के समय में माध्यम की उपयोगिता बढ़ गई है। विभिन्न प्रकार के माध्यमों का प्रयोग करके आज संप्रेषण आसान हो गया है और उसकी पहुँच में वृद्धि हुई हैं।

संप्रेषण के कई प्रकार आज समाज में प्रचलित है। संप्रेषण प्रक्रिया में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर अंतरा वैयक्तिक संचार (एकालाप), अंतर्वैयक्तिक संचार (संवाद), समूह संचार, जन संचार आदि है। भाषा के आधार पर शाब्दिक तथा अशाब्दिक संप्रेषण है। शाब्दिक के अंतर्गत मौखिक तथा लिखित संप्रेषण मुख्य है। औपचारिकता के आधार पर औपचारिक और अनौपचारिक संप्रेषण मुख्य है। अन्त: वैयक्तिक संप्रेषण में अपने आप से ही संवाद किया जाता है। इसमें प्रेषक और प्राप्तकर्ता एक ही व्यक्ति होता है। आमने-सामने या फोन आदि पर बातचीत के लिए मौखिक संप्रेषण का प्रयोग किया जाता है। लिखित संप्रेषण के लिए संदेश भेजने और प्राप्त करने

वाले के लिए पढ़ा-लिखा होना जरूरी है। जब शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी संकेत आदि के माध्यम से संप्रेषण किया जाता है तो उसे अभाषिक संप्रेषण कहते हैं। स्थिति परिस्थिति के अनुसार औपचारिक तथा अनौपचारिक संप्रेषण का प्रयोग किया जाता है। जरूरत के अनुसार संप्रेषण के प्रकार प्रयोग में लाए जाते हैं क्योंकि इन्हीं पर किसी व्यक्ति या संस्था की सफलता निर्भर करती है।

मानव जो कुछ भी देखता, सुनता है उसे अन्य लोगों से अभिव्यक्त करना चाहता है। साथ ही वह अन्य की बातों को जानना भी चाहता है। किसी घटना को परखना और उसका वर्णन करना मानव मन की एक सहज प्रवृत्ति है। ठीक उसी प्रकार समाज में एक दूसरे के बारे में जानने की प्रबल इच्छाशक्ति ने संप्रेषण को विकसित किया। विचारों, भावनाओं तथा सूचनाओं को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित करने की कला ही संप्रेषण है। इस तरह संप्रेषण का सामान्य अभिप्राय: व्यक्तियों का आपस में आचार, विचार, ज्ञान तथा भावनाओं का कुछ संकेतों द्वारा आदान-प्रदान है। डा. मंजु मुकुल के अनुसार - भाषा का प्रयोजन संप्रेषण है और भाषा की ही भांति प्रयोजन की प्रकृति भी बहुस्तरीय है। संप्रेषण केवल एक सामाजिक प्रक्रिया ही नहीं चिंतन व बोध का आधार भी है। भाषिक संरचना की निर्मिति संप्रेषण की संभावना और चुनौतियों के समानांतर होती है।[2]

संप्रेषण का क्षेत्र व्यापक है। इसमें सूचनाओं और विचारों दोनों का आदान-प्रदान सम्मिलित है। इसमें एक व्यक्ति अपने विचारों से दूसरे पक्ष को अवगत कराता है। उनसे विचार-विमर्श करता है। व्यावसायिक क्षेत्र में एक अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को अनेक सुझाव एवं निर्देश देता है। कर्मचारी भी अपनी समस्याएँ, अपने सुझाव अधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार का क्रम निरंतर चलता रहता है। संप्रेषण का दायरा आज बहुत बढ़ चुका है। तकनीकी विकास ने सूचना क्रांति को जन्म दिया है, जिसने संप्रेषण के दायरे को विस्तार दिया है। डा. मंजु मुकुल के अनुसार - communication आज एक बहुप्रचलित और बहुप्रयुक्त शब्द है। 'संचार' और 'संप्रेषण' इसके समानांतर चलने वाले शब्द हैं। इन शब्दों के भीतर इतने अधिक अर्थ समाहित है कि पृष्ठभूमि की जानकारी के बिना इनका कोई एक अर्थ देना बहुत कठिन होगा। वैज्ञानिक और तकनीकी संदर्भ से यदि बात की जाए तो इसे 'Information Theory' के साथ भी जोड़ा जा सकता है, जो इंसान के मशीन के साथ संवाद का परिणाम है। यहाँ मशीनों का आपसी संवाद भी अस्तित्व में है। किंतु भाषा और संप्रेषण से जुड़े सवालों पर बात करते हुए 'तकनीकी कम्यूनिकेशन' से इतर व्यक्ति या व्यक्तियों के आपसी संपर्क और उसकी सार्थकता पर विशेष बल दिया जाता है।[3]

सूचना एवं तकनीक के क्षेत्र में संप्रेषण एक तकनीकी शब्द है, जिसका अर्थ है - किसी सूचना या जानकारी को दूसरों तक पहुँचाना, जो भाव या विचार से आगे बढ़कर सूचना तक पँहुच चुका है। संप्रेषण के द्वारा व्यक्ति के संबंध और अधिक विकसित होते हैं। आज के समय में जिसका संप्रेषण कौशल बेहतर होगा वह अन्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होगा। जिसकी संप्रेषणीयता अच्छी होगी वह आज सूचना क्रांति के युग में अधिक शक्तिशाली एवं सफल होगा। डा. मंजु मुकुल के अनुसार - संप्रेषण एक शक्ति है जो समाज की जड़ों को पोषित करती है। संप्रेषण का नेटवर्क ही पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सांप्रदायिक, भाषिक, वैश्विक आदि संबंधों की नींव रखता है। भाषा की उत्पत्ति से लेकर आज तक संप्रेषण ने मानव के विकास के अनेक युग देखे हैं। आज का युग संप्रेषण की दृष्टि से विशिष्ट है, क्योंकि यह 'सूचना क्रांति' का युग है, जहाँ अपनी बात को आजादी से कहना मनुष्य का अधिकार है। संप्रेषण वक्ता और श्रोता की व्यक्तिगत और सामूहिक सीमाओं से आगे निकलकर विश्व स्तर तक पहुँच गया है। बाजारी उपनिवेशवाद का हिस्सा बन गया है।[4]

संप्रेषण मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। इस आवश्यकता को देखते हुए विभिन्न समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों ने संप्रेषण को समझाने का प्रयास किया है। संप्रेषण को एक अलग अनुशासन के रूप में माना जाने लगा है और संप्रेषण के क्षेत्र में नित नए शोध हो रहे हैं जो संप्रेषण के विविध पहलुओं को सामने ला रहे हैं। इस विषय में डा. देवेन्द्र इस्सर ने सिरेनो मोर्टसेन के हवाले से लिखा है - हाल के वर्षो में गवेषणा-कार्य की गति संप्रेषण-क्षेत्र के विशिष्ट प्रकरण और उसे अधिक स्पष्ट करने की दिशा में बहुत धीमी रही है। हाल की एक समीक्षा के अनुसार प्रचलित गवेषणा साहित्य में संप्रेषण शब्द की 25 विभिन्न संकल्पनाओं का प्रयोग देखा गया है।

अनुसंधानकर्ताओं को अभी संप्रेषण की पूर्णत: स्वीकार्य व्याख्या स्थापित करनी है। वे इस पर भी सहमत नहीं हैं कि मानव-संप्रेषण प्रक्रिया में कौन-सी बात सामान्य है। संप्रेषण-प्रक्रिया के 50 से अधिक विभिन्न विवरण प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार की संकल्पना संबंधी समस्याएँ एक सामान्य माडल तैयार करने की दिशा में किये गये अनेक प्रयासों को सीमित कर देती है। सन 1949 में शेनान और वीवर द्वारा संप्रेषण का एक गणितीय माडल प्रकाशित किये जाने के बाद संप्रेषण साहित्य में 15 से भी अधिक माडलों का विवरण जुड़ गया है।[5]

संप्रेषण हमारे जीवन में इतना सहज हो चुका है कि हमें इसके विकास प्रक्रिया का अंदाजा नहीं होता। आज जिस तरह सहज रूप से हम संप्रेषण के विविध रूपों का प्रयोग करते हैं, सदैव इस स्थिति में नहीं थे। निरंतर विकास क्रम में इस स्थिति तक पहुँचे हैं। डा. मंजु मुकुल के अनुसार – भाषा और उससे जुड़ी संप्रेषण की प्रक्रिया मनुष्य के जीवन और व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन चुकी है किंतु मनुष्य के लिए जितना स्वाभाविक इन दोनों का प्रयोग है, उतनी ही सहज इसकी व्याख्या नहीं होगी। चूँकि इस व्याख्या के भीतर से सदियों पुराना मानव-जाति का विकास इतिहास झलकने लगेगा और इस विकास-इतिहास को आँकने और टटोलने से जुड़ी अनेक विचारधाराएँ प्रतिबिम्बित होने लगेंगी। मानव सभ्यता और संस्कृति की इमारत भाषा और संप्रेषण की नींव पर ही खड़ी है।[6]

अपने भाव या विचार की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य संप्रेषण करता है। जब लोगों के बीच संप्रेषण बढ़ जाता है तो वह समाज का रूप ले लेता है। दो लोग जब आपस में संप्रेषण करते हैं तो उनका कोई न कोई उद्देश्य होता है। चाहे वह बेहद निजी ही क्यों न हो। इसी संप्रेषण के क्रम में संप्रेषण का विकास भी होता है। डा. मंजु मुकुल के अनुसार – संप्रेषण वस्तुत: एक मन का दूसरे मन से मिलन है, एक विचार का दूसरे विचार से टकराव है। व्यक्ति, व्यक्तियों और समाज के बीच संप्रेषण, ऐसा संबंध निर्मित करता है, जिसके इर्द-गिर्द समाज का ढाँचा खड़ा होता है। व्यक्ति या व्यक्ति-समूह किसी मंशा या उद्देश्य से संप्रेषण-सूत्र में बंधते हैं। यह मंशा या उद्देश्य संप्रेषण-संबंध को भी प्रभावित करते हैं, साथ ही संप्रेषण-प्रक्रिया को भी परिचालित करते हैं।[7]

व्यक्ति किसी भी तरह आदान-प्रदान के लिए संप्रेषण का सहारा लेते हैं। ज्यादातर हम संप्रेषण तभी करते हैं जब कुछ चीजें हमें प्रभावित करती हैं और उस पर बातचीत करना चाहते हैं। संप्रेषण करते समय हम बहुत से प्रतीक चिन्हों का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ पहले से पता होता है। इससे संप्रेषण आसानी से हो जाता है। चार्ल्स ई. आसगुड के अनुसार – In the most general sence we have communication whenever one system a source influence, another the destination by manipulation of alternative, signals which can be transmitted over the channels connecting them.[8] अर्थात् आम तौर पर संचार तब होता है जब कोई ढांचा या स्रोत किसी अन्य को प्रभावित करे, कुशलतापूर्वक विभिन्न संकेतों का प्रयोग करके उन साधनों के द्वारा जो उन्हें जोड़ते हो।

संप्रेषण में सूचनाओं एवं विचारों का आदान-प्रदान प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में होता है। संप्रेषण प्रक्रिया का प्रारंभ संप्रेषक एवं ग्रहीता के मध्य संदेशों के आदान-प्रदान से होता है। संप्रेषक का उद्देश्य संदेश प्रेषण के द्वारा श्रोता के विचार, व्यवहार, तौर-तरीकों को परिवर्तित एवं परिवर्धित करना होता है। संप्रेषण की प्रक्रिया, प्रतिपुष्टि के रूप में जानी जाती है। संदेश (सूचना) का संप्रेषण मात्र ही संप्रेषण नहीं है वरन इस पर एक प्रभावी प्रतिक्रिया का होना भी है। कोई भी संप्रेषण तभी सार्थक होगा जब उसमें प्रतिपुष्टि भी हो। आज के समय में क्या कहा जा रहा है उससे भी ज्यादा महत्व क्या समझा जा रहा है, उसको दिया जाता है। यानि कहने के अलावा सुनने और समझने की महत्ता बढ़ी है। संप्रेषण में श्रोता की स्थिति पहले की अपेक्षा मजबूत हुई है। डा. मंजु मुकुल के अनुसार – भाषा और संप्रेषण पर जब हम विचार करना प्रारंभ करते हैं तो महत्वपूर्ण केवल यह नहीं है कि क्या 'कहा' जा रहा है, महत्वपूर्ण है कि क्या 'सुना' और फिर 'समझा' जा रहा है। मनुष्य के पास सबसे कारगर 'औजार' और सबसे ताकतवर 'हथियार' शब्द ही हैं जिसका चमत्कार सिर चढ़कर बोलता है। जिसकी उर्जा 'आंदोलन' पैदा कर सकती है और जिसका मरहम तनाव कम कर सकता है। समस्या यह है हम 'शब्दों' की ताकत को बहुत कम आँकते हैं।[9]

संप्रेषण प्रणाली मानव एवं मानव समाज का आधार है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ संप्रेषण के अनेकानेक रूप भी विकसित हो रहे हैं। आज राष्ट्रीय एवं

अंतर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से सूचना एवं संप्रेषण का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। सूचना संप्रेषण के इतने माध्यम उपलब्ध है कि हम घर बैठे ही दूर-दराज स्थित लोगों से बातचीत कर लेते हैं। डा. मंजु मुकुल के अनुसार - कुल मिलाकर 'संप्रेषण' केवल सूचनाओं, भावों और विचारों का आदान-प्रदान ही नहीं है बल्कि मनुष्य के मस्तिष्क की कार्यप्रणाली का महत्वपूर्ण हिस्सा है, सामाजिक प्रक्रिया का ताकतवर आधार है। आज हम जिस दुनिया में संचरण कर रहे हैं वह संप्रेषण-प्रक्रिया के अगले चरण अर्थात् 'संचार' के नेटवर्क से परिचालित है। तकनीक की दुनिया में आने वाला नित नया परिवर्तन संचार की दुनिया में हमें एक कदम आगे बढ़ा देता है। जहाँ व्यवहार और व्यवसाय तो चाहे दो अलग चीज हों, लेकिन व्यावहारिकता और व्यावसायिकता जुड़ने लगती है। यह जुड़ाव जटिलता की ओर बढ़ जाता है।[10]

इस प्रकार कह सकते हैं कि सूचनाओं, विचारों और भावनाओं को लिखित, मौखिक या ख्रश्य-श्रव्य माध्यमों के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक जगह से दूसरी जगह तक सफलतापूर्वक पंहुचाना ही संप्रेषण है। यह दो तरफा प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति अपने आप से संप्रेषण नहीं करता। इसके लिए कम से कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। एक संदेश भेजने वाला तथा दूसरा संदेश प्राप्त करने वाला। कुछ लोग अन्त: वैयक्तिक संप्रेषण को भी संप्रेषण का एक प्रकार मानते हैं। इसमें प्रेषक और प्राप्तकर्ता एक ही व्यक्ति होता है। वास्तव में यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। संप्रेषण केवल संदेश भेजने से ही पूर्ण नहीं होता। यह तभी पूर्ण होता है जब संदेश प्राप्तकर्ता भेजने वाले के अर्थ को समझे तथा अपनी प्रतिक्रिया भेजकर उसे अपने विचारों से अवगत कराए। संप्रेषण में संदेशों के आदान-प्रदान के लिए विविध आयामों का सहारा लिया जाता है। जैसे-मौखिक, लिखित, सांकेतिक, औपचारिक, अनौपचारिक आदि। आधुनिक युग में संप्रेषण के समस्त प्रकार प्रयोग में लाए जाते हैं क्योंकि इन्हीं पर किसी व्यक्ति या संस्था की सफलता निर्भर करती है। संप्रेषण में संप्रेषक को श्रोता के सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार का ज्ञान होना चाहिए। जिससे संप्रेषण प्रभावशाली होगा। वास्तव में वही संप्रेषण सार्थक या सफल होता है, जो एक दूसरे के बीच तादात्म्य स्थापित कर पाने में सक्षम होता है।

शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email- vivekvikramsingh2012@gmail.com

संदर्भ सूची

1. सुस्मिता बाला एवं अम्बरीष सक्सेना, समकालीन संचार सिद्धांत, डी.पी.एस. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2. डा. मंजु मुकुल, संप्रेषण : चिंतन और दक्षता, शिवालिक प्रकाशन, 27/16, शक्तिनगर, दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण : 2007, पृ. 15
3. वही, पृ. 18
4. वही, पृ. 17-18
5. देवेंद्र इस्सर, जनमाध्यम : संप्रेषण और विकास, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1989
6. डा. मंजु मुकुल, संप्रेषण : चिंतन और दक्षता, शिवालिक प्रकाशन, 27/16, शक्तिनगर, दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण : 2007, पृ. 18
7. वही, पृ. 21
8. डा. श्रीकांत सिंह, मानव संचार शास्त्र, प्रिया पुस्तक सदन, दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 81-82
9. डा. मंजु मुकुल, संप्रेषण : चिंतन और दक्षता, शिवालिक प्रकाशन, 27/16, शक्तिनगर, दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण : 2007, पृ. 25
10. वही, पृ. 26

आधुनिक परिवेश में बदलते हुए संस्कार गीत

कुमारी अनीता

समय गतिशील है और प्रकृति परिवर्तनशील। इस गतिशीलता के अनुसार समाज की मनोवृत्तियाँ और प्राचीन मान्यताएं भी बदलती रहती हैं। यही कारण है कि मनुष्य का चिन्तन भी परिवर्तन होकर अपने नूतन कलेवर में नवीन उद्‌भावनाओं से युक्त नवीन विचारधाराएं समाज को सौंपता है।

दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृति की परिवर्तनशीलता के अनुसार मानव-चेतना का साम्राज्य बदलकर नई काव्यधारा के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत होता रहा है। भारतीय काव्यधारा का प्राचीनतम रूप वैदिक छन्दों में प्रारम्भ हुआ। इसमें प्राकृतिक शक्तियों में देवस्वरूप की कल्पना की गई।

ऋषियों नें अग्नि, मारुत सूर्य और उषा आदि के साथ-साथ विभिन्न प्राकृतिक रूपों को वन्दनीय मानकर उनकी उपासना तक सीमित रहे। कालचक्र के अनुसार वैदिक छंद के स्थान पर भाव प्रधान कविता का युग आया। काव्य की इस काव्यधारा को भारवि के इस कलात्मक चिन्तन ने प्रभावित किया, आगे चलकर काव्य एक मिश्रित योजना के रूप में दृष्टिगोचर होता है जिसमें भाव कला और पद लालित्य सब कुछ था। इस तरह भाव प्रधान नैसर्गिक काव्य पद्धति कलात्मक स्वरूप धारण करती हुई शब्दार्थ युगल से परिपूरित, पदलालित्य से संचालित अपने अत्यंत मंजुल रूप से निखर गई।

सामाजिक चिंतन का स्वरूप परिवर्तित हुआ और आदिकाल का प्रादुर्भाव हुआ। अभी आल्हा-उदल की वीरता, कभी विरुदावली सुनाई ही दी तब तक सामाजिक चिन्तन में चर्क्वातीय परिवर्तन हुआ और काव्य में भक्ति का भाव प्रमुदित भाव से प्रकाशित होने लगे। भक्ति के विस्तृत आयाम को सौंदर्य और विलासिता ने प्रभावित किया और काव्य पटल पर रीति कालीन काव्य का सृजन होने लगा।

इसी तरह सामाजिक चिन्तन धारा ने काव्य के अनेक रूपों को सृजित किया और इसके फलस्वरूप छायावाद, प्रयोगवाद तथा इनके साथ-साथ अनेक वाद आते रहें। कहने का तात्पर्य यह है कि समय के साथ-साथ चिन्तन शक्ति काव्य के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग होने लगते हैं। प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद ने प्रकृति की परिवर्तन शीलता को स्वीकार तथा उसके काव्यमय भाषा का स्वरूप दिया

कामायनी के श्रद्धा सर्ग में ...-!
पुरातनता का यह निर्भीक
सहन करती न प्रकृति पल एक
नित्य नूतनता का आनन्द
किये हैं परिवर्तन में टेक।

प्रकृति का श्रृंगार नित्य नूतन सद्यः कुसुमो से होना जब स्वाभाविक धर्म है तब भोजपुरी के लोकगीतों के अंतरवर्ती संस्कार गीतों में नवीन उद्‌भावनाओं के साथ परिवर्तन कैसे सम्भव नहीं है?

भोजपुरी लोकगीतों के साथ-साथ भोजपुरी के संस्कार गीत भी सामाजिक-मस्तिष्क को नवीनतम प्रवृत्तियों के साथ अपना कलेवर परिवर्तित करते रहे हैं। संस्कार गीतों की प्रारम्भिक अवस्था प्रेम, करुणा, दया, ममता और भक्ति से ओत-प्रोत थी।

ध्यातव्य विषय यह है कि प्राचीन गीतों में राम और

कृष्ण के समान पुत्रों की कामना की जाती थी, किन्तु अब समाज को देशभक्त बालक और लक्छमी के समान सभी सम्पतियों को सम्भालने वाली कन्या की आवश्यकता थी।

इसी तरह विवाह के गीतों में भी राम के समान दुल्हा की मनोकामना के स्थान पर देशभक्त जमाता की पुकार होने लगी। पत्नी की हार्दिक अभिलाषा है – उसका जामाता देश की कराहती हुई अवस्था को देखकर द्रवित होने वाला चाहिये–[2]

''ऐसन बर बाबा खोजहु सुदेशिया हो,
जो हो निपुण गुणवान जी।
देसवा के दुःख देखि जियरा पसीजे हो,
हरदम देस के धियांन जी।
अईसन बर लागी धियवा बिआह्बो हो,
एही जियवा के हमर चाह जी।।''

इसी तरह अब समाज में बाल विवाह का विरोध हो रहा है। बाल विवाह की त्रुटियों का अवलोकन करने के उपरांत सामाजिक–मस्तिष्क ने उसका निषेध करना प्रारम्भ किया और संस्कार गीतों ने उसका अपने स्वर में विरोध करना शुरू कर दिया। एक विवाह गीत में कन्या अपने पिता से अपना मनतव्य दे रही है कि पिताजी विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। कन्या की वयस्कता के अनुसार वर का अन्वेषण करना चाहिए। वह शिक्षित होने के साथ–साथ अनेक गुणों से सुशोभित हो। भूलकर भी आप बाल–विवाह मत करे। इस सामाजिक–भावना को अभिव्यक्ति देने वाली संस्कार गीत की पंक्तियों का अवलोकन किया गया है–[3]

''बाल विवाह जनि करू मोरे बाबा,
बाल विवाह दुःख के खान हो।
बैलवा से बछिया ना जोरहु बाबा हो,
मानहु विनती हमार हो।
बचिया के करहु विआह्वा ना बाबा हो,
नाही विआह हंसी खेल हो।
ये ही रे विआहवा पर देखि लेहु बाबा हो,
दुनिया के लादल भार हो।
जब होइये बेटी सेयान मोरे बाबा हो,
खोजी सेयान बर विवाह हो।
धरम करम अवरु सेवा सत्कार वाहो
देसवा के जाने बेवहार हो।
पढ़ी लिखी, गुण ढंग सीखी लेहु बाबा हो,
तब करू बेटी के विवाह हो
बाल विआह्वा से देस नास भैले
डगमग डोल तिया नाव हो।।

साहित्य तो समाज का दर्पण होता है। अतः सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित होकर उसकी प्रवृत्तियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फलतः संस्कार के गीतों में आन्दोलन की चिंगारी चमकने लगी। यहाँ भी राष्ट्रीय भावों के स्वर में स्वर मिलाकर गीतों का सृजन प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजी राज्य द्वारा संचालित दमन चक्र (रोल्ट एक्ट) का हमारे गीतों में घर–घर में विरोध किया, विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गयी और स्वदेशी–वस्त्र धारण करने का आन्दोलन चलाया गया। इस समय साहित्य का प्रत्येक क्षेत्र आंदोलित हो गया – तभी तो भारतेंदु जी ने लिखा –

''रहे देश की नाक स्वदेशी कपड़ा पहने।'' मनोरंजन बाबु ने फिरंगियों का दमन भोजपुरी के राष्ट्रगीत में सुनाना प्रारम्भ किया–[4]

''आजो पंजाब के करी के सुरतिया
से फाटेला करेजवा हमार रे फिरंगिया।
भारत के छाती पर भारत के बचपन के
बहल रक तवा के धार रे फिरंगिया।।''

विश्व के विज्ञान ने अपने नूतन आविष्कार से चकाचौंध मचा दिया। पारसी थियेटर कम्पनियों आने लगी। गीत बनाने वाले और गाने वालों में अधिकांश संख्या पुरुषों की हो गयी। इसके परिणामस्वरूप गीतों की सुकुमारता और प्रेम विह्वलता धीरे–धीरे विलुप्त होने लगी। कम्पनियों की विचारधारा से बड़े–बड़े साहित्यकार भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। लोकगीत की इस गंगा में भारतेंदु जी ने भी आवाहन किया था और उनके गीत में भी स्त्री अपने पति से नदी तट पर बंगला बनाने की बात कहने लगी। उसकी बदलती हुई विचारधारा का एक रूप–[5]

सीखाय नाही देत्यों, मढ़ाय नाहीं देत्यो
सैया फिरंगीन बनाय नाही देत्यो
कोठवा अटरिया मोहि नीको न लागै
नदिया पर बंगला छवाय नहीं देत्यो।।

हिंदी में छायावादी विचारवादी की प्रवृत्तियाँ प्रबल रूप धारण कर चुकी थीं। इसका सम्बन्ध लोक जीवन से विछिन्न हो गया था, किन्तु चलचित्र का प्रचार–प्रसार बढ़ने पर उसने ग्राम्य जगत के लोक गीतों को अपने धुनों और लयों से प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। अब गीतों में गम्भीर

–भावों की स्वल्पता होने लगी। भाषा ने भी रूप बदल दिया। वह न हिंदी थी और न ही भोजपुरी

– कन्या दान के एक गीत को देखकर हम सत्यता का अनुमान शीघ्र लगा सकते हैं :–

–फिल्मी धुन और खिचड़ी भाषा :–[6]

– छुटा घरद्वार अम्मा का यही अफसोस भारी है।
धड़ाधड़ दिल धड़कता है, जिगर में बेवफाई है।
खता मुझसे हुई अम्मा, उसे माफ कर देना,
जरा जल्दी बुला लेना यहीं विनती हमारी है।

इसी प्रसंग की एक प्राचीन पारम्परिक गीत को भी देखा जाये ओर पुनः दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये। स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जायेगा कि हम कहाँ से चले थे और कहाँ चले गये।

विवाह प्रसंग का यह गीत कितना मर्मस्पर्शी हैं :[7]

जहिया से बाबा मोरे लगन सोचवले,
बाबा आँखी निनियो ना होइए।
दिनवा हरेले बाबा भुखिया पिअसिया,
राति हरेले आँखी नीं न ए।
अतना दुलार हम कईलो ए बेटी,
से बेटी पर घर जाय रे।
जो हम जनितो में धियवा जनमिहे,
पियतो में मरीच झरार ए।
मरीच के झारे झुरे धिया मरिजाते,
छुटी जेइती गरुआ संताप ए।
जनबे जे कैली बाबा धिया हो परिहे,
काहे लागी कैली दुलार ए।
बहिया धर बाबा कुइआन भसिअ इती,
छूटी जिहो जैतो गरुआ संताप ए।
बंहिया धरत बेटी छतिया जे फाटले,
कुइया भसी एलो ना जाय ए।।

उपर्युक्त दोनों गीतों में मौलिक अंतर है। प्रथम गीत में ममता और प्रेम का अभाव है किन्तु दूसरे गीत में बेटी के प्रति माता–पिता का हार्दिक प्यार प्रकट हो रहा है।

प्राचीन और नवीन गीतों में इस प्रकार के अंतर स्पष्ट दिखाई देते हैं।

कन्या निरीक्षण के समय का एक आधुनिक गीत भी अपनी नूतन सभ्यता संस्कृति के साथ कितना शुष्क मनोभाव लेकर व्यस्त होता है। एक गीत से सखियों का यह गीत केवल गीत है इसमें संस्कार के भाव का अभाव है :[8]

''सम्भल कर बैठ जा बेटी भसुर तशरीफ लाते हैं।
भसुर का चाँद सा मुखड़ा अधिक सुंदर लखाते हैं।
भसुर के कान का कुंडल अधिक मोती जडाऊ है।
चमकता है अजब माड़ो भसुर जी तेरे आये हैं।

संस्कार गीतों में परिवर्तन दो प्रकार के दिखाई पड़ते हैं, एक भावात्मक और दूसरा लयात्मकता। दोनों प्रकार के परिवर्तन सामाजिक परिस्थिति की देन है। इस संस्कार गीत से ज्ञात होता है कि वर पक्ष से कन्या–पक्ष पर आक्रमण होता है। कन्या का भाई युद्ध में वर के द्वारा परास्त कर दिया जाता है। वह अपनी बहन को देकर संधि कर लेता है, किन्तु उसके घर आने पर बहन पूछती है कि भईया ऐसा कौन–सा कारण है कि आपने युद्ध भूमि में अपनी तलवार, सारी सम्पति और अपनी प्राण वल्लभा को दाँव पर नहीं रखा तथा मुझे देकर संधि कर ली? उसका भाई कहता है कि तलवार गृह की सम्पति और मेरी पत्नी तो अपने हैं किन्तु तुम पराये घर की सम्पदा हो इसलिए युद्ध में मैंने तुझे देना ही उचित समझा।

गीत ने कन्या के प्रति एक अत्यंत तुच्छ भावना का प्रदर्शन किया है –गीत की पंक्तियाँ निम्नलिखित रूप में आवलोकनीय हैं[9]

''आरे आरे भईया कवन भैया,
मति राउरे भूलि गई ले।
आरे भईया हरित तू ढाल तरुअरिया,
बहिनिया कहि हारी आइल। हो
आरे आरे बहिनी कवन बहिनी,
मति मोरा नाही भुलले हो।
आरे बहिनी, गैया भैसीया मोरे लछिमी,
त तू हूँ पराया धनवा हो।।''

प्रस्तुत गीत भाइयों की बहनों के प्रति कुटिल मानसिकता प्रदर्शित करती है। सामाजिक व्यवहार की सच्चाई प्रदर्शित करने के लिए यह गीत सदा सर्वदा नवीन है।

परिवर्तन तो प्रकृति का शाश्वत नियम है। कभी–कभी परिवर्तन की दिशा समृद्ध और उन्नति की ओर अग्रसरित होती है और कभी–कभी अवन्ती की ओर। दुर्भाग्यवश संस्कार के गीतों में जो परिवर्तन हुए उससे गीतों की अधोगति की सूचना मिलती है। उदाहरणार्थ इस गीत को देखकर स्पष्ट रूप से विषय प्रकाशित होता है :–

एक और प्राचीन गीत की स्वाभाविकता देखी जा

सकती है :-[10]

''निकल गर्भ इतिनी गोतिन, परिच्छ दमाद हे।
रैनी के मातल दूल्हा, अंगना में ठाढ़ हे।
कैसे में परिछो गोतिन, तोहरो दामाद हे।
टूटी त जिहे गोतिनी, गजमोती हार हे।''
......आदि आदि।

स्त्रियाँ जब स्वतंत्र होकर अधिक अशिष्टता प्रदर्शित करती हैं, किन्तु विवाह का प्रफुल्लित वातावरण में सब कुछ समाहित हो जाता है। नमूने के रूप में देखा जा सकता है :-[11]

जईसन कुकुरा के पोछ, ओईसन भसुरा के मोछ।
सुनी बाम्हन हे, बाम्हन हाली हाली गोत्र उचारी।
धिया मोरी बार अलप सुकुवारी,
पसीना बन भिन्गेला साडी।
जईसन गाडी में के चक्का, ओइसं भसुरा उचक्का।
......आदि।

कुछ लोगों का मत है कि विवाह की इन गालियों को असभ्यता और अभद्रता से नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि इनका उद्देश्य परिहास मात्र है। बात की सच्चाई में कोई कमी नहीं है किन्तु समाज का मानसिक धरातल तो ज्ञात हो ही जाता है।

भोजपुरी के संस्कार-गीतों में भाषा, भाव और लय में परिवर्तन का एक और अवसर तब आया जब इस क्षेत्र में शिक्षा का प्रचार प्रसार हुआ। खड़ी बोली हिंदी ने बोलचाल की भाषा को अत्यधिक प्रभावित किया है। भोजपुरी क्षेत्र में भी शिक्षित स्त्री पुरुषों ने बहुत जगहों में हिंदी को अपने व्यवहार में अधिक प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। ग्रामीण क्षेत्र में इसी परिस्थिति में एक नवीन भाषा का उदय होने लगा जो हिंदी और भोजपुरी के मिश्रण के रूप में विकसित हुई।

उदाहरण के रूप में तिलकोत्सव में एक गीत गाया जाता है

''जरा लाईट दिखा दो मैं तिलक देखूंगी।''

इस नगरी-सभ्यता से प्रभावित गीतों का सौंदर्य तिरोहित होता जा रहा है। इन नगर गीतों में फिल्मी धुन की प्रधानता है। अधुनातन गीतों में फिल्मी लय से प्रभावित चित्र देखकर विषय स्पष्ट हो जाता है। इसने गीतों की भाषा और भाव दोनों को प्रभावित किया है। इससे ग्राम की मौलिकता समाप्त होती जा रही है। उदाहरण के रूप में एक गीत दर्शनीय है :-[12]

मन डोले, मेरा तन डोले, मेरा नोसा हुआ निहाल रे,
बन्नी मिली है सावरिया।
दिल्ली शहर से बन्दा आया, बन्दा हीरा लाल,
अम्मा जी उनको परछन लागी, बन्दा खड़ा मुसकाय
सखी री बन्दा खड़ा मुसकाय
मन डोले ....।

एक बात विशेष ध्यान देने की बात है कि पारम्परिक गीतों में सोहर, मुंडन, जनेऊ और विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को भिन्न-भिन्न स्वरों और लयों में गाया जाता था। उसमें आरोह और अवरोह के स्वरूप भिन्न होते हैं। इस विशिष्ट के आधार पर दूर से सुनकर यह समझा जा सकता था कि अमुक गीत अमुक संस्कार का और अमुक विधि का है किन्तु आधुनिक गीतों को सुनकर यह भेद करना कठिन है। एक ही धुन पर कुछ पदों को जोड़कर सोहर, यज्ञोपवित और विवाह के गीत बन जाते हैं। साथ ही कुछ पद तो समान रूप से सबों में उद्धृत किये जाते हैं-जो प्रायः सिनेमा के किसी प्रचलित गीत के पद होते हैं। गीत को सुनकर यह प्रतीत होता है कि हम सिनेमा के गीत सुन रहे हैं और वो उसी प्रकार के भाव हृदय में उत्प्रेरित होते हैं। इसी तरह संस्कारित व्यक्ति के उपर इन गीतों के द्वारा संस्कार का कोइ प्रभाव नहीं पड़ता। यह इन गीतों से होने वाली एक अपूर्णीय क्षति हैं। प्रायः तिलकोत्सव में गीत गाये जा रहे हैं :-[13]

ससुरा लुटेरा सरवा चोर हो जाला
आवेला तिलक बड़ा शोर हो जाला

इन आधुनिक गीतों ने सामाजिक भावना को लुप्त कर वैक्तिकता की प्रधानता स्थापित की है।

इस सन्दर्भ में यह भी दर्शनीय और चिंतनीय है कि प्राचीन गीतों को उपस्थित सभी स्त्रियाँ गाती थीं। इसमें एक समाज ही गाता हुआ विशेष माधुर्य पैदा करता था। बूढ़ी स्त्रिओं के साथ भी कन्याएं भी राग में राग मिलाती थीं तथा सीखते-सीखते कुछ दिन में वे भी अनायास गीत गाने में पारंगत हो जाती थी किन्तु आधुनिक गीतों में इन सभी वस्तुओं का अभाव है।

पारम्परिक गीतों की विभिन्नता और लयात्मकता को विभिन्न संस्कारों के अवसर का गीत कह उल्लिखित किया जाता था किन्तु सिनेमा के तर्ज पर बनने वाले आधुनिक गीत न तो स्थायी हैं और न तो लिखकर इन्हें

समाज में स्थापित प्रदान किया जा सकता है। ये तो रोज बनते और इसी तरह प इन गीत में क्षेत्रीयता का दोष है।

आधुनिक इन गीतों का प्रभाव बढ़ेगा वैसे-वैसे प्राचीन गीतों का गायन समाप्त होता जायेगा। प्राचीन गीतों की समाप्ति के साथ लोगों के संस्कार चेतना विलुप्त होती जाएँगी। संस्कार भावना के अभाव के लोग असामाजिक होंगे और परिवार तथा समाज के प्रति आस्था और विश्वास की भावना लुप्त होगी इसका परिणाम होगा - शिशुओं के प्रति ममता का अभाव, अपने सांस्कृतिक पवित्र नामों के स्थान पर इनटू पिंटू का नामकरण, अपने भीतर तेजस्विता उत्पन्न करने का अभाव, दहेज की प्रताड़ना और नववधू का अग्निदाह। स्त्रियाँ केवल भोग्या होकर रह जाएँगी और पुरुष हृदयहीन पशुता से उद्धेलित सामान्य पशु के समान स्वच्छन्द आचरण करने वाले। भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था हट जाएँगी और ज्ञान का समुन्द्र शुष्क प्रतीत होगा तथा आचरण की गंगा प्रदूषित हो जाएँगी।

नयापन के गुण जुगनू के समान क्षणिक प्रकाश करते हैं। इनसे शशिकला की चांदनी और अमृत रश्मियाँ नहीं मिल सकेंगी इसलिये संस्कारों और संस्कार गीतों के प्रति उदासीन होने का अर्थ है भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीन होना। समाज में शील और आचरण के अभाव से जो बुराइयां फैल सकती हैं उसका आभास लोगों को दिखाई पड़ रहा है।

प्राचीन संस्कार गीत यज्ञोपवीत या विवाह के अवसर पर महीनों गाये जाते थे। परिवार और गांवों में रहने वाले सभी लोग गीतों को सुनते-सुनते यज्ञोपवीत, विवाह और अन्य संस्कारों की बातें समझ जाते थे, उनकी अच्छाइयां जान जाते थे जो पहले से जानते थे उनका पुनः जागृत हो जाता था। माता, पिता, गुरु, देवता और ऋषियों के प्रति आस्था बढ़ती थी। परिवार गरीबी में भी संतुष्ट और सुखी जीवन व्यतीत करते थे। शास्त्रों के प्रति आदर था। लोग आचारवान और विद्वान होते थे। धीरे-धीरे संस्कारों का अभाव व्रतों का अभाव, संस्कार-गीतों का अभाव होता गया और एक आकार-हीन, अपवित्र नास्तिक समाज की स्थापना होने लगी है। यज्ञोपवीत और विवाह के प्राचीन संस्कार गीत संस्कारित व्यक्ति के हृदय में धीरे-धीरे आस्था उत्पन्न कर देते थे। विभिन्न प्रकार की विधियों से लोग यज्ञोपवीत का महत्व समझ जाते थे। इसी तरह विवाह की विधियों में गाये जाने वाले गीतों से उसके भीतर के रहस्यों का ज्ञान हो जाता था जैसे-विवाह की मटकोरवा नामक विधि में स्त्रियों के द्वारा कन्या एवं वर को गृहस्थाश्रम में प्रवेश, उसके स्त्री-पुरुष की सहभागिता और गृहस्थी के जीवन में इस मिट्टी का महत्त्व सब कुछ गीत बता देते हैं। इसके अभाव में जो प्रतिफल भोगना चाहिए वह आज का समाज भोग रहा है, गृहस्थी गृहस्थाश्रम, पृथ्वी और जीवन में स्त्री-पुरुष की सहभागिता के प्रति आस्था।

मन्दिरों में संस्कार होते हैं उसका प्रभाव जुगनू के समान क्षणिक होता है, सिनेमा के धुन वाले बनावटी गीत क्षणिक आनन्ददायक होते हैं। कोर्ट में फीस देकर किया गया सम्बन्ध भी क्षणिक होता है इसलिए इन संस्कारों के प्रति आस्था भी क्षणिक होती है, संस्कृति का मूल्य समझ नहीं पाते हैं और अपने जातिगत गुणों को पहचानने में भी कठिनाई का अनुभव होता है। इस प्रकार हम धीरे-धीरे भारतीय से अभारतीय समाज और संस्कृति से अपसंस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं। आज की सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता की ओर प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसमें विज्ञान का प्रभाव सर्वाधिक है। सभ्यता शहरों से और शहर विज्ञान की चकाचौंध में जीने को विवश हैं। लोगों के शरीर में कृत्रिम फेफड़ा और हृदय प्रत्यारोपित हो रहा है। अब मानव के स्थान पर यन्त्र मानव काम कर रहा है ऐसी परिस्थिति में उसके हृदय में स्वाभाविक संवेग और अकृत्रिम मनोभाव किस प्रकार उत्पन्न होंगे, सोचा जा सकता है। संस्कारों में ही सिनेमा के धुनों का प्रत्यारोपण हो जायेगा तब पारम्परिक गीतों के महत्त्वपूर्ण मनोभावों का संस्कार स्वतः लुप्त हो जायेगा शहर हो या गांव अब तो सूना जा रहा है -सिनेमा के धुन से ओत-प्रोत गीतः-[14]

''छायी बहार है जिया बेकरार है
आजा तिलक देने वाला तेरा इन्तजार है''

प्रस्तुत रचना क्षण भंगुर है। इसी तरह ये आधुनिक गीत विषय की दृष्टि से बहु आयामों भी नहीं हैं। एक गीत धोबी, काहार, नाई और गोड जाति के, श्रमिक के तथा विरहा, लोकनायक, विजय मल गाने वाली जातियों के स्वाभाविक गीतोंदगारों को भी मिटा रहे हैं।

इस प्रकार भोजपुरी के संस्कार गीतों के साथ-साथ इसके अन्य लोक गीतों का भी भविष्य अन्धकारपूर्ण होता जा रहा है।

विज्ञान ने समय और दूरी की सीमा घटा दी है।

इसलिए अब घर आकर कन्या के पिता कैसे कहेगा –[15]

''पुरुब खोजलो राम पच्छिम खोजलो,
खोजलो में मगह मुंगेर रे।
सिया योग बर कतही ना देखल,
बरु सिया रहिहे कुआरि रे।''

यह गीत कितने दिन तक स्थायित्व रहा है यह समाज जानता है किन्तु विज्ञान की देन सिनेमा, टी.वी., रेडियो के द्वारा प्रसारित गीत इन पारम्परिक गीतों को ध्वस्त कर अपना स्थान बना रहे हैं। इस तरह डॉ. धीरे–धीरे भोजपुरी क्षेत्र की यह अमूल्य धरोहर (संस्कार गीत) अवलुप्त हो जाएँगी।

आज जीवन में अर्थ का अधिक महत्व है। धर्म और कर्म को भी अर्थ ने अपने चंगुल में जकड़ लिया है अब लोग शांत और एकांत में भी दैनिक कार्यों के उधेड़बुन में लगे रहते हैं। धीरे–धीरे महंगाई इतनी बढ़ गई है कि विरहा गाने का समय नहीं मिलता। इसलिए कहना पड़ता है।[16]

''महंगी के मारे विरहा विसरिगा
भूल गई कजरी कबीर।
देखिके गोरिया के मोहिनी सुरतिया
उठे न करेजवा में पीर।।''

इतना ही नहीं अब तो भोजपुरी में भी फिल्में बन रही हैं। इन फिल्मों में प्रयुक्त गीतों ने प्रत्यक्ष रूप से प्राचीन संस्कार गीतों को क्षतिग्रस्त किया है। अत: समय ऐसा आ रहा है कि इन गीतों को अपने मौलिक रूप में बचाकर रखना कठिन होगा अगर समय रहते समाज सचेत नहीं हुआ तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह मिश्रित सभ्यता मिश्रित भाषा वाले मिश्रित गीतों को ही लेकर संतुष्ट रहेंगी या इसके बाद भी कोई परिवर्तन होगा–कौन कह सकता है?

इस प्रकार परिवर्तनशीलता के कारण फिसलते–फिसलते आज सिनेमा की अर्धाली के रूप में कहीं–कहीं अवशिष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिकतम प्रकृति के लिए ये गीत बासी हो गये हैं। इन बासी गीतों से आधुनिक विज्ञान की छिटकती छटा वाली दुनिया सजाई नहीं जा सकती है?[17]

प्रकृति के यौवन का श्रृंगार
करेंगे कभीं न बासी फुल

इस प्रकार यह भोजपुरी संस्कार गीतों का परिवर्तन चक्र एक मिश्रित भाषा और मिश्रित गीत पद्धति में आकर अभी श्वास ले रहा है।

भोजपुरी के ये संस्कार गीत काव्य के जीवित स्वरूप हैं और कालजयी हैं। छायावादी युग और प्रगतिवादी युग की कविताएँ और काव्य किसी समय मूल्यहीन हो सकते हैं क्योंकि वे किसी कालविशेष की परिस्थिति में प्रादुभुत हुए हैं। अत: ये रचनाएँ तत्कालीन समाज को प्रभावित करती हुई प्रभा हीन हो जाती है किन्तु संस्कार के गीत वेद और उपनिषद के वाक्यों के समान, रामायण की कथा और गीता के उपदेशों के समान कालजयी रचनाएँ हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. जयशंकर प्रसाद, कामायनी पृष्ठ 25, प्रकाशन–प्रसाद मन्दिर गोवर्धन सराय, वाराणसी
2. डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय, भोजपुरी लोक गीत, भाग–2 पृष्ठ–54
3. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ–362
4. मनोरंजन प्रसाद, फिरंगिया, राजेंद्र कॉलेज, छपरा
5. सुन्दरी कुमारी का व्यक्तिगत संग्रह – अप्रकाशित, पश्चिम चम्पारण, बेतिया
6. रीता द्वारा अप्रकाशित ग्रन्थ वाराणसी, 221005
7. डॉ. हंस कुमार तिवारी, भोजपुरी संस्कार गीत, विवाह प्रकरण, पृष्ठ–292
8. डॉ. हीरालाल तिवारी, गंगा घाटी के गीत पृष्ठ–94
9. डॉ. हंस कुमार तिवारी, भोजपुरी संस्कार हीत ,पृष्ठ–307
10. डॉ. हंस कुमार तिवारी, भोजपुरी संस्कार गीत, पृष्ठ–344
11. डॉ. हंस कुमार तिवारी, भोजपुरी संस्कार गीत, पृष्ठ–96
12. डॉ. हीरालाल तिवारी, गंगा घाटी के गीत, पृष्ठ–84
13. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन – डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय, प्रकाशन–हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
14. भोजपुरी लोक गीत में करुण रस –डॉ. दुर्गा शंकर सिंह, प्रकाशन, सा स प्रयाग
15. डॉ. हीरालाल तिवारी, गंगा घाटी के गीत, पृष्ठ–156
16. डॉ. हंस कुमार तिवारी, भोजपुरी संस्कार गीत, पृष्ठ
17. जय शंकर प्रसाद, कामायनी पृष्ठ–25

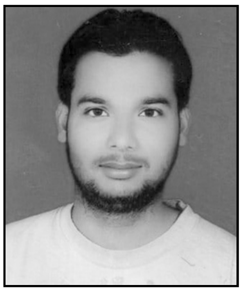

सतवीर सिंह

मुक्तिबोध के कथा साहित्य में चित्रित मध्यवर्गीय जीवन

रचनाकार अपने जीवन में समाज से जितना अधिक तादात्म्य स्थापित करता है, उसकी रचनाओं में समाज का चित्रण उतना ही जीवंत दिखाई देता है। मुक्तिबोध इस रूप में सबसे अधिक प्रासंगिक कथाकार हैं। उनकी कहानियां मध्यवर्गीय भारतीय समाज की तहों को खोलती हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से मध्यवर्ग में फैली विसंगतियों, स्वार्थ लिप्सा, संघर्षशीलता, अवसरवादिता को पाठकों के सामने रखा। मुक्तिबोध की कहानियों के पात्र प्रत्येक वर्ग से आते हैं परंतु उनकी चिंतन दृष्टि मध्यवर्ग पर केंद्रित रही है। ये कहानियां मध्यवर्गीय लोगों के जीवन में व्याप्त महत्त्वाकांक्षा, कुंठा, दिखावा, समझौता, तृष्णा आदि प्रवृत्तियों का चित्रण करती हैं।

मुक्तिबोध के कथा साहित्य के रूप में दो कहानी संग्रह व एक लघु उपन्यास उपलब्ध हैं। उनका पहला कहानी संग्रह 'काठ का सपना' है। इसमें ग्यारह कहानियां संग्रहित हैं 'काठ का सपना' संग्रह में अंतिम कहानी 'विपात्र' है। कहानी के रूप में प्रकाशित होने के बाद 'विपात्र' का व्यापक प्रारूप प्राप्त हुआ, जिसको 1970 ई. में एक लघु उपन्यास के रूप में प्रकाशित किया गया। उनका दूसरा कहानी संग्रह 'सतह से उठता आदमी है', यह वर्ष 1971 में प्रकाशित हुआ। इसमें नौ कहानियां संकलित हैं।

'काठ का सपना' में संकलित 'पक्षी और दीमक' कहानी मुक्तिबोध की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। वे इसमें बार-बार भारतीय सामाजिक ढाँचे की आलोचना करते हुए, उसमें फैले भ्रष्टाचार, अवसरवाद की तरफ पाठकों को इंगित करते नज़र आते हैं। वे समाज में चलने वाली चाटुकारिता, रिश्वतखोरी तथा भ्रष्ट मानसिकता को बखूबी पहचानते थे। उन्होंने इन सब असामाजिक तत्त्वों के घेरे में सबसे ज्यादा जकड़ा हुआ मध्यवर्गीय लोगों को पाया। इस वर्ग की स्वार्थप्रियता व प्रतिस्पर्धा की होड़, देश के विकास में सबसे बड़ी बाधा के रूप में सामने आती है। कहानी में लेखक भगवे कुर्ते वाले व्यक्ति की बात करता है। जो नेता है, समाज में उसकी बहुत इज्जत है वक्ता अपनी उन्नति का कारण उस नेता के प्रयासों को मानता है। वक्ता की जीविका उसी पर निर्भर है। मुक्तिबोध कहानी में एक ऐसी व्यवस्था को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, जिसमें भारतीय मध्यवर्ग के बहुत से लोग परजीवी के रूप में जीवन-यापन करते नजर आते हैं। वक्ता भी ऐसी समरूप स्थिति को दर्शाए हुए है, जिसकी आय के साधन दूसरों की जी-हजूरी पर निर्भर हैं।

वे कहानी के नायक को पक्षी के जैसा पाते हैं। पक्षी गाड़ीवाले से तय करता है कि वह एक पंख के बदले दो दीमक ले लिया करेगा। और वह रोज गाड़ीवाले से एक पंख के बदले दो दीमक ले लेता। ऐसा करते-करते वह अपने परिवार से अलग हो जाता है तथा अपनी जिद्द व दीमकों की चट के कारण अपनी उड़ने की शक्ति खो बैठता है। उसे महसूस होता है कि यह सब उसने ठीक नहीं किया। वह पुनः दीमकों को इकट्ठा करके अपने पंख वापस मांगता है लेकिन वह गाड़ीवाला देने से मना कर देता है और कहता है कि मैं दीमकों के बदले पंख लेता हूं न कि पंख के बदले दीपक। अंत में पक्षी एक बिल्ली का शिकार हो जाता है। वक्ता का कथा के बाद यह कहना "नहीं मुझमें अभी बहुत कुछ शेष है, बहुत

कुछ मैं उस पक्षी-जैसा नहीं मारूँगा। मैं अभी भी उभर सकता हूँ। रोग अभी असाध्य नहीं हुआ है। ठाठ से रहने के चक्कर में बंधे हुए बुराई के चक्र तोड़े जा सकते हैं। प्राण शक्ति शेष।''[1]

'पक्षी और दीमक' कहानी प्रतीकात्मक रूप में भी सामने आती है। इसमें पूंजीवादी व्यवस्था की उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रदर्शित किया गया है जिसमें फंस कर कहानी का वक्ता पक्षी की तरह अपनी निजी विशेषताओं को खो देता है और साधन, स्वार्थ के लिए वह खद्दर कुर्ते वालों के इशारों पर नाचता है। इस उपभोग की प्रवृत्ति में वर्तमान समय में भारतीय मध्यवर्ग बुरी तरह जकड़ा हुआ है जिसका प्रतिबिम्ब मुक्तिबोध ने अपने परिवेश में देख लिया था।

'जंक्शन' कहानी समाज में उपस्थित आर्थिक खाई को प्रस्तुत करती है जो धन व साधन के अभाव में मनुष्य-मनुष्य के बीच हमेशा से खड़ी रही है। इस कहानी में एक सर्द रात का चित्रण हुआ है जिसमें वक्ता रेलवे स्टेशन पर मौजूद है। वह देर रात की ट्रेन पकड़ने के लिए स्टेशन पर इंतजार कर रहा है। सर्दी के कारण स्टेशन के वातावरण में फैली शांति, एक अजीब सी गंभीरता लिए हुए है। स्टेशन पर बैठे बिना सर्द कपड़ों के मजदूर लोग निम्नवर्ग की दारूण स्थिति को दर्शाते हैं। कहानी में मध्यवर्ग व निम्नवर्ग के बीच जीवन-यापन के आधारभूत अंतर, स्पष्ट लक्षित किए जा सकते हैं। जो उपेक्षित भाव मध्यवर्ग के लिए उच्च वर्ग में है, वही उपेक्षित भाव मध्यवर्ग का निम्नवर्ग के लिए दिखाई देता है। यह इस दृश्य से स्पष्ट होता है, जब वक्ता उस टेरीलीन के कपड़े पहने बच्चे को अपना बिस्तर तक देने के लिए तैयार हो जाता है और उन सोये हुए गरीब लोगों के प्रति उसकी संवेदना शुष्क दिखाई देती है। ये केवल वर्ग भावना के कारण ही है, वक्ता के वक्तव्य से यह अनुभव किया जा सकता है। जबकि वक्ता स्वयं मांगे हुए कपड़ों के द्वारा अपनी वास्तविक स्थिति को दूसरों से अधिक माप रहा है। इस प्रदर्शनपूर्ण व्यवहार में आत्म गौरव महसूस कर रहा है। जंक्शन कहानी में मध्यवर्गीय प्रदर्शन प्रियता व वर्ग भावना को वक्ता के व्यवहार में देखा जा सकता है।

मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कहानी एक यात्रा-वृत्तांत अथवा रिपोर्ताज की तरह लिखी गई है। इसके बारे में सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं, ''अंधेरे में एक यात्रा रूपक है - लम्बी सुदीर्घ यात्रा में एक छोटी सी नगन्य छाया मगर यह छोटी-सी नगन्य दिखने वाली छाया इस सुदीर्घ यात्रा में अकेली चली जा रही है, यही क्या अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है? अँधेरे में यात्रा करती इस छाया में उस राष्ट्रीय अभिशाप को इन अकेले क्षणों में पहचाना है जिसमें हमारी अंतरात्मा मध्यवर्गीय आत्मसंतोष की जड़ता के रूप में प्रकट होती है।''[2]

मुक्तिबोध ने कहानी में रात के अँधेरे में समेटकर मध्यवर्गीय जीवन की असमर्थता को हमारे सामने रखा है। शहर की दुकानों के सामने सोये हुए गरीब मजदूर और भिखारियों पर युवक का पैर पड़ता है और वह भाग खड़ा होता है। इस ओछी हरकत के कारण वह स्वयं को बहुत कमजोर पाता है तथा रास्ते पर सोये लोगों के आर्थिक कष्टों को देखकर उसके मन में बंगाल के अकाल की स्मृति बनती है और वह ठिठक जाता है। वह देखता है कि मनुष्य-मनुष्य से विमुख होकर, केवल अपने साधन स्वार्थ एवं जीवन में धन की प्राप्ति को ही लक्ष्य बनाकर जी रहा है। कहानी में लेखक युवक के द्वारा मध्यवर्ग में व्याप्त आत्म-केन्द्रीयता को राष्ट्रीय संदर्भों में पहचानने की कोशिश करते दिखाई देता है। वह मध्यवर्ग की निम्न वर्ग के प्रति निष्क्रियता को सामने रखते हुए, वह वर्ग भावना में व्यक्ति को पूर्णतः ग्रस्त पाता है।

मुक्तिबोध की कहानियों का केन्द्र मध्यवर्ग का वह निम्न भाग है जिसमें गरीबी, शैक्षिक बेरोजगारी, विचारों का उतावलापन, आंतरिक जिरह देखने को मिलती है। उनके पात्र मध्यवर्गीय जीवन को उसके तथाकथित यथार्थ में जीते है। वे इस वर्ग को उसकी वास्तविकता से ज्यादा नहीं आकते हैं, अपितु वे तो उसके अंदर विद्यमान उन विचारों और बेबसी को चित्रित करते हैं जो वर्तमान परिस्थिति से लड़ते हुए, इस वर्ग को समझौतावादी बनाती है। 'ये कहानियां निम्न मध्यवर्गीय मनुष्य के जीवन की विडम्बनाओं के माध्यम से अपने युग और परिवेश की सार्थक पहचान करती हैं। मुक्तिबोध ने व्यंग्य के माध्यम से कहानियों में जीवंतता भरी हैं।'[3]

'चाबुक' विशेष मनःस्थिति की कहानी है। इसमें स्वतंत्रता के बाद तीन-चार वर्षो में, जो सामाजिक परिवर्तन आए, उनको दिखाया गया है। रामलाल जैसे पात्र के द्वारा मुक्तिबोध ने निम्न मध्यवर्ग की छटपटाहट को चित्रित किया है। रामलाल जीवन के संघर्ष में लगा हुआ है।

उसका परिवार जर्जर हो चुका है। उसे ग्रेजुएट होते हुए भी कहीं नौकरी नहीं मिल पाती है। वह स्वयं को इस दयनीय स्थिति से उभारने में असमर्थ दिखाई देता है। वह एक भावुक व्यक्ति है। दुनिया में बढ़ते पापाचार व चालाकियों से अवसरों को भुनाने की कला उसमें नहीं है। इस कारण वह पीछे है। वह अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयत्न करता है लेकिन सफल नहीं हो पाता है। अखबार में अध्यापक की आत्महत्या की खबर को पढ़ कर वह ठिठक जाता है और अपनी आय को उस अध्यापक की आय से मिलाने लगता है।

कहानी में मुक्तिबोध मध्यवर्गीय संघर्ष को दर्शाते है और समाज में ऐसे लोगों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जो शिक्षित होते हुए भी आत्महत्या का कदम उठाते हैं। नौकरियों के अवसर व उचित वेतन न मिलने के कारण यह सामाजिक असंतोष स्वतंत्रता के बाद स्वदेशी शासन में देखने को मिलता है। वे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के बारे में लिखते हैं, ''विद्यार्थी अपनी आवाज उठाए, मजदूर और किसान मांगें करें तो, गोलियों की बौछारे! काला बाजार होता है तो जनता का गुनाह है, बनिये का नहीं, रिश्वतखोरी होती है तो जनता का गुनाह। गोया हमारे नेता और नौकरशाही दूध के धुले हैं।''[4]

कहानी देश की आंतरिक व्यवस्था पर चाबुक की तरह चोट करती है। इस अवसरवादिता और समझौते की प्रवृत्ति से रामलाल अपने को बाहर पाता है। इसलिए वह अपने को दरिद्र बनाए रखता है। उसकी जान-पहचान ऊँची पहुँच वाले लोगों से है, लेकिन वह चापलूसी नहीं करता है। वह निम्न मध्यवर्ग का संघर्षशील पात्र है।

'विद्रूप' कहानी में मुक्तिबोध जीवन की अभावपूर्ण स्थिति को रेखांकित करते हैं। सर्वटे के द्वारा वह एक ऐसा पात्र सामने रखते हैं जिसका आर्थिक पतन हो गया है। वह उच्च मध्यवर्ग से निम्न मध्यवर्ग में हस्तांतरित हो गया है। लेकिन इस जीवन में उसने अपने को ढाल लिया है। आत्महत्या जैसे विचार उसके हृदय में कौंध जाते हैं, पर उसने आगे बढ़कर परिस्थितियों से समझौता कर लिया है और उन्हें अपने अनुरूप बनाने में सफल हुआ है। विद्रूप कहानी मनुष्य जीवन के विभिन्न मुखौटों को उतार देती है जिसमें सर्वटे का स्वयं को वेश्या कहना उसकी पीड़ा को सामने रखता है। वह अंदर से खोखला हो चुका है, पर वह जीवन से लड़ रहा है।

मुक्तिबोध सर्वटे के लिए कहानी में इन शब्दों को प्रयुक्त करते हैं, ''मिस्टर सर्वटे मेरे तई अत्यंत साधारण था और साधारणता की इस आत्यांतिकता में वह असामान्य मनुष्य था। हाँ, मैं उसे मनुष्य कहूंगा, उसकी सारी घृणा के बाद''[5] सर्वटे दयनीय हालातों में अपने को उन नियम-कानूनों में जकड़े रहने को बाध्य हो गया था जिसमें उसे और उसके परिवार को केवल एक समय भोजन मिलता था। पत्नी प्रमिला को वह इस फिलासफी को सिखा चुका था, इसके अलावा इस परिवार में स्वयं को जीवित रखने के लिए अन्य कोई उपाय नहीं था।

सर्वटे अपने द्वारा उठाये गए इस कदम के कारण सबसे ज्यादा प्रताड़ित, वह स्वयं को ही करता है। मुक्तिबोध कहानी में मध्यवर्गीय लोगों के जीवन में छिपे विभिन्न कारणों को तलाशते हैं। विद्रूप कहानी कष्टपूर्ण और अभावपूर्ण जीवन की कथा है, जोकि इस मध्यवर्ग के निम्न भाग में देखने को मिलती है। सर्वटे अपनी शिक्षित अवस्था के कारण मेहनत-मजदूरी को अपना नहीं सका। मध्यवर्गीय जीवन में ऐसे अनेकों विरोधाभास दिखाई देते हैं। जो कभी तो उसके जीवन स्तर को गिरा देते हैं और कभी उसे उठा देते हैं। 'विद्रूप' जीवन के ह्रासमान रूप को सामने रखती है।

'सतह से उठता आदमी' कहानी में कृष्णस्वरूप, कन्हैया और रामनारायण मुख्य पात्र हैं। जब भी कहानी फ्लैस-बैक में जाती है तो उसमें कृष्णस्वरूप तथा रामनारायण के जीवन की छोटी से छोटी विशेषता उभर कर आती है। मुक्तिबोध कहानी में एक पात्र का आर्थिक पतन व दूसरे की समृद्धि को दिखाते हैं। कृष्णस्वरूप जोकि निम्न मध्यवर्गी परिवार का व्यक्ति है। रामनारायण की मदद से मध्यवर्ग पर आरूढ़ हो जाता है और उच्चवर्ग में शामिल होने के लिए उत्सुक है। रामनारायण का यह विचार है कि उसके पिता की मृत्यु का कारण उसकी माँ है। इसलिए उसकी माँ उसे जो कार्य करने से रोकती है वह उन्हें करता है। अपनी माँ को दुखी करने में उसे संतोष मिलता है। कृष्णस्वरूप के अंदर रामनारायण की माँ आदर्श बेटे के गुण देखती है। यह उसके चतुर दिमाग से अपनी जायदाद में वृद्धि करती है। जिसमें वह खरा उतरता है।

समाज की स्वार्थ दृष्टि को रामनारायण अच्छी तरह पहचानता है लेकिन वह उसका आदर्शीकरण नहीं करता है। इसलिए वह आर्थिक व राजनीतिक रूप से सबके

लिए महत्त्वपूर्ण साबित होता है। वह गरीब बस्तियों में जा कर महीनों रहता है। शराब पीता है। निम्न जाति की स्त्रियों के साथ संबंध बनाता है। रामनारायण व कृष्णस्वरूप दोनों के चरित्र में विषमताएं ही देखने को मिलती हैं। लेकिन दोनों दोस्त है। कन्हैया से कृष्णस्वरूप का स्पष्टीकरण मांगना तथा यह कहना, ''अब मुझे बताओ, पूंजीवाद के विरुद्ध धन सत्ता के विरुद्ध, अपनी माता के विरुद्ध रामनारायण की प्रतिक्रिया क्या सचमुच सिद्धांत और आदर्श के अनुसार है? और कन्हैया, अब तुम यह भी बताओ कि मैं जो अनासक्ति, निष्काम कर्म और आत्म-वश रहने की बात करता था, अद्वैतवाद की बात करता था, तो क्या मेरी इस भौतिक आर्थिक उन्नति में अपना अध:पतन नहीं हुआ? इसका निर्णय तुम करो।''[6]

कहानी के अंत में कन्हैया का गटर में थूकना दर्शाता है कि कन्हैया, कृष्णस्वरूप को रामनारायण से भी दोयम दर्जे का मानता है। कृष्णस्वरूप आर्थिक सुख साधन के लिए अपने ज़मीर का त्याग कर चुका है। गांधी, विवेकानंद के सिद्धांतों की बात करने वाला आज साधन शक्ति में ही अपनी स्वतंत्रता देखता है। वह उसकी सतह को अच्छी तरह से पहचानता है। लेकिन इतने वर्षों बाद उसकी तरक्की की सच्चाई जानने के बाद कन्हैया उसे परजीवी ही समझता है। जो समय के साथ अपने आकार को बढ़ाने के लिए उसके ही रक्त को चूस लेता है- जिस पर वह पल रहा है। वह जीव रामनारायण है। कृष्णस्वरूप स्वार्थी नौकरीपेशा अवसरवादी पात्र है जिसने मौकों को सही तरह भुनाना सीख लिया है।

मुक्तिबोध की कहानियों में वे सभी विशेषताएं हैं, जो उन्हें नई कहानी के सामने ला खड़ी करती हैं। मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, उषा प्रियंवदा, जैनेन्द्र आदि की तरह उनमें कस्बाई व शहरी जीवन के चित्रण तो मिलता है। लेकिन उनके पात्र पारिवारिक संबंध, यौन समस्या से ऊपर उठकर, सामाजिक व्यवस्था के प्रति व सभ्यता रूपी, जन्मी वर्ग समस्या पर चिंतन-मनन करते हुए नजर आते हैं। वे आत्महत्या के कारणों की तह तक जाना चाहते हैं। मुक्तिबोध की कहानियों का ताना बाना मध्यवर्ग के शहरी जीवन और कस्बों में सिमटा हुआ है परंतु विचरण का फलक इतना व्यापक है कि वे देशकालगत परिवेश से आगे जाकर मानवीय सभ्यता व मानव मूल्यों की परख करना चाहते हैं।

सभ्यता प्रश्न तथा मानवीय मूल्यों पर लिखी गई कहानी 'क्लाड ईथरली' हिन्दी जगत की बहुचर्चित कहानी है। मुक्तिबोध की कहानी कला पर हमें कवि का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। 'क्लाड ईथरली' फैण्टेसी शिल्प में लिखी एक सशक्त कहानी है। यह मनुष्य के अंतरात्मा पर सीधे चोट करती है। इसमें द्वितीय विश्वयुद्ध के अणु बम से हुए सर्वनाश तथा उसके हीरो क्लाड ईथरली के मानसिक द्वंद्व का चित्रण है। क्लाड को कहानी में हम उस व्यक्ति के रूप में पाते हैं, जो अपनी अंतरात्मा की आवाज सुन लेता है और अपने द्वारा हिरोशिम पर गिराए अणुबम से फैले सर्वनाश के कारण शर्मिंदा है तथा सजा पाने की इच्छा में भटकता है। मुक्तिबोध ने कहानी को व्यंग्यार्थ रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें अमेरिका का समाज क्लाड की गतिविधियों को क्षमा करता रहता है। क्योंकि वह वार हीरो है, जबकि दूसरी ओर क्लाड का पार्थिव शरीर सजा की अपेक्षा रखता है। कहानी स्वप्न, द्वंद्व, यथार्थ स्थितियों को प्रस्तुत करती है। ''क्लाड भारत में भले देह रूप में न हो, लेकिन उसके जैसी आत्मा की बेचैनी रखने वाले लोग तो यहां रहते हैं''[7]

मुक्तिबोध लिखते हैं कि, ''कौन नहीं जानता कि क्लाड ईथरली अणु युद्ध का विरोध करने वाली आत्मा की आवाज का दूसरा नाम है? हाँ ईथरली मानसिक रोगी नहीं है। आध्यात्मिक अशांति का, आध्यात्मिक उद्विग्नता का ज्वलंत प्रतीक है''[8] 'क्लाड ईथरली' कहानी शोषण, अत्याचार एवं सभ्यता पर प्रश्न करती है। यह स्थिति संसार के प्रत्येक देश में विद्यमान है, जो रोज क्लाड के समान अपनी अंतर आत्मा की आवाज सुनते हैं। हमारा समाज उन्हें पागल कहता है। सच्चाई के साथ रहना तथा अत्याचार के खिलाफ बोलने वाले को किस प्रकार समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। मुक्तिबोध की कहानियां पाठकों के सामने एक विशेष मन:स्थिति और प्रश्न छोड़ जाती है जिस पर बहस के मापदंड व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों बन जाते हैं। उनकी कहानियों में पात्रों की संख्या सर्वथा कम ही दिखाई देती है। वक्ता के रूप में वे ज्यादातर स्वयं मौजूद है।

'काठ का सपना' कहानी में मुक्तिबोध निम्न-मध्यवर्ग की दारूण कथा कहते हैं। कहानी में उपस्थित परिवार में पति, पत्नी एवं पुत्री सरोज है। पुरुष को काम न मिल पाने के कारण, उसके जीवन में शिथिलता आ गयी है। कहानी

मध्यवर्ग की स्वप्न दर्शिता की कथा कहती है। स्वप्न में वह अपने को आर्थिक रूप से सम्पन्न पाता है। पुत्री का विवाह देखता है। लेकिन स्वप्न जैसे ही टूटता है, वह पिता अपने को संघर्षपूर्ण जीवन में जूझता हुआ पाता है। मुक्तिबोध ने पुरूष-स्त्री के आलिंगन को इस प्रकार चित्रित किया है कि उनके पास मनुष्य जीवन का केवल यही एक मात्र सुख है। लेकिन इन क्षणों में एक तृप्त भाव को दर्शाते है न की अन्य कहानीकारों की तरह एक-दूसरे से विमुख, जीवन शक्ति का सकारात्मक संचार देखने को मिलता है।

मुक्तिबोध की कहानियां व्यक्ति, परिवार, समाज, वर्ग, सभ्यता, राजनीति आदि व्यापक फलक पर लिखी गई कहानियां हैं, जो मनुष्य जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों में प्रस्तुत करती हैं। मोतीराम वर्मा के शब्दों में, ''ये कहानियां साधारण जनों से लेकर बुद्धि-जीवियों तक और परिवार से लेकर मानव सभ्यता तक के प्रश्नों को छूती हुई उनके जीवनानुभवों को विविध संदर्भों में प्रस्तुत करती हैं। उनमें मानव-जीवन के सबल और निर्बल दोनों पक्षों की द्वंद्वात्मक गतिशीलता को स्पष्टत: लक्षित किया जा सकता है। उनका मूल्य कथ्य मध्यवर्गीय जीवन की दैनन्दिन तोड़ती मारती क्षुद्रताओं और गहराते संताप की परिधि में सभ्यता के वर्तमान संकट को समाहित किए हुए है, इसीलिए उनकी व्यक्ति समस्याएं मानव सभ्यता की सीमाओं की हद तक निर्वैयक्तिक बन सकी है।''[9]

'विपात्र' मुक्तिबोध का लघु उपन्यास है। जिसके पात्र राव साहब, जगत सिंह, भनावत, बॉस, राजभोज, दर्शनशास्त्री एवं वक्ता हैं। ये सभी विद्या केन्द्र में विभिन्न विषयों के अध्यापक हैं। जिसका संस्थापक बॉस है। 'विपात्र' के द्वारा मुक्तिबोध ने अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। उन्होंने शिक्षकों के बीच चलने वाली बौद्धिक बहसों को विद्या केन्द्र में जमने वाली बैठकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

'विपात्र' में मध्यवर्गीय समाज पर कटाक्ष करते हुए वक्ता कहता है, ''हाँ यह सही है कि पढ़े लिखे लोग हैं जिन्हें देश-दशा को देखकर अपना कहीं ठिकाना लगता सा मालूम नहीं होता। वे निराश इसलिए हैं कि वे किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। वे क्लर्क हैं, वे छोटे अफसर, छोटे दुकानदार हैं। वे कॉलेज के लेक्चरर हैं। वे अपनी जीवन-प्रणाली की रक्षा के लिए चाहे जो करते हैं, कोई रिश्वत लेता है तो कोई कुंजिया लिखता है तो कोई पैसे लेकर फेल को पास करता है। बेवकूफ वह है जिसकी कुछ नहीं चलती, जो अपना पेट काटकर, बाल बच्चों को तरसा-तरसा कर जीवन यापन करता है, ऐसे ये लोग हैं। ये शिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं। अपनी बर्बता को ढांकने के लिए रविन्द्र की जयन्तियाँ मनाते हैं, अपने पशुत्व को छिपाने के लिए सुंदर भावों से जंगली आत्मा को ढंकते हैं, पैसा और नाम दोनों कमाते हैं। हवा के रूख को देखकर बात करते हैं सभा को देखकर टोपी बदलते है।''[10]

मुक्तिबोध मध्यवर्गीय समाज की हकीकत को सामने लाते हैं। वे समाज में फैली लूट-खसोट, दोमुहांपन, मुखौटों की झूठी परते, भावनाओं का कृत्रिम आखेट इस वर्ग के व्यवहार में व्याप्त पाते हैं। समाज का यह भाग विचारात्मक रूप से भी प्रभावित करता है लेकिन उचित सहभागिता न मिलने पर इस वर्ग में हताशा बहुत बड़े पैमाने पर फैली है। वे चापलूसी को मध्यवर्ग का स्थाई गुण मानते हैं। वक्ता द्वारा बॉस से स्वार्थ सिद्धि के कारण अपने चापलूसी तरीकों की व्याख्या करना। हमारे सामने मध्यवर्ग की सामाजिक संरचना के अंतरिक सत्यों को खोलती दिखाई देती है। इस वर्ग में व्यक्ति अपनी ऊपरी स्तर से जितना मजबूत दिखाई देता है, अंदर से वह उतना ही खोखला है। मध्यवर्ग के दोहरेपन व प्रदर्शनप्रियता को 'विपात्र' में व्यंग्यात्मक शैली में चित्रित किया गया है।

'विपात्र' में भनावत, वक्ता व जगत सिंह की बहसों के द्वारा भारतीय समाज में फैली विषमताओं को सामने लाया गया है। वर्गभेद, जातिभेद, अर्थभेद से पनपने वाली सामाजिक खाई को चित्रित किया गया। भनावत व जगत सिंह के रूप में दो ऐसे नवयुवकों को सामने रखा है जो समाज को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तथा उसकी वास्तविक व्याख्या करते हैं। भनावत द्वारा यह कहना कि हम शैतानों की औलाद हैं, इन्हीं निम्न दर्जो के लोगों का खून चूस कर मेरे पिता व बॉस जैसे लोग आज समाज में सम्पन्न व्यक्ति बने हुए हैं।

'विपात्र' में समकालीन परिवेश की विभिन्न समस्याओं को चित्रित करते हुए, मनुष्य स्वभाव का विश्लेषण किया गया है। जिसमें मनोवैज्ञानिक आधारों का सहारा लिया गया है। पात्रों की बहस के द्वारा तत्कालीन परिस्थितियां जीवंत हो उठी हैं। जिसमें भारतीय मध्यवर्ग के वर्तमान और भविष्य पर चिंता की गई है। मुक्तिबोध ने मध्यवर्ग को

जिस रूप व समस्याओं के साथ अपने परिवेश में देखा था। वह वर्तमान में उससे अधिक विद्रूप स्थिति में पहुंच गया है।

सम्पूर्णतः मुक्तिबोध के कथा साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की स्थाई प्रवृत्तियां, समस्याएं एवं विषमताओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। उन्होंने अपने कथा साहित्य के माध्यम से अपने वर्तमान समाज व उसके भविष्य पर जो तर्क तथा जिरह प्रस्तुत की है। वह पाठकों को विह्वल कर देती है। उनकी मृत्यु के पांच दशक बाद भी मध्यवर्ग की समस्या आज उससे भी अधिक गंभीर तथा उलझी हुई दिखाई देती है जो उनके समकालीन समाज में थी।

शोधार्थी, पीएच.डी. हिन्दी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई.मेलः satveer3390@gamil.com

संदर्भ सूची

1. गजानन माधव मुक्तिबोध, काठ का सपना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18 इन्स्टीट्यूशन एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, संस्करण : 2014, पृ. संख्या-35
2. डॉ. मोहम्मद कामिल, मुक्तिबोध का कथा साहित्य, नवलोक प्रकाशन, डी.-422/21, भजनपुरा, दिल्ली-110053, संस्करण : 2010, पृष्ठ संख्या-100
3. डॉ. एम. श्याम राव, मुक्तिबोध जीवन-संघर्ष बनाम काव्य-संघर्ष, मिलिन्द प्रकाशन, 4-3-178/2, कन्दास्वामीबाग, सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500095, प्रथमः संस्करणः 2008, पृष्ठ संख्या-83
4. गजानन माधव मुक्तिबोध, सतह से उठता आदमी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18 इन्स्टीट्यूशन एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या-55
5. वही, पृष्ठ संख्या-59
6. वही, पृष्ठ संख्या-109
7. गजानन माधव मुक्तिबोध, काठ का सपना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18 इन्स्टीट्यूशन एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या-22
8. वही, पृष्ठ संख्या-21
9. मोतीराम वर्मा, मुक्तिबोध का गद्य साहित्य, विद्यार्थी प्रकाशन, 113/4, पश्चिमी आजाद नगर, दिल्ली-110051, प्रथम संस्करण : 1973, पृष्ठ संख्या-83
10. गजानन माधव मुक्तिबोध, विपात्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18 इन्स्टीट्यूशन एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या-62

शोध-पत्र

डॉ. सिम्मी चौहान

उत्तरी भारत की संत परंपरा में आने वाले गुरु नानक देव के साहित्य की प्रासंगिकता

'भाक्ति दखिन उपजी, लाए रामानन्द।' अर्थात् उत्तर भारत में भक्ति का प्रवाह दक्षिण से उभरकर आया, जिसे स्वामी रामानन्द लाए। दक्षिण भारत में भक्ति जो लहर जनमानस का अटूट हिस्सा नहीं बन पाई थी। वही लहर एक सशक्त आन्दोलन का रूप लेकर उत्तरी भारत के कोने-कोने में फैली। उत्तर भारत की संत परम्परा के फैलने के ऐतिहासिक कारण थे। अपने वास्तविक रूप में उत्तर भारत में यह भक्ति आन्दोलन एक सामाजिक आन्दोलन का रूप लेकर सामने आया। भारतीय संस्कृति को भी इस आन्दोलन ने नए आयाम दिए। लेकिन भारतीय संस्कृति में जो सबसे महान तत्व होता है वह है - विचार स्वातंत्र्य। संत कवियों में यह विचार स्वातंत्र्य दिखाई देता है जो उन्हें उनके तत्कालीन युग में भी खरी बात कहने की हिम्मत देता है। किसी भी संत के संदेशों एवं विचारों की सार्थकता मुख्यत: दो बातों पर आधारित होती है - पहली कि वे विचार विश्व भर के लिए हो, न कि किसी जाति-धर्म विशेष के लिए। दूसरी, वे सार्वकालिक हों। इस दृष्टि से कई शताब्दियों के बाद भी कबीर, गुरु नानक, रैदास, दादू आदि के विचार आज की परिस्थितियों पर इतने सटीक और सार्थक लगते हैं कि जैसे उन्हें आज के सामयिक परिवेश को ध्यान में रखकर ही लिखा व कहा गया हो। इस प्रासंगिकता को उकेरने से पहले संत परंपरा में गुरु नानक के योगदान के विषय में थोड़ा जान लेना आवश्यक है।

15वीं शताब्दी में उमड़ी इस भक्ति-स्रोतस्विनी का प्रवाह विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़े संतों, भक्तों और सूफियों द्वारा उनकी अपनी-अपनी भाषाओं में उपदेशों, शिक्षाओं और विचारों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। भारत में मुस्लिम शासकों की जड़ें मजबूत होने से दिन-प्रतिदिन उनके अत्याचारों के बढ़ने से एक भिन्न भक्तिमार्ग की धारा बह निकली, जिसमें जाति-पांति, छुआछूत, आर्थिक ऊँच-नीच आदि से प्रताड़ित सभी जन अवगाहन कर सकें। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के विस्तृत भाग में नामदेव एवं रामानन्द ने 'निर्गुणपन्थ' की नींव डाली। हिंदी साहित्यिक कोश में 'निर्गुण' शब्द की स्पष्ट व्याख्या दी गई है - निर्गुण शब्द अपने पारिभाषिक रूप में सत्व आदि गुणों से रहित या उसके परे भी जाने वाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय संज्ञा का बोधक है, जिसे बहुधा परम तत्व परमात्मा तथा ब्रह्म जैसे संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है।[1] निर्गुण शब्द सर्वप्रथम उपनिषदों में अद्वितीय देन का एक विशेषण बनकर आया है। **डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी** का मानना है कि 'वे भगवान को सत्व, रज, तमोगुणों से अतीत मानते हैं और इसी त्रिगुणातीत रूप को निर्गुण शब्द से प्रकट करते हैं।'[2] इस निर्गुण पन्थ की गौरवशाली परंपरा को उत्तर भारत की संत परंपरा के संतों ने (कबीर, नानक, नामदेव, पीपा, दादू दयाल, जायसी आदि) अपने काव्य का आधार बनाकर विकसित किया। गुरु नानक देव भी इसी निर्गुण ब्रह्म को पाने की ओर संकेत करते हुए हैं कि-

''निरगुण नाम निधानु है, सहजे सोझी होई।''[3]

हिंदी के निर्गुण कवियों ने ब्रह्म के गुण रहित स्वरूप के लिए ही किया है।

मध्यकालीन भारत में बाहरी आक्रान्ताओं का कहर

हिन्दुओं पर टूट रहा था, तब उस दौर में मानवता को आत्मगौरव का पाठ पढ़ा रहे गुरु नानक देव ने सिख-पन्थ की नींव रखी। उत्तर-पश्चिमी सीमांत, सिंध सहित पंजाब क्रूर महजबी अत्याचार से सर्वाधिक प्रताड़ित था। इन क्षेत्रों में मन्दिरों को तोड़ने के साथ यहाँ मूल निवासियों को तलवार के बल पर जबरन इस्लाम स्वीकार करने के लिए मजबूर किया जा रहा था, जिसके प्रतिकार स्वरूप देश के अन्य भागों में भक्ति आन्दोलन प्रारंभ हुआ। इसी आन्दोलन से कई संत देश में जनजागृति लाने में सहायक हुए और उनके संदेश को पंजाब में प्रचारित करने का जिम्मा गुरु नानक देव ने उठाया। इस मध्ययुगीन संत परंपरा में पंजाब के भक्ति-आन्दोलन का विशिष्ट स्थान है। इस आन्दोलन के प्रवर्तक गुरु नानक देव थे। उन्होंने 15वीं शती के उत्तरार्ध में मनुष्य की मानुषिक-वृत्तियों को न केवल उद्भूत ही किया, बल्कि उन्हें विकास का सुअवसर प्रदान करने के लिए अपनी स्वतंत्र-विचारधारा पर एक व्यवस्थित और परिमार्जित परंपरा की नींव भी रखी। इस परंपरा में एक के बाद दस महान संतों की श्रृंखला देखी जा सकती है। गुरु नानक के उत्तराधिकारी गुरुओं ने जिस खालसा पन्थ की भव्यता को साकार किया, उसकी नींव गुरु नानक ने रखी थी। यह बात अलग है कि उसकी परिकल्पना तब न की हो, परन्तु एक निजी, मौलिक, समतावादी चिन्तन और सामाजिक-आध्यात्मिक नव-सर्जना का बीज उन्हीं के द्वारा रोपा गया था। गुरु नानक के बाद अन्य 9 गुरु हुए - गुरु अंगद देव, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन देव, गुरु हरगोविंद, गुरु हरिराय, गुरु हरिकिशन, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह। उत्तरी भारत की संत परंपरा का एक ऐतिहासिक और सामाजिक दस्तावेज गुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित भक्त वाणी का संग्रह है। जो अपने आत्मिक साम्य, आत्मीयता, सेवाभावना एवं लोकसंग्रह की यह परंपरा आज भी समूचे विश्व में अपनी उपस्थिति और पहचान बनाए हुए हैं।

उत्तरी भारत की संत परंपरा के दो प्रमुख कवि कबीर और गुरु नानक थे। इन कवियों ने भक्ति को मानव प्रेम, ज्ञान और सत्य की जमीन से जोड़कर भक्ति को नए रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने समाज को जिस रूप में देखा, जाना, जिया और समझा उसे उसी रूप में ही अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। लगभग सभी संतों ने आम व्यक्ति तथा गृहस्थ जीवन के प्रति आस्था रखते हुए इसी मार्ग का अनुपालन कर प्रभु को पाने की बात कही है। गुरु नानक ने अपनी यात्राओं के माध्यम से अपने समाज, लोकजीवन से सीधे निकट के अनुभव प्राप्त किए। तत्कालीन समाज में साम्प्रादायिक भेदभाव को लक्ष्य कर उन्होंने एक ईश्वर के नाम-जप का सिद्धांत लोगों के सामने रखते हुए जपुजी साहब में कहा कि ईश्वर सत्यस्वरूप है, निर्भय है, निवैर्र है, अकाल मूरत अर्थात् अनश्वर है, अजोनी सेभ, महान तथा दयालु है। उन्होंने अद्वैत वेदांत की स्थापना के अनुसार यह स्थापना भी दी कि परमात्मा हमारे अत्यंत निकट भी है और दूर भी है -

''गावै को जापै दिसै दूर
गावै को वेखै हदराहदूरि।''

गुरु नानक देव के व्यक्तित्व के बारे में डॉ. नामदेव उतकर ने लिखा है - **''दार्शनिक, योगी, धर्मसुधारक, समाज सुधारक, कवि, देशभक्त, निराकारवादी थे। पर अवतारवादी, मूर्तिपूजा, ऊँच-नीच, वर्ण-भेद उन्हें अमान्य था। वे सुशिक्षित तथा बहुश्रुत थे। उन्हें संतों का सत्संग बहुत प्यारा था, गुरु नानक देव सिख मत के प्रवर्तक एवं संस्थापक थे। नानक ने अकाल पुरूष की प्राप्ति के लिए उपदेश दिए हैं।''** इसी तरह उन्होंने अपने काव्य में विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा भारत की सनातन और बहुलतावादी संस्कृति को किस प्रकार रौंदा जा रहा था इसका वर्णन भी उनकी रचनाओं में यथास्थान मिलता है। उस काल में जब बाबर के सैनिकों ने नानक को बंदी बना लिया था और उनको कई प्रकार याताएं दी गईं। इतना ही नहीं, बाबर के सैनिकों की क्रूरता ने जब भयंकर अत्याचार मचाया, नारियों तक को उनके केश काटकर धूल में घसीटा, धन और यौवन को लूटा आदि कष्टों को देख गुरु नानक की करुनाद्र वाणी ने परमात्मा तक को उपालम्भ देते हुए कहते हैं -

''खुरासान खसमाना कीया हिन्दुस्तान डराइआ।
आपे दोस न देई करता जमु करी मुगल चढ़ाइआ।
एती मार पई कुरलानै तै की दरदु न आइआ।
करता तूं सभना का सोई।
जे सकता सकते कउ मारे ता मनी रोसु न होई।''

अर्थात् खुरासान पर बाबर ने आक्रमण किया तो परमात्मा तुमने उसकी रक्षा की, किन्तु उसने हिंदुस्तान को अपने आतंक से भयभीत कर दिया तो भी तुमने उसको नहीं रोका, बल्कि स्वयं पर दोष से बचने के लिए तुमने

मुगलों को यमदूत-मृत्यु का दूत बनाकर भेज दिया। हिन्दुस्तान पर आक्रमण करा दिया। सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है, रोने की हृदय-विदारक चीखें सुनाई पड़ रही हैं, किन्तु तुम्हारा मन जरा भी नहीं पिघला। तुम्हें थोड़ा-सा दर्द भी नहीं जगा। तुम कैसे ईश्वर हो। नानक देव ने इन पंक्तियों में उस कालखंड में मुगलों द्वारा पंजाब ही नहीं, अपितु पूरे हिंदुस्तान पर ढाहे गए अत्याचारों का वर्णन किया है। इस्लामी शासकों की वीभत्स यातनाओं से अधिकांश लोग अपनी पूजा-पद्धति विस्मृत कर चुके थे। यहाँ तक कि उनके कोपभाजन से बचने के लिए अपनी मूल जीवनशैली और खानपान में भी सावधानी बरत रहे थे। नानक देव ने बिना किसी भय के 'एकं सत्' की वैदिक परंपरा का संदेश दिया। भारत के मूल आध्यात्मिक मूल्यों की पुनरुस्थापना और सिख पन्थ के संरक्षण में धर्म की रक्षा होते देख तत्कालीन साम्राज्यवादी शक्तियों की बौखलाहट बढ़ गई। नानक ने बाबर की इस बौखलाहट और उनके जैसे कई राजाओं द्वारा मासूम जनता पर किए गए अत्याचारों की कठोर शब्दों में निंदा की है –

''राजे सींह मुकदम कुत्ते।
जादू जगाइन बैठे सुत्ते।
चाकर नह्न्दा पाइन्ही घाउ।
रतु पितु कुतिहो चढ़ जाहु।
जिथे जिआ होसी सार।
नकी वडी लाइत बार।''

अर्थात् राजे व्याघ्र की भांति हिंसक हैं तथा उनके कर्मचारी कुत्तों की भांति लालची, जो लोगों को बिना वजह ही उत्पीड़ित करते हैं तथा अपने पैरों के नाखूनों से लोगों को घायल करते रहते हैं, एवं कुत्तों की भांति उनका रक्त चाट जाते हैं। जहाँ इनके कर्मों का हिसाब लिया जाएगा, वहाँ इनकी नाक काट ली जाएगी। नानक देव का यह व्यंगात्मक लहजा वर्तमान राजसत्ता एवं उसके कर्मचारियों पर ज्यों का त्यों सटीक बैठता है। आज भी यथास्थान सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी हिंसक दिखाई देती हैं कि लगता है ईश्वर तो छोड़िए इंसानियत का ही लोप होता नजर आता है।

नानक देव अपने काव्य में ईश्वर पर ही नहीं, उन अनैतिक, अकर्मण्य, धूर्त और स्वार्थी राजाओं को भी नहीं बख्शा जिन्होंने जिस सोने के चिड़ियाँ जैसी रत्न रूपी भारत देश की आन-बान को नष्ट किया है। वे कहते हैं कि मरने के बाद इन कुत्तों का कोई नामलेवा भी नहीं होगा, सार-संभाल करने वाला कोई नहीं होगा –

''रतन बिगाड़ी विगोए कुत्ती
मोईआं सारं न काइ।''

इन शब्दों में नानक देव के शब्द ही नहीं समस्त हिंदुस्तान की आम जनता के हृदय की सामूहिक पुकार चीख बनकर सुनाई देती है। वर्तमान समय में मॉब लीचिंग, धार्मिक मूल्यों को लेकर घटने वाली घटनाएं हिंदुस्तान के रत्न की धूमिल होती चमक ही नहीं, उसका अस्तित्व ही मिट्टी में मिला रही है।

आज के युग की वैज्ञानिक और तर्कशील सोच हर विचार को अपनी बुद्धि के पैमाने पर परखती है। मध्यकालीन युग में गुरु नानक ने भी यही कहा कि कोई भी बात इसलिए स्वीकार मत करो क्योंकि उस विचार का अनुपालन आपकी परंपरा या लंबे समय से किया जा रहा है। अपितु किसी के विचारों में छिपे मूल सत्व के पीछे की धारणा को अपनी बुद्धि की कसौटी पर परखो फिर उसे अपने जीवन का सूत्र बनाओ। उनके विचारों की यह तर्कशीलता ही आज की पीढ़ी को पसंद आती है जिससे उनकी वाणी तत्कालीन समाज में अपना स्थान कायम किए हुए हैं। उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से बहुजन हिताए के लिए सदाचार और नैतिक भावना पर बल दिया। साथ ही इस वर्गीकृत समाज में एक परमात्मा एवं सभी उसी बीज परम् तत्व से उत्पन्न संतानें हैं –

''एक पिता एकस के हम बारक।''

इसी एक पिता की हम सब सन्तान हैं, हमें इसकी संतानों में स्थित परमात्मा की ज्योति को पहचानने की आवश्यकता है। वे कहते है जब भी किसी की जान-पहचान करनी हो उसकी जाति-मजहब-आदि ना पूछे बल्कि, उसके भीतर की ज्योति को पहचाने जिसमें वह ईश्वर प्रकाशित है –

''जानहु जोति न पूछहु जाती आगे जाति न हे।''

अर्थात् हम सभी को इस समाज में ये भेदभाव भुलाकर एक पिता की सन्तान की भांति जीवन जीना चाहिए। जहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं। लेकिन इस समाज में मनुष्य ने अपनी सुविधानुसार इसका विभाजन कर रखा है और ऊँच-नीच, जाति-पांती का पाखंड खड़ा किया हुआ है। भारतीय संविधान में भी समानता का अधिकार दिया गया है फिर भी इस समाज में अमीर-गरीब, अछूत,

ऊँच-नीच, जाति के नाम पर मनुष्यता रौंदी जा रही है। इस मन्दिर-मस्जिद, छुआछूत जैसी कुरीतियों पर गुरु नानक साहब कई वर्षों पहले ही कह दिए थे कि -

''नीचा अंदरि नींच जाति नीची हूं अति नीच।
नानक तिनके संगि साथि वडीआ सू किआ रीस॥''

अर्थात् जो नीचों में नीच जाति तथा उस नीच जाति में भी सबसे नीची जाति है नानक सदैव ही उनके साथ हैं। जो व्यक्ति स्वयं को दूसरों से ऊँचा और बड़ा मानते हैं, उनसे मेरा कोई संबंध नहीं है। उन्होंने तत्कालीन समाज में जो भ्रष्ट और सम्मानहीन जीवन जी रहे हैं, उस वर्ग को केन्द्रित कर वे कहते हैं -

''जे जीवै पति लथी जाये।
सभु हरामु जेता किछु खाए॥''

वर्तमान दौर में आधुनिक व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता और एकता की बड़ी-बड़ी बातें करता है। किन्तु वह इस मानसिकता को अपने जीवन में कितना उतार पाया है यह सोचने का विषय है। गुरु नानक ने अपने संदेशों में लगातार धार्मिक पाखंडों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों आदि से दूर रहने का उपदेश दिया है, वे कहते हैं कि-

''गऊ बिराहमण कउ करु लावहु गोबरि तरण न जाई।
धोती टिका तै जपमाली धानु मलेछां खाई॥
अंतर पूजा पडहि कतेबा संजुम तुरका भाई।
छोडिले पाखंडा नाम लईहि जाहि तरंदा॥''

अर्थात् तुम गऊ और ब्राह्मण पर कर लगाते हो, धोती तिलक माला धारण करके धान तो म्लेच्छों का उगाया हुआ ही खाते हो। घर के अंदर पूजा करते हो और बाहर शासकों को प्रसन्न करने के लिए कुरान पढ़ते हो। यह सब पाखंड छोड़कर उसका नाम लो जो तुम्हें इस संसार से पार करने वाला है। गुरु नानक की यह व्यंग्यमयी शैली आधुनिक युग भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'अंधेर नगरी' में भी दिखाई पड़ती है जहां सरे बाजार में जात वाला ब्राह्मण अपनी ही जात बचने के लिए टके सेर भाव लगा उसके खरीददार ढूंढ़ रहा है।

गुरु नानक तथा उनकी परम्परा ने योगियों की भांति उत्पीड़न और निवृत्ति में विश्वास न रखते हुए पारिवारिक क्षेत्र में ही सद्गुणी विकास द्वारा मन के संयम एवं अहं के विनाश की बात की है। साथ ही अपने तत्कालीन समाज में चमत्कार दिखाने वाली परिपाटियों के विरुद्ध तथा गुहा रहस्यमय साधना पद्धतियों के विपरीत, बड़े ही सीधे और व्यावहारिक ढंग से कर्म साधना का मार्ग अपनाने पर बल दिया है। सूर्य को जल चढ़ाना, पिंडदान करना, मक्का शरीफ में मौलवियों द्वारा खुदा के घर की ओर पैर न करने की हिदायत आदि घटनाएँ उनके जीवन में बड़े बदलाव का कारण बनी। मौलवियों को अल्लाह के घर की ओर पैर न करने के प्रतिउत्तर में नानक देव कहते हैं कि मेरे पाँव उस ओर कर दो जहाँ तुम्हारे अल्लाह का घर नहीं है। इसी तरह गुरु ग्रन्थ साहिब में नानक द्वारा कई चमत्कारिक कार्यो का वर्णन मिलता है, किन्तु उन कार्यों के पीछे यदि तार्किकता लगाई जाए तो उनमें चमत्कारिकता नहीं अपितु एक वैज्ञानिक सोच दिखाई देगी। जैसे गुरु नानक द्वारा पहाड़ों पर पंजा लगा देने से पानी का सोता झर-झर बहने लगा, इस घटना के पीछे का परिपेक्ष्य खोजा जाए तो यह उनके हाथ का चमत्कार नहीं अपितु उनकी कुशल बुद्धिमत्ता का परिचय है जो उनके शिष्यों को बतलाता है कि पहाड़ों पर उगी हरी-हरी घास का यह अंश जरूर पानी का स्रोत होगा यहाँ से पत्थर हटा कर पानी खोजा जा सकता है। नानक देव के बाद आने वाले नौवें गुरु तेग बहादुर ने औरंगजेब द्वारा यह शर्त रखे जाने पर भी कि या तो चमत्कार दिखाओ या सीस कटवाओ, तब उस परिस्थिति में गुरु तेग बहादुर ने चमत्कार की बजाए अपना सीस कटवा कर यह सिद्ध किया कि उनकी साधना कर्म में है न कि किसी पाखंड-चमत्कार में। वे ब्राह्मण की अपेक्षा ब्रह्म का, धर्म की अपेक्षा धार्मिकता, संग्रह की अपेक्षा त्याग, स्वार्थ की जगह परार्थ, मानवी चमत्कार की बजाए ईश्वरीय चमत्कार को प्रधानता दी हैं। वे योग धारण करने में, हाथ में डंडा ले लेने में, शरीर पर भस्म आदि रमा लेने से, कानों में कुंडल पहनने, श्रृंगी बजाने में, सर मुंडवाने में विश्वास नहीं करते। अपितु ऐसी साधना पर व्यंग्य करते हुए कहते है कि -

''जोगु न खिंचा जोगु न डंडे जोग न भसम चढाइहे।
जोग न मुंदी मुंडी मुडाइये जोगु न सिंधी बाईए।
अंजन माहि निरंजनी रहिये जोगु जुगति इव पाईये।

* * * * * * * *

एक दृसटि करि समसरि जाणे जोगी कहिये सोई॥''

अर्थात् वास्तविक योगी वह है जो सभी को समान दृष्टि से देखता हो। नानक ने धर्म-सम्प्रदायों द्वारा फैलाई गई भ्रांतियों, अंधविश्वासों के जंजालों को आध्यात्मिक

तर्कों से काटकर मानवता का मार्ग प्रशस्त्र किया।

उत्तरी भारत के संतों ने समाज के अभावों और ह्रास को बहुत करीब से देखा था। वे पतनोमुखी मानवीय जीवन मूल्यों से परिचित थे और समाज में बढ़ते हुए पाखंड व कर्मकांड के साक्षी थे। वे समझ रहे थे कि कैसे परमात्मा के टुकड़े कर मनुष्य एक–दूसरे का गले काटने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। इसलिए उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से समाज के रूढ़िवादी ढकोसलों को तोड़ने की पहल की। कबीर का अपना घर फूंक कर साथ चलने का आह्वान इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। गुरु नानक भले आदमियों को उजड़ने और बुरे लोगों को बसे रहने का आशीर्वाद इसी संवेदना से परिचालित होकर देते हैं। यही उस युग के सांस्कृतिक आन्दोलन का शंखनाद था।[5]

आज के आधुनिक समाज में धर्म के नाम पर यह धार्मिक आडम्बर, चमत्कारिक प्रपंच, बाबावादी प्रवृत्तियां अपनी जड़ें जमाती जा रही हैं, जिससे इंसानों में दिन–प्रतिदिन इंसानियत समाप्त होती नजर आती है। समाज से लेकर सिनेमा तक अन्धविश्वास, भूत–पिशाच, बनावटी ग्रह–दशा संचालन के बाबा आदि अपना अपना धंधा बना बड़े–बड़े नामी–ग्रामी चैनलों का हिस्सा बन बैठे हैं। नानक देव में अपने काव्य में बहुत पहले ही उसकी पोल खोली है कि कैसे यह भोली–भाली मासूम जनता को धर्म–पाखंड के नाम पर बेवकूफ बना रहे हैं। समाज की अस्वस्थ रुग्ण पंरपराओं, रुढियों का जमकर विरोध किया गया। बिगड़ती हुई वर्णाश्रम व्यवस्था, परिवार, रिश्ते–नाते, स्त्री का तिरस्कार, मात्र मौनार्क्षण वस्त्राभूषण, मिथ्या कर्मकांड, चुगली–चोरी, दूसरो का हक मारना, तृष्णा, अभिमान, निर्बल का रक्त शोषण आदि को जड़ से उखाड़ने का प्रयास गुरुवाणी में किया गया है। मध्यकाल की यह संत परम्परा किसी भी धर्म की बात नहीं करती बल्कि, वह हमें धार्मिकता का पाठ पढ़ाती है। धर्म के नाम पर की जाने वाली बाह्य दिखावट को छोड़ आंतरिक शुद्धि की बात करती हैं। बाजारीकरण के वर्तमान समय में इस असमानता को मिटाने के लिए तथा समाज की खोखली जड़ों को एक बार फिर गुरु नानक की वाणी द्वारा सींचने की जरूरत है।

सहायक प्राध्यापक (तदर्थ पद)
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. धीरेन्द्र वर्मा – संपा. साहित्यिक शब्द कोश, पृष्ठ सं. – 415
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी – कबीर, पृष्ठ सं. – 122
3. गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ सं. – 68
4. डॉ. नामदेव उतकर – हिंदी साहित्य की युगीन प्रवृत्तियां, पृष्ठ सं. – 90
5. मनमोहन सहगल, ओमप्रकाश शास्त्री – मध्यकालीन हिंदी साहित्य : पंजाब का सन्दर्भ, पृष्ठ सं. – 67

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ सूची

1. धीरेन्द्र वर्मा – संपा. साहित्यिक शब्द कोश, बनारस : ज्ञान मंडल, प्रथम संस्करण 1958
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी – कबीर, बम्बई : हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर, छठा संस्करण, 1960
3. डॉ. नामदेव उतकर – हिंदी साहित्य की युगीन प्रवृत्तियां, आशा प्रकाशन, दिल्ली
4. मनमोहन सहगल, ओम प्रकाश शास्त्री – मध्यकालीन हिंदी साहित्य : पंजाब का सन्दर्भ, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 1985
5. महिंद्र कौर गिल – गुरु ग्रन्थ साहिब की सम्पादन कला, न्यू ऐज बुक सेंटर, अमृतसर, 1982
6. बलदेव वंशी – भारतीय संत परंपरा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
7. डॉ. गुरनाम कौर बेदी – गुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित भक्त एवं भट्टवाणी, निर्मल प्रकाशन, दिल्ली 2005
8. कृष्ण रेना – हिंदी निर्गुण संत काव्य, दर्शन और भक्ति, शारदा प्रकाशन, दिल्ली, 1977

डॉ. पिंकी पुनिया* डॉ. ऋतेष भारद्वाज**

नारीवाद की गत्यात्मकता
The Dynamatics of Feminism

राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत लिंगभेद की समस्या समाज में स्त्री की स्थिति के साथ जुड़ी हुई है इसका मुख्य मुद्दा यह है कि समाज में लिंग के आधार पर स्त्रियों के साथ भेदभाव और अन्याय बढ़ता जाता है। इस अन्याय के विरुद्ध विभिन्न स्तरों पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं उन्हीं सामूहिक रूप से नारीवाद या नारी मुक्तिवाद की संज्ञा दी जाती है। संक्षेप में, नारीवाद पितृसत्ता या पित्रतंत्र को सामाजिक व्यवस्था का प्रधान लक्षण मानता है। यह पुरुष प्रधान समाज के प्रति एक विद्रोह का आरंभ है। नारीवादियों के अनुसार, स्त्रियां एक ऐसा समूह है जो समस्त स्त्रियों को भगिनी समाज के रूप में होने की प्रेरणा देती है जो वर्ग या प्रजाति की सीमाओं से परे हो अर्थात् स्त्रियों में चाहे कोई धनवान स्त्री हो या निर्धन उच्च जाति की हो या निम्न जाति की श्वेत हो या अश्वेत इस अंतर को भुला स्त्रियों को पुरुषों के विरुद्ध एकजुट हो जाना चाहिए और अपनी मुक्ति गरिमा के लिए संघर्ष करना चाहिए।

नारीवाद स्वयं राजनीति के नहीं परिभाषा की मांग करता है इसका दावा है कि पुरुष की शक्ति केवल हमारे सार्वजनिक जीवन तक ही सीमित नहीं है बल्कि हमारे जीवन के नितांत व्यक्तिगत क्षेत्र तक फैली हुई है। मतलब यह है कि पितृसत्तात्मक प्रभाव केवल स्त्रियों के सार्वजनिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता बल्कि परिवार और यौन संबंध जैसे नितांत व्यक्तिगत क्षेत्रों में भी स्त्रियों पर पुरुषों के अधिपत्य का सूचक है। नारीवाद यह मांग करता है कि जीवन के जिन क्षेत्रों को व्यक्तिगत मानकर राजनीति के दायरे से बाहर रखा जाता है, राजनीतिक विचार विमर्श के दायरे से बाहर रखा जाता है उसकी राजनीतिक प्रकृति को मान्यता दी जानी चाहिए और इस क्षेत्र में भी पुरुष शक्ति और उसके अन्याय को चुनौती दी जानी चाहिए।[1] संक्षेप में, कहा जा सकता है कि नारीवाद पुरुषों के मुकाबले नारी की स्थिति, भूमिका, अधिकारों और गरिमामय जीवन से सरोकार रखता है। नारी की पराधीनता, अधीनता और नारी के प्रति होने वाले अन्याय पर ध्यान केंद्रित करता है और इनके प्रतिकार के उपायों पर विचार करता है। नारीवाद का दावा है कि अतीत और वर्तमान समाजों में स्त्रियों को केवल स्त्री होने के कारण अन्याय सहन करना पड़ा है और आज भी अन्याय उनके साथ लगातार हो रहा है। हम देख सकते हैं आज महिलाओं के प्रति बढ़ते हुए अब कटौती नहीं बल्कि इजाफा ही हो रहा है। ऐतिहासिक रूप से यदि देखा जाए तो नारीवादी आंदोलन के कुछ मुख्य मुद्दे देखने को मिलते हैं मसलन *पहला* स्त्रियों के अधिकारों को मानव अधिकारों के रूप में मान्यता दी जाए, *दूसरा* संपूर्ण सामाजिक जीवन में स्त्री और पुरुष के बीच समानता को स्वीकार किया जाए और *तीसरा* स्त्रियों को परंपरागत पराधीनता से मुक्ति प्रदान करने के लिए स्त्रीत्व की नई परिभाषा की जाए।

लिंगभेद और लिंगरूप (Sex and Gender)

लिंगभेद का विचार यह संकेत देता है कि प्रकृति ने स्त्री-पुरुष की शारीरिक संरचना और कृत्य में जो अंतर स्थापित किया है वह उनकी सामाजिक स्थिति में उनके साथ होने वाले विषम व्यवहार का आधार नहीं हो सकता। इसी तर्क को समझने के लिए हमें लिंगरूप और लिंगभेद में अंतर समझना होगा। प्रस्तुत संदर्भ में लिंगरूप से यह

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

संकेत मिलता है कि प्रकृति ने स्त्री के शरीर को पुरुष के शरीर से भिन्न बनाया है उसके कुछ अंग एक जैसे हैं, तो कुछ अंग रचना और कृत्य की दृष्टि से भिन्न हैं। प्राकृतिक नियम की दृष्टि से स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं, जिसे सृष्टि और समाज को चलाने में सहायता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, लिंगरूप स्त्री व पुरुष के मध्य जैविक अन्तर को दर्शाता है।[2]

दूसरी ओर, लिंगभेद का विचार एक समाजवैज्ञानिक तथ्य (Sociological Fact) की ओर संकेत करता है। यह समाज में स्त्री-पुरुष की भिन्न-भिन्न स्थिति का द्योतक है। इसका दावा है कि समाज में स्त्री को न केवल पुरुषों की तुलना में हीन समझा जाता है, बल्कि स्त्री की यथार्थ मूल्यवता व गरिमा की उपेक्षा की भी उपेक्षा की जाती है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन में स्त्री जो भूमिका निभाती है और जो भूमिका निभाने की क्षमता रखती है, उसे उपयुक्त सम्मान नहीं दिया जाता। समाज में युग-युगांतर से स्त्री को जिस तरह की स्थिति में रखा गया है वह तर्क पर आधारित नहीं है बल्कि यह अन्याय का और सोची-समझी शोषण की रणनीति का सजीव उदाहरण है। लिंगभेद स्त्री के सर्वव्यापक दमन, शोषण और हिंसा की ओर संकेत करता है और सभी नारीवादियों का मानना है कि अब स्थिति पर पुनर्विचार करके स्त्री के योगदान और योग्यता को उपयुक्त महत्त्व दिया जाना चाहिए।[3]

सभी नारीवादियों का यह भी तर्क है कि आजकल समाज में स्त्रियोचित और पुरुषोचित गुणों के बारे में बहुत सारी पूर्वअवधारणाएं प्रचलित हैं और स्त्रियों तथा पुरुषों में इन्हीं गुणों को प्रोत्साहित भी किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, समाज में पुरुष को दबंग माना जाता है और स्त्रियां दबकर रहती हैं। पुरुष क्रोध करेगा तो स्त्री शांत रहेगी। पुरुष अपने मन की भावनाओं को छुपाता है और स्त्रियाँ अपने मन की भावनाओं को प्रकट कर देती है। कई बार तो यहाँ तक कह दिया जाता है, क्या स्त्रियों की तरह रोना लगा रखा है, मर्द रोते नहीं है। पुरुष और स्त्रियों की इस भिन्न-भिन्न छवि के पीछे कोई जीववैज्ञानिक कारण नहीं है बल्कि यह हमारी सामाजिक संस्कृति की ही देन है। दूसरे शब्दों में, यह नियंत्रण और दमन प्रकृति की देन नहीं है बल्कि समाज की सुचिंतित योजना का ही परिणाम है और हम समाज के दृष्टिकोण को बदलकर इन विकृतियों से मुक्ति पा सकते हैं।

नारीवादियों के अनुसार आज के युग में वैज्ञानिक चिंतन, शिक्षा और व्यवसाय से जुड़े अनेक अवसरों के विस्तार के साथ यह सिद्ध हो चुका है कि स्त्री-पुरुष की मानसिक क्षमताओं में, निर्णय लेने की शक्ति में और उत्तरदायित्व से जुड़ी हुई योग्यताओं में कोई अंतर नहीं है। आज स्त्रियों ने उन्हें विश्व के प्रत्येक देश में, प्रत्येक क्षेत्र में अनेक उपलब्धियाँ हासिल की हैं। आज यह सिद्ध हो चुका है कि स्वभाव से स्त्री को अबला या कमजोर माना तर्कसंगत नहीं है। अधिकांश स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास इसलिए भी नहीं हो पाता क्योंकि वे अधिकांश समय गृहकार्य और बच्चों के लालन-पालन में बिताती हैं जिसके चलते उच्च शिक्षा और व्यवसायिक प्रशिक्षण में इन्हें समुचित अवसर नहीं मिल पाते और जहाँ-जहाँ स्त्रियों को ऐसे अवसर मिले हैं वहाँ उन्होंने अपनी क्षमता और योग्यता का परिचय भी दिया है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि स्त्रियों की हीन या फिर दोयम दर्जे की स्थिति सामाजिक व्यवस्था की देन है इसमें प्राकृतिक व्यवस्था का कोई योगदान नहीं है।

नारीवाद का उदय (Rise of Feminism)

समकालीन संदर्भ में नारीवादी आंदोलन का प्रारंभ 1970 के दशक से शुरू हुआ परंतु स्त्री-पुरुष के बीच असमान व्यवहार संबंधित विवाद प्राचीन समय से ही चला आ रहा है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक *प्लेटो* ने संरक्षक वर्ग के अंतर्गत स्त्री-पुरुष की समानता को स्वीकार किया था, परंतु प्लेटो के शिष्य अरस्तु ने पुरुषों की तुलना में स्त्री की हीनता पर बल देते हुए उन्हें दासों के समकक्ष रखा था। वास्तव में प्राचीन काल और मध्य युग में नारियों की स्थिति के विरुद्ध किसी प्रकार के आंदोलन का संकेत नहीं मिलता। नारीवादी आंदोलन के आरंभिक संकेत हमें 18वीं और 19वीं शताब्दी के यूरोपीय चिंतन में देखने को मिलते हैं।[4]

नारीवादी आंदोलन की प्रथम अभिव्यक्ति हमें उदारवादी परंपरा के अंतर्गत देखने को मिलती है, जिसमें मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट ने अपनी चर्चित कृति *'दी विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वूमेन'* में स्त्रियों को कानूनी, राजनैतिक और शैक्षिक क्षेत्रों में समानता प्रदान करने के औचित्य को स्थापित किया था।[5] मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट ने विशेष रूप से उन अवधारणाओं को चुनौती दी थी जिनमें स्त्री और पुरुषों से अलग-अलग सद्गुणों की आशा की

जाती थी। अर्थात् इन्होंने सामाजिक जीवन में स्त्री–पुरुष की एक–जैसी स्थिति और भूमिका की मांग की। आगे चलकर जे. एस. मिल ने अपने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सब्जेक्शन ऑफ वूमेन' (स्त्रियों की पराधीनता) के अंतर्गत यह तर्क दिया कि स्त्री–पुरुष का संबंध मित्रता पर आधारित होना चाहिए न कि प्रभुत्व और पराधीनता की स्थिति पर मिल ने विशेष रूप से विवाह कानूनों में सुधार और स्त्री मताधिकार पर बल देते हुए कहा कि योग्य और प्रतिभाशाली स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।[6]

उदारवादी नारीवाद के पश्चात, 19वीं शताब्दी में मार्क्सवाद के प्रवर्तकों ने स्त्री–पुरुष के परस्पर संबंधों में गहरी दिलचस्पी जाहिर की और उन्होंने लिखा है कि परिवार संस्था श्रम विभाजन का सामान्य स्रोत है जिसमें स्त्री–पुरुष का संबंध प्रभुत्व और निजी संपत्ति की धारणाओं के इर्द–गिर्द दिखाई देता है। देखा जाए तो परिवार के भीतर पुरुषों की स्थिति बुर्जुआ वर्ग (पूंजीपति) के तुल्य है और स्त्री की स्थिति सर्वहारा के समानांतर है। मार्क्सवादियो ने तर्क दिया कि जब पूंजीवादी प्रणाली का अंत हो जाएगा तब निजी गृह कार्य सार्वजनिक उद्योगों को सौंप दिया जाएगा और तभी स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर सकेंगी।

उधर नारीवाद के समाजवादी धारा के समर्थकों ने तर्क दिया था कि स्त्रियों का शोषण पूंजीवादी शोषण का ही एक अंग है जो स्त्री के श्रम को बाजार में बिकने वाले सस्ते श्रम के रूप में देखते हैं। इन्होंने आह्वान किया था कि सभी स्त्रियों को एकजुट होकर पूंजीवाद के खिलाफ क्रांति कर देनी चाहिए। वहीं समलैंगिक स्त्रीवाद (Lesbian Feminism) के समर्थकों ने यह विचार रखा कि विषम लिंगरति (Hetro-Sexuality) की प्रवृत्ति ही स्त्रियों के दमन का मूल कारण है इसलिए स्त्रियों को जहाँ तक संभव हो सके पुरुषों के संपर्क से दूर रहना चाहिए और स्त्रियों के संपर्क में ही अपना सुख ढूंढना चाहिए।[7]

व्यावहारिक स्तर पर स्त्री मताधिकार से जुड़े आंदोलन यूरोप और अमेरिका में 19वीं शताब्दी के अंत में प्रकट हुए। सबसे पहले इन्हें फिनलैंड और नॉर्वे में सफलता मिली। बीसवीं शताब्दी के मध्य तक बहुत सारे देशों में स्त्रियों को मताधिकार मिल चुका था। परंतु विधानमंडलों के चुनाव जीतने में इन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली थी। केवल आइसलैंड में स्त्रियों के राजनैतिक दल ने वहाँ के विधानमंडल में कई स्थान जीते थे। जब यूरोप और अमेरिका की स्त्रियों ने अनुभव किया कि मताधिकार मिल जाने के बावजूद भी व्यावहारिक स्तर पर उन्हें पुरुषों के बराबर सत्ता, अधिकार और महत्त्व नहीं मिल पाया है। तो 1960 के दशक में उन्होंने नारीमुक्ति आंदोलन चलाया। जिसका लक्ष्य स्त्री–पुरुष असमानता के प्रत्येक रूप की आलोचना करते हुए समाज में जागरूकता को पैदा करना था। इस दौरान स्त्री शिक्षा का भी पर्याप्त विस्तार हो चुका था और बहुत सारे क्षेत्रों में स्त्रियाँ नौकरियाँ करने लगी थीं। ऐसे हालात में उग्रवादियों (Radicals) ने तर्क दिया कि स्त्रियों को ऊँचे पदों पर इसलिए नियुक्तियाँ नहीं दी जाती क्योंकि पुरुष उन्हें अपने साथ बराबरी का दर्जा देने को बिल्कुल भी तैयार नहीं है। इस स्थिति के प्रतिकार के लिए स्त्रियों ने अपने दबाव समूह संगठित करने चाहिये ताकि लिंग पर आधारित भेदभाव को ठीक उसी प्रकार समाप्त किया जा सके जिस प्रकार अश्वेत लोगों ने प्रजातीय भेदभाव को मिटाने के लिए प्रयास किए थे।

कुछ नारीवादियों का यह भी मानना है कि समाज में प्रचलित भाषा ही पुरुषों के प्रभुत्व की पुष्टि करती है। इसलिए उनकी मांग है कि जहाँ किसी न किसी तरह की सत्ता का प्रयोग का संकेत दिया जाता हो, वहाँ हमें लिंग निरपेक्ष भाषा (Gender Neutral Language) के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिए। उदाहरण के लिए चेयरमैन की जगह चेयरपर्सन जैसे शब्दों का प्रयोग बेहतर होगा। ईश्वर को साधारणता: परमात्मा, परमपिता इत्यादि अनेक नामों से पुकारा जाता है और उसे पुलिंग के रूप में मान्यता दी जाती है। नारीवादी चाहते हैं कि ईश्वर शब्द का प्रयोग उभय लिंग (Common Gender) के रूप में करना चाहिए और ईश्वर के लिए He या She की जगह सर्वनाम It का प्रयोग अधिक संगत होगा। यह नारीवादियों की निरंतर कोशिशों का ही परिणाम था कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1976 से 1985 के दशक को नारी दशक घोषित किया। इस दौरान स्त्रियों की समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करने के लिए वैश्विक पटल पर तीन विश्व नारी सम्मेलन आयोजित किए गए। प्रारंभ में इस विषय पर विकसित और विकासशील देशों की नारीवादियों में कुछ मतभेद उभरे थे परंतु 1985 के नैरोबी के तृतीय विश्व नारी सम्मेलन के समय इनमें एकता के लक्षण दिखाई देने लगे थे।[8]

समकालीन विश्व में स्त्री सशक्तिकरण का मुद्दा नारीवादी परिदृश्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। इसका एक पक्ष यह है कि शासन के विभिन्न अंगों में तथा मंत्रिमंडल, विधानमंडल, न्यायपालिका तथा प्रशासनिक सेवाओं में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर लगभग 50 प्रतिशत का हिस्सा मिलना चाहिए और अन्य पदों पर जैसे कि विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों के रूप में, न्यायालयों में अधिवक्ताओं के रूप में, चिकित्सा सेवाओं में, इंजीनियरिंग सेवाओं में, पत्रकारिता में, कॉर्पोरेट जगत के उच्च पदों पर इत्यादि में भी स्त्रियों को पुरुषों के बराबर हिस्सा मिलना चाहिए। यथार्थ के धरातल पर चाहे हम विकसित देशों की बात करें या विकासशील देशों की बातें, आज भी निर्णय निर्माण स्त्रियों की हिस्सेदारी और सहभागिता बहुत कम है। हालांकि वह बात अलग है कि धीरे-धीरे इनकी सहभागिता बढ़ रही है। वर्ष 2019 में भारतीय विधानमंडल में स्त्रियों की सहभागिता लगभग 14 प्रतिशत के आसपास है जो कि अब तक की सभी लोकसभा में सबसे ज्यादा सहभागिता है।[9] आज महिलाओं की वैश्विक राजनैतिक हिस्सेदारी या सहभागिता सबसे अधिक प्रतिनिधित्व स्वीडन में है जो कि लगभग 45 प्रतिशत है। यूरोप और अमेरिका के बाहर के देशों में राजनीतिक सत्ता में इसका हिस्सा बहुत ही कम है, हालांकि यहाँ कुछ स्त्रियों को सर्वोच्च पदों पर पहुँचने में सफलता अवश्य मिली है। श्रीलंका, भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश और इजराइल में महिला प्रधानमंत्री रह चुकी है। वर्ष 2005 और 2019 में जर्मनी में महिला चांसलर पद संभाल चुकी है। 2006 के आरंभ में चिली और लाइबेरिया में भी महिला राष्ट्रपति पद पर पहुँच गई थी और भारत में भी वर्ष 2007 में प्रतिभा पाटिल ने एक महिला राष्ट्रपति के रूप में देश का प्रथम नागरिक बनने का गौरव प्राप्त किया था।

नारीवाद की धाराएं (Waves of Feminism)

नारीवादी आंदोलन के अंतर्गत अनेक प्रकार के विचार और कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए हैं। मोटे तौर पर हम इस आंदोलन के तीन मुख्य मुख्य धाराओं को पहचान सकते हैं, (क) उदारवादी नारीवाद, (ख) समाजवादी नारीवाद, (ग) उग्र नारीवाद।

उदारवादी नारीवाद (Liberal Feminism)

उदारवादी नारीवाद, उदारवाद से जुड़ी हुई मान्यताओं के आधार पर स्त्री की दशा में सुधार की मांग करता है। यह सिद्धांत आधुनिक युग में नारीवाद की आरंभिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। उदारवादी नारीवाद पश्चिमी देशों में प्रचलित उदार संस्थाओं में आवश्यक सुधार की वकालत करता है। उदारवादी नारीवाद की प्रथम अभिव्यक्ति हमें 18वीं शताब्दी के अंतिम दशक में मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट की पुस्तक विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वूमेन के अंतर्गत दिखाई देती है।[10] मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट ने उदार लोकतंत्र के प्रचलित ढांचे के भीतर स्त्री-पुरुष के बुनियादी समानता स्थापित करने की मांग करते हुए स्त्री-पुरुष दोनों को विवेकशील प्राणी माना है। मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट का मानना था कि स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा जाता है और सार्वजनिक जीवन में भी उपयुक्त भूमिका निभाने नहीं दी जाती। इन्हें विलासिता की दृष्टि से देखा जाता है, एक विवेकशील प्राणी के रूप में नहीं। इस छवि को बदलने के लिए वोलस्टोनक्राफ्ट ने स्त्री शिक्षा, स्त्री मताधिकार और मित्रता पर आधारित विवाह प्रणाली का समर्थन किया।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जॉन स्टूअर्ट मिल अपनी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक सब्जेक्शन ऑफ वूमेन (स्त्रियों की पराधीनता) में स्त्री-पुरुष की बुनियादी समानता पर बल देते हुए दोनों को विवेकशील प्राणी माना और इन दोनों की एक जैसी प्रकृति की ओर संकेत दिया।[11] मिल ने उपयोगितावाद के सिद्धांत का जिक्र करते हुए तर्क प्रस्तुत किया कि यदि समाज स्त्री-पुरुष दोनों की एक जैसी योग्यताओं का सदुपयोग नहीं करता तो उससे समाज को बहुत हानि होगी। मिल इस बात पर गहरा खेद प्रकट किया है कि विवाह हो जाने के उपरांत स्त्री पर पुरुष का नियंत्रण स्थापित हो जाता है। नियंत्रण के बजाए, यदि दोनों का संबंध मित्रता पर आधारित हो तो दोनों का जीवन सहज व सरल बन सकता है। इसी दृष्टिकोण को बढ़ावा देने के लिए मिल ने संपत्ति, कानून विवाह, स्त्री मताधिकार और कानून में संशोधन की बात की।

बीसवीं शताब्दी के दौरान अमेरिकी नारीवादी बैटी फ्रीडन ने उदारवादी नारीवाद में अपना योगदान देते हुए व स्त्रियों की स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के लिए समकालीन उदारवादी समाज की संस्थाओं को बनाए रखना चाहती थी। फ्रीडन ने अपनी पुस्तक फेमिनिन मिस्टीक[12] (स्त्री रहस्य आवरण) के अंतर्गत यह तर्क दिया कि उदारवादी समाज के अंतर्गत व्यक्ति को स्वतंत्रता व स्वायत्तता का जो

अधिकार दिया जाता है, स्त्री को भी उससे वंचित नहीं किया जाना चाहिए। इसने स्त्रियों के लिए शिशु ग्रह सुविधाओं का समर्थन किया ताकि वह अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व के साथ-साथ सफल व्यवसायिक जीवन भी अपना सकें।

उदारवादी नारीवाद के समकालीन समय में अमेरिकी नारीवादी कैरोल पैटमैन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सेक्सुअल कॉन्ट्रैक्ट[13] के अंतर्गत सामाजिक समझौते के उदारवादी सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा था कि इस समझौते की संकल्पना में स्त्रियों की स्थिति के साथ न्याय नहीं हुआ है। कैरोल पैटमैन सामाजिक समझौते की संपूर्ण परिकल्पना के संदर्भ में कहती हैं कि जिस तरह इसमें व्यक्ति की सहभागिता, दायित्व और सहमति की व्यवस्था की गई है उसमें यह विचार अंतर्निहित है कि स्त्री केवल पुरुष के अधीनस्थ के रूप में प्राकृतिक दशा से नागरिक समाज की ओर परतंत्र व्यक्ति के रूप में अग्रसर हो जाती है। परिणाम स्वरूप समाज के स्तर पर इससे सब स्त्रियों पर पुरुषों का अधिपत्य स्थापित हो जाता है। जब उदारवादी यह दावा करते हैं कि स्त्री-पुरुष का पारस्परिक संबंध केवल निजी संबंध है अर्थात् निजी दायरे में आता है तब वह इस विषय को राजनैतिक अन्वेषण अर्थात् राजनीतिक वाद-विवाद और राज्य के कानून निर्माण शक्ति के विचार क्षेत्र से बाहर कर देना चाहते हैं। कैरोल पैटमैन का मानना था कि सामाजिक समझौते के लिंग आधार को तभी ध्वस्त किया जा सकता है जब स्त्रियों को भी उसी अर्थ में व्यक्तियों (अधिकार सम्पन्न) का दर्जा दिया जाए जिस अर्थ में पुरुषों को दिया जाता है। अपनी दूसरी *'डिसऑर्डर ऑफ वूमेन : डेमोक्रेसी, फेमिनिज्म एंड पोलिटिकल थ्योरी'*[14] के अंतर्गत बैटमैन ने तर्क दिया है कि यदि हम स्त्रियों की पराधीनता के स्रोतों की पहचान कर लें तो राजनीति में उन संस्थाओं के पुनर्निर्माण को प्रारंभ किया जा सकता है जो लिंग आधारित विषमता से मुक्त हो।

समाजवादी नारीवाद (Socialist Feminism)

समाजवादी नारीवाद समाजवाद से जुड़ी हुई मान्यताओं के आधार पर स्त्री की स्थिति को बेहतर करने का रास्ता दिखाता है। यह सिद्धांत उदारवाद का खंडन करते हुए स्त्री-पुरुष में यथार्थ समानता को स्थापित करने की मांग करता है और समाज में स्त्री-पुरुष में परस्पर सहयोग और समुदाय भावना को स्थापित करना चाहता है। 19वीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांसीसी समाजवादी दार्शनिक चार्ल्स "यूरीय ने समाजवादी दृष्टिकोण से स्त्री-पुरुष की समानता स्थापित करने के उद्देश्य से यह तर्क दिया था कि बहुत सारे स्त्री-पुरुषों को सामूहिक विवाह के बंधन में बांधकर लघु समुदायों के रूप में रहना चाहिए और इस संबंध से पैदा होने वाले बच्चों का पालन पोषण भी मिल जुलकर करना चाहिए। इसके उपरांत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी पुस्तक द ओरीज़न ऑफ फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एंड द स्टेट[15] (परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति) के अंतर्गत यह तर्क दिया कि लिंग आधारित विषमता की उत्पत्ति का मुख्य स्रोत पितृसत्तात्मक व्यवस्था में ढूंढना चाहिए, जिसमें निजी संपत्ति के उत्तराधिकार को केवल पुरुषों तक सीमित कर दिया जाता है। एंगेल्स ने आशा व्यक्त की थी कि समाजवाद के आगमन से निजी संपत्ति की संस्था समाप्त हो जाएगी, स्त्रियों को गृहकार्य के भार से भी मुक्ति मिल जाएगी और सब कार्य सार्वजनिक उद्योगों को सौंप दिया जाएगा।

समाजवादी नारीवाद के समकालीन समर्थकों में ब्रिटिश लेखिका शीला रोबोथम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है उन्होंने अपनी दो विख्यात पुस्तकों 'वीमन, रेसिस्टेंस एंड रिवोल्यूशन' (स्त्रियाँ प्रतिरोध और क्रांति) तथा 'हिडेन फ्रॉम हिस्ट्री' (इतिहास का छिपा हुआ चेहरा) के अंतर्गत स्त्री जाति के इतिहास का पता लगाने की कोशिश की है जिसकी ओर अब तक इतिहासकारों ने कोई ध्यान नहीं दिया। शीला रोबोथम का मानना था कि स्त्रियों के अतीत का पता लगाकर उनके वर्तमान संघर्ष के लिए आवश्यक जानकारी जुटाई जा सकती है इस विचार की पुष्टि करते हुए इन्होंने अपनी नई पुस्तक 'द पास्ट इज बिफोर अस' (इतिहास हमारे सामने है) के अंतर्गत नारी-आंदोलन की विभिन्न धाराओं का विवरण प्रस्तुत किया और यह टिप्पणी की कि अतीत की जानकारी से हमें भविष्य के लिए दिशा मिल सकती है।

एक मार्क्सवादी होने के नाते शीला रोबाथम ने अनुभव किया कि नारीमुक्ति का संघर्ष वास्तव में पूंजीवाद विरोधी संघर्ष का ही एक हिस्सा है अपने ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह दिखाया कि वर्ग-शोषण का इतिहास नारी-शोषण के इतिहास के साथ निकट से जुड़ा हुआ है। उन्होंने तर्क दिया कि इन दोनों का अंत करने के आंदोलन

तभी सफल हो सकते हैं जब इन दोनों को आपस में मिला दिया जाए।

शीला रोबाथम ने अपनी एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'बियोंड दी फ्रेगमेंट्स' (समेकित मार्ग) है, जिसमें इन्होंने संगठन की लेलिनवादी शैली को चुनौती दी जिसमें संगठन के अधिक सचेत, अधिक समर्थ और अधिक सूझबूझ वाले सदस्यों को संपूर्ण संगठन का नेतृत्व का अधिकार दे दिया गया था। इसके विपरीत शीला रोबाथम और उनके सहयोगियों ने समाजवादी आंदोलन के सभी टुकड़ों को जोड़ देने का समर्थन किया है।

समाजवादी नारीवाद स्त्रियों की अधीनता के मिले-जुले कारणों की पहचान करते हैं। जिसमें एक कारण जीववैज्ञानिक नियम बताते हैं जो अतीत से चला आ रहा है। दूसरा कारण आर्थिक दृष्टि से पुरुष प्रधान समाज का वर्चस्व है जिसमें पुरुषों को सारी संपत्ति का स्वामी माना जाता है और स्वयं स्त्रियों को भी पुरुष की संपत्ति के रूप में देखा जाता है। तीसरा कारण पूंजीवादी व्यवस्था है जिसमें स्त्री को श्रम का स्रोत मानते हुए उसका शोषण किया जाता है। इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए समाजवादी नारीवादियों का मानना है कि एक ओर लिंग आधारित श्रम-विभाजन और मूल-परिवार की धारणाओं को समाप्त करके मानव-समानता पर आधारित नई व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए। इसमें स्त्री-पुरुष अपने परंपरागत कार्यों से बंधे हुए नहीं रहेंगे बल्कि अपनी-अपनी यथाशक्ति उपयुक्त कार्यों का चयन कर सकेंगे। दूसरा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अंत करके समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित की जाए ताकि अलगाव से मुक्त वर्गविहीन समाज का उदय हो सके।

उग्र नारीवाद (Radical Feminism)

उग्र नारीवादी नारीवाद के लक्ष्यों की सिद्धि के लिए उग्र परिवर्तनों (Radical changes) का समर्थन करता है। यह विचारधारा विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रारंभ हुई। यह विचारधारा पितृसत्ता से जुड़ी व्यवस्था को स्त्री उत्पीड़न का मुख्य स्रोत मानता है और इसके अंत के लिए समाज व्यवस्था में आमूल परिवर्तन अर्थात् उग्र परिवर्तन की मांग करता है। इस दिशा में पहले पहल फ्रांसीसी नारीवादी लेखिका सिमोन दी ब्यूवाइ अपनी चर्चित कृति 'द सेकेंड सेक्स' के अंतर्गत स्त्रियों की अधीनता पर प्रहार करते हुए तर्क दिया था कि "स्त्री जैसी है, वैसी पैदा नहीं होती, बल्कि उसे ऐसा बना दिया जाता है।" पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री को 'द्वितीय लिंग' का दर्जा दिया जाता है अर्थात् मानव जाति के अंतर्गत उसे दोयम दर्जे का लिंग माना जाता है। सिमोन ने स्त्रियों को यह प्रेरणा दी कि वह स्वयं को पहचाने और स्वयं को सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ से बाहर निकालने का प्रयास करें।

इसके पश्चात् अमेरिकी लेखिका शुलमिथ फायरस्टोन ने तर्क दिया कि सारा इतिहास स्त्री पर पुरुष के अत्याचार की कहानी है यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था का जीता-जागता उदाहरण है। शुलमिथ का मानना है कि स्त्री-पुरुष के शारीरिक अंतर को एक जीववैज्ञानिक तथ्य मानते हुए स्त्री को बच्चा पैदा करने और उन्हें पालने वाली मशीन समझ लिया जाता है परंतु वास्तव में सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुष की इतनी भिन्न-भिन्न भूमिका का कोई जीववैज्ञानिक आधार नहीं है। लड़कों को अधिक दबंग बनने की शिक्षा दी जाती है, तो वहीं लड़कियों को आज्ञाकारी व शर्मीली बनना सिखाया जाता है। लड़कों को डॉक्टर, इंजीनियर या वकील बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है तो लड़कियों को नर्स, सेक्रेटरी और गृहणी बनने के लिए। जीवविज्ञान के आधार पर लड़के और लड़कियों के मानसिक क्षमता में कोई अंतर नहीं होता। यदि समाज चाहे तो लड़के और लड़कियों की ये भूमिकाएँ आपस में बदली जा सकती है जिससे समाज की कार्यकुशलता में कोई अंतर नहीं आएगा।

शुलमिथ फायरस्टोन ने अपनी अन्य चर्चित कृति 'दी डायलेक्टिक ऑफ सेक्स' के अंतर्गत नारीवाद की नई व्याख्या देखकर इससे जुड़े हुए आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की। इन्होंने तर्क दिया की समाज में जितने तरह का उत्पीड़न देखा जाता है, नारीवाद उसका बुनियादी स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से स्त्रियां पहला-पहला उत्पीड़ित समूह थी।

शुलमिथ ने स्त्रियों की अधीनता के जीववैज्ञानिक अंतर का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार मानवीय प्रजनन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने वैश्विक स्तर पर एक विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन को जन्म दिया है। इसे जीववैज्ञानिक परिवार (Biological Family) कहा जाता है। जिसमें पिता, माता और संतान इस संगठन के मुख्य घटक होते हैं और इस संगठन के साथ

दो मान्यताएं जुड़ी हुई होती हैं – पहला स्त्री का शरीर संतानोत्पत्ति के लिए बना है इसलिए वह पुरुष की तुलना में निर्बल है। दूसरा शिशु शारीरिक दृष्टि से अपनी माता पर आश्रित होता है और स्वयं स्त्री का जीवन पुरुष पर आश्रित है। इस प्रकार मानव जाति का जीववैज्ञानिक आधार ही पुरुष-प्रधान समाज को जन्म देता है। आज बीसवीं शताब्दी में तकनीकी दृष्टि से ऐसे तीन बड़े परिवर्तन हुआ जिसने स्त्री की पराधीनता को समाप्त करने की संभावनाओं को उज्ज्वल किया है, (क) आज गर्भनिरोध के विश्वसनीय साधनों का आविष्कार हो चुका है, (ख) शिशु आहार के आविष्कार के कारण मां का स्तनपान कराना अब जरूरी नहीं रहा है और (ग) संतान उत्पत्ति के लिए परखनली शिशु (Test Tube Baby) व किराए की कोख (Surrogacy) की तकनीक भी विकसित हो चुकी है और इन तकनीकी परिवर्तनों ने स्त्रियों के लिए जीववैज्ञानिक आधार पर दमन से मुक्ति के साधन प्रस्तुत कर दिए हैं। 1970 के दशक के अंतिम दौर में शुलमिथ के विचारों की एकांकी दृष्टिकोण माना जाने लगा है। आज नारी उत्पीड़न के सामाजिक आधार और सामाजिक बदलाव पर विशेष बल दिया जाता है।

अमेरिकी नारीवादी कैट मिलेट इतने अपनी बहुचर्चित कृति 'सैक्सुअल पॉलिटिक्स' के अंतर्गत यह तर्क दिया है कि स्त्री-पुरुष का पारस्परिक संबंध शक्ति के प्रयोग का उदाहरण है। इसे कायम रखने के लिए विचारधारा का सहारा लिया जाता है और यह राजनीतिक संबंध की कोटि में आता है। इस दृष्टि से नारीवाद को एक राजनीतिक आंदोलन का रूप देना तर्कसंगत होगा। कैट ने तर्क दिया है कि पितृसत्ता हमारी समाज व्यवस्था में इतना घर कर चुका है कि उसके राजनीतिक चरित्र की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। समकालीन समाजों में स्त्रियों को शक्ति के स्रोतों से दूर रखा जाता है। इसके लिए बल प्रयोग की जरूरत नहीं पड़ती बल्कि प्राचीन काल से चली आ रही सामाजिक मान्यताओं व रीति-रिवाजों के चलते इसे एक स्वाभाविक स्थिति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। स्त्रियों को शैशव काल से ही यह मानने के लिए तैयार किया जाता है कि सार्वजनिक जीवन में शक्ति का प्रयोग पुरुषों को ही शोभा देता है, फिर औपचारिक शिक्षा, लोकप्रिय संस्कृति, धर्म, कला और मनोविज्ञान के माध्यम से बार-बार इस मान्यता की पुष्टि भी की जाती है। इस तरह यह सुनिश्चित किया जाता है कि स्त्रियां अज्ञानवश व लज्जावश इस पराधीनता की स्थिति को स्वीकार कर ले।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नारीवाद पुरुषों के मुकाबले नारी की स्थिति, भूमिका व अधिकारों से गहरा सरोकार रखता है और नारी की अधीनता और नारी पर होने वाले अन्याय पर अपना ध्यान केंद्रित करता है और इनके प्रतिकार के उपायों पर भी विचार करता है। राजनीतिक सत्ता और उच्चकोटि के व्यवसायियों में स्त्रियों का हिस्सा बढ़ाना आवश्यक है तो इसके लिए स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा का विस्तार करना होगा और इनके के प्रति सामाजिक नजरिए को भी बदलना होगा। समाज में विशेष रूप से विकासशील देशों में पुत्र को एक सम्पदा के रूप में देखा जाता है और पुत्री को अनचाहा दायित्व समझा जाता है। इस तरह हम देख सकते हैं कि समाज में स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव और विषमता जन्म से ही प्रारंभ हो जाती है और कहीं-कहीं भेदभाव जन्म से पहले भी शुरू हो जाता है। उदाहरण के तौर पर वर्ष 1994 में भारत सरकार ने कन्या भ्रूण हत्या को गैरकानूनी घोषित किया। जबकि आज तक भी चोरी-छिपे कई बार कन्या भ्रूण हत्या का प्रयास किया जाता रहा है।

समाज में महिलाओं के प्रति भेदभाव इस हद तक जारी रहा है कि इन्हें केवल सस्ते श्रम का स्रोत समझा जाता है बल्कि इन्हें पुरुषों के लिए भोग विलासिता की वस्तु भी समझा जाता है। वैसे तो सामान्य जीवन में दासता जैसी घिनौनी प्रथा का अंत हो चुका है परंतु स्त्रियों के मामले में अप्रत्यक्ष रूप से यह शोषणकारी व्यवस्था आज भी चल रही है, जैसे देवदासी प्रथा, बलात्कार, घरेलू हिंसा इत्यादि आज भी जारी है। भारतीय संदर्भ में इनको प्रथाओं को मिटाने के लिए कई कानूनी प्रयास किए गए हैं। उदाहरण के लिए वर्ष 1994 में गर्भस्थ शिशु का लिंग परीक्षण गैरकानूनी बना दिया गया है। महिलाओं के संरक्षण से संबंधित कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कानून जैसे उनका अनैतिक कृत्य निरोध अधिनियम, दहेज निषेध अधिनियम, नारी देह अशोभनीय चित्रण निषेध अधिनियम, सती प्रथा निरोध अधिनियम, घरेलू हिंसा से नारी संरक्षण अधिनियम व हिंदू उत्तराधिकार संशोधन अधिनियम (वर्ष 2005) जिसके अंतर्गत संयुक्त परिवार की संपत्ति में पुत्रियों को पुत्रों के समान अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था की गई है।

हाल ही में महिला और बाल विकास मंत्रालय ने 4 जून 2020 को 10 सदस्य टास्क फोर्स का गठन किया, जिसकी अध्यक्षता समता पार्टी की पूर्व प्रमुख जया जेटली और नीति आयोग के अध्यक्ष बी. के. पॉल कर रहे थे। इनके द्वारा दी गई रिपोर्ट के आधार पर महिला और बाल विकास मंत्रालय द्वारा दिसंबर 2021 में लाए गए बाल विवाह निषेध (संशोधन) के अंतर्गत महिलाओं के लिए विवाह की उम्र को 18 से 21 वर्ष करने के प्रस्ताव ने महिलाओं के सशक्तिकरण और महिला पुरुष समानता की बहस को एक बार फिर तेज कर दिया है। विधेयक को पेश किए जाने का कुछ सदस्यों ने विरोध किया और मांग की कि इसे और अधिक जांच पड़ताल के लिए संसद की समिति को भेजा जाए और इस प्रस्ताव को मानते हुए सरकार ने इसे शिक्षा महिला, बच्चों, युवा और खेल पर संसद की स्थाई समिति को भेज दिया है। प्रस्तावित विधेयक में बहस का सबसे बड़ा मुद्दा महिलाओं के विवाह की उम्र को 18 से 21 वर्ष किया जाना है। आज वैश्विक और राष्टीय स्तर पर स्त्री सशक्तिकरण के अनेक प्रयास किए गए है परंतु इसके बावजूद भी अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है।

***एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग**
पीजीडीएवी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
****एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,**
श्याम लाल कॉलेज (संध्या)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. आर्य साधना, समान नागरिक संहिता : महिला आंदोलन के सामने चुनौतियां, में आर्य साधना, मेनन निवेदिता और लोकनिता जिनी, संपादक, चतुर्थ पुनरमुद्रण, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या 217, 2013
2. मेनन निवेदिता, समान नागरिक संहिता नारीवाद में मौजूदा बहस, आर्य साधना, मेनन निवेदिता और लोकनिता जिनी, संपादक, चतुर्थ पुनरमुद्रण, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या 217, 2013
3. भारद्वाज ऋतेश, राजनीतिक सिद्धांत का परिचय, दी पॉलिटिक एवम् विराट पब्लिकैशन, 2021
4. वही
5. Wollstonecraft Mary, A Vindication of the Rights of Woman, New York: W.W. Norton & Company, 1988.
6. Mill, John Stuart, The Subjection of Women, London: Longmans, Green Reader, and Dyer, 1878.
7. भारद्वाज ऋतेश, राजनीतिक सिद्धांत का परिचय, दी पॉलिटिक एवम् विराट पब्लिकैशन, 2021
8. आर्य साधना, समान नागरिक संहिता : महिला आंदोलन के सामने चुनौतियां, में आर्य साधना, मेनन निवेदिता और लोकनिता जिनी, संपादक, चतुर्थ पुनरमुद्रण, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या 217, 2013
9. भारद्वाज, ऋतेश, जनादेश: 17वीं लोकसभा, सामाजिक विमर्श, 2(2) 218-223 2020, DOI:10 1177/2581654320903397, पृष्ठ संख्या 219
10. Wollstonecraft Mary, A Vindication of the Rights of Woman, New York: W.W. Norton & Company, 1988.
11. Mill, John Stuart, The Subjection of Women, London: Longmans, Green Reader, and Dyer, 1878.
12. Friedan, Betty, The Feminine Mystique. W.W.Norton & Company, Inc. pp. 11–20, 2013
13. Pateman, Carole, The Sexual Contract, Cambridge: Polity in Association with Blackwell, 1988.
14. Pateman, Carole, The Disorder of Women: Democracy, Feminism, and Political Theory, Stanford, California: Stanford University Press, 1989
15. Engels, Friedrich, Lewis Henry Morgan, and Friedrich Engels, The origin of the family, private property, and the state. New York: Pathfinder Press, 1972.

डॉ. अंजन कुमार

आधुनिक हिंदी कविता में बिंब का उद्भव एवं प्रसार

हिंदी कविता में बिंब आधुनिक काल में एक आवश्यक तत्त्व के रूप में स्थापित हुआ है। बिंब के माध्यम से आधुनिक कविता को नया कलात्मक पहचान प्राप्त हुआ। बिंब के आरंभिक उद्भव विकास में आधुनिक काल में हुए कला आन्दोलन का बड़ा योगदान है। बिंब आधुनिक साहित्य में ही प्रचलित हुआ, एवं हिंदी साहित्य में यह अंग्रेजी साहित्य में प्रचलित होने के बाद ही अधिक प्रचलन में आया। कविता में विशेषकर स्वतंत्रता के बाद की कविता में बिंब का प्रयोग अत्यधिक होने लगा। बिंब के प्रयोग एवं विकास क्रम को समझने से पहले इसके साथ जुड़े अवधारणात्मक तथ्यों को भी समझना आवश्यक है। बिंब हिंदी में 'इमेज' के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होता है, बाद में भी बिंब शब्दश: इमेज के पर्याय के रूप में ही हिंदी साहित्य में प्रयुक्त होने लगा। हिंदी साहित्य में भी यह अंग्रेजी साहित्य के संदर्भों के अनुसार ही कविता में प्रयुक्त होता आया है। बिंब आज साहित्य के सभी विधाओं में आवश्यक तत्त्व के रूप में स्थापित होने लगा है किंतु मूलत: यह कविता के ही संदर्भ में अधिक प्रचलित हुआ और काव्य आन्दोलन के रूप में ही विश्व की सभी भाषाओं में धीरे-धीरे यह प्रचलित हो गया था।

बिंब आज साहित्य में विशेष अभिव्यंजना एवं प्रभाव के लिए कवियों एवं लेखकों द्वारा प्रयोग किया जा रहा है। यह भाषा का कलात्मक पक्ष है किंतु इसका संबंध उसके अर्थ से भी जुड़ा हुआ है। प्रभाव के कारण ही अर्थ के गुण एकबारगी से समृद्ध होती हुई दिखाई देने लगती है और इसलिए यह आलोचकों का भी मानना रहा है कि बिंब कविता को कलात्मक सौंदर्य प्रदान करने के साथ गूढ़ता भी प्रदान करता है। अंग्रेजी विद्वान एवं चिंतक सी. डी. लेविस बिंब की परिभाषा देते हुए लिखते हैं-"image is a picture made of words." and that, "A poem may itself be an image composed from a multiplicity of images."[1] मुख्यत: इमेज का जो अर्थ लिया जाता है वह उसके दृश्यावली अथवा चित्र रूप से लिया जाता है। हम सामान्य जीवन में भी जब बात करते हैं तो किसी भी चित्र के लिए अथवा जो आंखों के सामने प्रस्तुत होता है उसके लिए यह कहते हैं कि या एक इमेज है, अथवा चित्रात्मक प्रयोग है। डॉ. अमरनाथ अपनी पारिभाषिक शब्दावली में बिंब के संदर्भ में उल्लेखित करते हैं, ''काव्य-बिंब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।''[2] कविता मनुष्य के भावों को शब्दों में उतारने का क्रम है। पुरातन काल में कविता के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए अलंकार, छंद, रस सहित अनेक काव्य तत्वों का प्रयोग किया जाता था। आधुनिक काल में धीरे-धीरे यह काव्य तत्व मनुष्य के अनुभवों के संदर्भ में अप्रासंगिक सिद्ध होने लगे और इस कारण विद्वानों एवं चिंतकों ने नए काव्य तत्वों के अन्वेषण पर बल दिया। बिंब का प्रसार इसी रूप में आधुनिक कविता में स्थापित होता हुआ दिखाई देता है।

साहित्य में बिंब का उदाहरण पुराने काव्य संदर्भ में भी ढूंढा जा सकता है लेकिन वहां उसे बिंब के स्थान पर अलंकार अथवा अन्य काव्य विशेषताओं से संबंधित करके प्रकट किया जाता था। किंतु आज कविता में इसका प्रयोग होता है तो वह अनिवार्य रूप से मनुष्य के भाव को

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

प्रकट करने का सबसे मुखर औजार बनकर उभरता है। अंग्रेजी कविता में बीसवीं शताब्दी के आरंभ में मानवीय जीवन में काफी त्वरित परिवर्तन अभिव्यक्त किए जाने लगे और मनुष्य की बदलती हुई संवेदना को प्रभावी रूप से प्रकट करने के लिए मानवीय भावात्मक पहचान की एक ऐसी रूपरेखा बनानी आवश्यक समझी गई जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान स्थान हो। कविता ने इस भावात्मक संतुलन के लिए चित्रात्मकता अथवा इमैजिनेशन को एक महत्वपूर्ण प्रयोग माना था। और यही कारण है कि उस काल की कविता में, अंग्रेजी कविताओं में, बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से लेकर पांचवें दशक तक अधिकतर कविताओं में बिंबों का अत्यधिक प्रयोग दिखाई देता है कई बार यह प्रयोग आवश्यकता से अधिक कलात्मकता की केंद्रिकता के रूप में भी उभरकर आता है। बिंब कैसे इस काल में इतना महत्वपूर्ण हो गया इसकी समीक्षा करते हुए अपनी किताब में केदारनाथ सिंह उल्लेखित करते हैं, ''तात्पर्य यह कि नयी समीक्षा में 'बिंब' स्थूल शब्दचित्र मात्र का बोधक न रहकर, मनुष्य की सम्पूर्ण जटिल मानसिक प्रक्रिया का बोधक बन गया है। उसका क्षेत्र अलंकार विधान के समान केवल काव्य तक सीमित नहीं है। उसकी स्थिति काव्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला इत्यादि में भी मानी जाती है। इस प्रकार उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। प्राचीन गाथाओं और पुराणों के अध्ययन से बिंब की सत्ता पर नया प्रकाश पड़ा है और भाषा शास्त्र तथा मनोविज्ञान की नई खोज ने उस के स्वरूप तथा प्रणाली को समझने के लिए नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है।''[3] एक बात और सामने खुलकर आती है कि आधुनिक काल में जैसे-जैसे विभिन्न विधाओं का विकास होता गया और ज्ञान की नई-नई शाखाएं एवं प्रशाखाएं विकसित होती गई वैसे-वैसे नए-नए प्रभाव कला एवं साहित्य में भी समाहित होते गए। बिंब का प्रयोग इसी कड़ी में आधुनिक कविता में अत्यधिक लोकप्रिय होता गया। प्रसिद्ध स्वच्छतावादी कवि एवं आलोचक सेमुयलकालरिज ने लिखा है-"They Become proofs of original genius only as far as they are modified by the predominant passion."[4] स्वच्छतावाद जिन मूल्यों को लेकर कविता में आगे बढ़ा था वहां मानवीय सरल भावों को अधिक महत्ता दी गई थी और यही कारण है कि इन भावों के प्रदर्शन के लिए ऐसे शब्द विधान पर बल दिया गया जो सीधे-सीधे तौर पर नई रचनात्मकता को प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रभाव को भी अधिक महत्वपूर्ण बनाने में अपना योगदान दें।

हिंदी में भी, छायावाद के युग में कविता में संवेदनात्मक अभिव्यक्ति का प्रसार देखने को मिलता है। इस युग में स्वच्छंदतावाद की ही भांति मनुष्य के मूल भाव एवं प्रकृति को अत्यधिक महत्व दिया गया और हिंदी कविताएं में एक ऐसा युग छायावाद बनकर उभरता है जहां मानवीय भाव की तरलता के लिए कभी आधुनिक भाव विधान करते हुए दिखाई देते हैं। इस युग में कविता में छंदों के स्थान पर सुगम मुक्त प्रवाह तथा भाषा में सौष्ठव के लिए नवीन नवीन प्रकार के प्रयोग कवियों ने किए। छायावादी युग में बिंबों के विभिन्न प्रकार कविता में प्रयुक्त होते हुए दिखाई देते हैं जिसमें मनुष्य की कल्पना का मनुष्य के भाव के साथ सामंजस्य एवं निर्वाह होता हुआ दिखाई देता है। इसी संदर्भ में बच्चन सिंह ने उद्धृत किया है, ''किसी भाव, विचार, वस्तु, घटना आदि का इंद्रिय संवेद्य काल्पनिक शब्द बद्ध समूर्तन काव्य बिंब है। बिंब का इंद्रिय संवेद्य होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में उसका रचनात्मक होना संभव नहीं है। काव्य बिंब के रूप, रस, गंध, स्पर्श और स्वाद के बिंब समाहित है। बिंबों का इतना वैविध्य साहित्य की किसी अन्य विधा अथवा कला के किसी अन्य रूप में नहीं मिलेगा।''[5] इस तरह हम यह समझ सकते हैं कि बिंब दरअसल मनुष्य के इंद्रियों से संबंधित होता है और इंद्रिय संवेद्य काव्य रूपों में बिंब के रूप में प्रकट होते हैं। बिंबों के भेद मनुष्य के ऐंद्रिक भाव-बोधों के आधार पर ही किया जाता है।

हिंदी कविता में जिस बिंब का सर्वाधिक प्रयोग दिखाई देता है वह है, दृश्य बिंब। दृश्य बिंब अथवा चाक्षुष बिंब में काफी में प्रकट होने वाला भाव दृश्यात्मक रूप में हमारे सामने प्रकट हो जाता है और उसकी चित्रात्मकता हृदय पर गहन प्रभाव छोड़ती हुई दिखाई देती है। हिंदी कविता यात्रा में बिंब का प्रयोग प्रयोगवाद के बाद से ही बहुतायत रूप से प्रयुक्त होता दिखाई देता है और शताब्दी के अंत तक आते-आते हिंदी कविता में दृश्य बिंब के प्रति एक असाधारण आकर्षण हमें कवियों में दिखने लगता है। कविता में बढ़ती विवरण की आवश्यकता एवं घटनाओं के चित्रण के लिए भी इस बिंब का प्रयोग अधिक संख्या में काव्य प्रश्नों में होने लगा। शमशेर बहादुर

सिंह की निम्नलिखित पंक्तियों में हम दृश्य बिंब का प्रभाव देख सकते हैं,

''स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो।''[6]

हिंदी कविता में दूसरा सबसे अधिक प्रचलित बिंब श्रव्य बिंब कहा जा सकता है। जैसा कि उल्लेखित किया गया की बिंब इंद्रियों से संबंधित होते हैं और पंच इंद्रिय प्रभाव बिंबों की अन्यतम विशेषता है। मनुष्य की इंद्रियों में आंखों के अलावा कानों का महत्वपूर्ण स्थान है और इसी कारण आधुनिक कविता ने श्रव्य बिंब को जीवन के संगीत को प्रकट करने के लिए प्रयोग करना शुरू किया। इसके साथ-साथ अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भी इस बिंब का प्रयोग कवियों के यहां दिखाई देता है। नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता मेघ बजे में इस बिंब का सुंदर प्रयोग हुआ है, उदाहरण है

''धिन-धिन-धा धमक-धमक
मेघ बजे
दामिनि यह गयी दमक
मेघ बजे
दादुर का कण्ठ खुला
मेघ बजे''[7]

तीसरा महत्वपूर्ण बिंब जो कविता में प्रयुक्त होता हुआ दिखाई देता है वह है मनुष्य की सूंघने की शक्ति से संबंधित घ्राण बिंब। घ्राण बिंब हिंदी कविता में बहुधा इस प्रकार के प्रयोग देखे गए जिसमें सौंदर्य अथवा प्रकृति के वर्णन के लिए बार-बार मनुष्य की इंद्रियों का सहारा लिया जाता रहा है। प्रेम अथवा आकर्षण को प्रकट करने के लिए भी इंद्रियों का प्रयोग कवियों के यहां दिखाई देता है जिसकी आधुनिक अभिव्यक्ति हमें बिंब के रूप में दिखाई देती है। घ्राण बिंब का प्रयोग अधिकतर उन्हीं स्थानों पर दिखाई देता है जहां प्रकृति अथवा किसी विशेष गंध की बात की जा रही हो और उसके माध्यम से मनुष्य के हृदय में उद्वेलित होने वाले विभिन्न प्रकार के भावों को प्रकट करने की चेष्टा मनुष्य कर रहा हो। प्रसिद्ध कवि नागार्जुन की पंक्तियां हैं-

''वृद्ध वनस्पतियों की ठुठी शाखाओं में
पोर-पोरटहनी-टहनी का लगा दहकने
टिसू निकले मुकलों के गुच्छे गदराये
अलसी के नीले फूलों पर नभ मुस्कुराये''[8]

मनुष्य के जीवन में स्पर्श का बहुत भावात्मक स्थान है और हिंदी कविता ने इसी कारण इसे भी बिंब में डालकर बहुत अधिक प्रयोग किया है। मनुष्य की सारी की सारी भावात्मक ऊष्मा स्पर्श के माध्यम से ही प्रकट होती है और हिंदी कविता के विकास में हम यह देख सकते हैं कि कविता जितनी परिपक्व होती गई उतना अधिक उसके अंदर मनुष्य के भावों के लिए कलात्मक उत्कृष्टता देखने को मिलती है। इधर जो कविता लिखी जा रही है उसमें विशेषकर विवरण के स्थान पर उन प्रयोगों को अधिक बल दिया जाता है जो इशारों में मनुष्य के भाव को पाठक के समक्ष उपस्थित करने के साथ-साथ कविता के सौंदर्य को भी बनाए रखें। इस तरह के प्रयोगों में स्पर्श बिंब का स्थान महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रसिद्ध कवि अशोक वाजपयीकी कविता 'पहला चुंबन' में स्पर्श गहन बिंब को देखा जा सकता है,

''एक जीवित पत्थर की दो पत्तियाँ
रक्ताभ, उत्सुक
काँपकर जुड़ गई
मैंने देखा :
मैं फूल खिला सकता हूँ।''[9]

मानव इंद्रिय से संबंधित एक अन्य बिंब जिसका प्रयोग हिंदी कविता में होता आया है वह है आस्वाद बिंब। उपरोक्त बिंब के तुलना में इसका प्रयोग उतना अधिक नहीं दिखाई देता किंतु यह बिंब आधुनिक कविता के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयोग बनकर उभरता हुआ दिखाई देता है। प्रायः घटनात्मक अथवा मनुष्य विशेष के भाव प्रयोगों में इस बिंब का प्रयोग दिखाई देता है। आधुनिक कविता हिंदी प्रयोगों पर अधिक बल देती रही है इसलिए भी इस तरह के बिंब लगातार हिंदी कविता में प्रयुक्त होते हुए दिखाई देते हैं। हेमंत जोशी के प्रसिद्ध कविता रोटी में इस बिंब के प्रभाव को देखा जा सकता है,

''जब दिखे बंजर मैदान
बदला उनको खलिहानों में
और एक दिन ईजाद की रोटी
रोटी ज्वार की
रोटी बाजरे की

रोटी मडुवे की
रोटी मक्के की और गेहूँ की
रोटी गोल-गोल जैसे पृथ्वी
रोटी चाँद हो जैसे
रोटी सूरज की छटाओं सी
अलग-अलग रंगों की
अलग-अलग स्वाद सी।
जबसे बनाई रोटी
पेट भरता नहीं केवल बोटी से
दीगर है बात कि राजे-रजवाड़े और उनके दरबारी
सदा से खाते रहे हैं छप्पन भोग।''[10]

हिंदी कविता की आधुनिक यात्रा में निश्चित रूप से बिंब एक महत्वपूर्ण कलात्मक उपादान के रूप में उपस्थित हुआ है। भले ही बिंब की उत्पत्ति एवं विकास में अंग्रेजी कविता का योगदान रहा हो किंतु हिंदी कविता ने भी उसे अपने परिस्थितियों एवं आवश्यकता के अनुरूप डालते हुए एक महत्वपूर्ण स्तर प्रदान किया है। जैसा की प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक केदारनाथ सिंह का मानना रहा है कि आधुनिक कविता की कल्पना बिंब के बिना किया जाना अत्यंत दुरूह प्रतीत होने लगा है, वह उचित ही है। विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर कविता ने अर्थ की गंभीरता एवं परिपक्वता को जब प्राप्त किया तब उसमें नए प्रयोगों में बिंब एक महत्वपूर्ण सहायक के रूप में उभरता हुआ दिखाई देता है। आधुनिक कविता की कलात्मकता को समझने के लिए एवं कविता को कलात्मक रूप से उत्कृष्ट बनाने के लिए, दोनों ही संदर्भों में बिंब की भूमिका को समझना अति आवश्यक हो जाता है। इस तरह बिंब ने आधुनिक हिंदी कविता में लंबा सफर तय किया है और आज वह पाठक तक कवि के अर्थ को पहुंचाने के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं विश्वसनीय कलात्मक प्रयोग के रूप में बनकर स्थापित होता हुआ दिखाई देता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : singhak020377@gmail.com

संदर्भ सूची

1. डॉ. अमरनाथ : हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, 2015, पृष्ठ 247
2. वही
3. सिंह, केदारनाथ : आधुनिक हिंदी कविता में बिंबविधान, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 2
4. डॉ. अमरनाथ : हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, 2015, पृष्ठ 247
5. सिंह, बच्चन : आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 83
6. सिंह, शमशेर बहादुर : प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, 2008, पृष्ठ 102
7. नागार्जुन : कविता कोश. www.kavitakosh.org
8. वही
9. वाजपयी, अशोक : कविता कोश, www.kavita kosh.org
10. जोशी, हेमंत : कविता कोश, www.kavitakosh.org

रश्मि मिश्रा

पत्ती रोग की बेहतर पहचान के लिए ResNet-50 के संयोजन में चुनी गई विशेषताओं का उपयोग : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

भारत की अर्थव्यवस्था अत्यधिक कृषि उत्पादकता पर निर्भर करती है, जो पौधों की बीमारी का पता लगाती है कृषि क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण चिंता, पर्यावरण की बदलती परिस्थितियों के कारण, पौधे की पत्ती रोग नियमित रूप से बढ़ रहे हैं। पर्यावरण क्षेत्र से जुड़े लोगों ने पाया है कि वहाँ एक बहुत बड़ा है जैसे विकासशील देशों में रोग की देर से पहचान के कारण फसल उत्पादन में हानि अफगानिस्तान, भारत और नेपाल आदि। यह कम उत्पादकता का कारण बनता है न कि अच्छा गुणवत्तापूर्ण उत्पाद, यदि सही समय पर ध्यान न दिया जाए। उदाहरण के लिए, एक ज्ञात बीमारी मौजूद है संयुक्त राज्य अमेरिका में पाया जाने वाला छोटा पत्ता रोग, फसल उत्पादकता के लिए बहुत हानिकारक है। बजाय बड़े खेतों की निगरानी करने के लिए हमारे पास यह अनुमान लगाने के लिए स्वचालित तकनीकें हो सकती हैं कि क्या विशेष पत्ता है रोगग्रस्त हैं या नहीं, और यह अधिक फायदेमंद होगा यदि हम इसका प्रारंभिक चरण में पता लगा सकें, जब वे पहली बार दिखाई दे रहे हैं। यह प्रोजेक्ट मशीन लर्निंग मॉडल, डीप लर्निंग मॉडल पर काम करता है और लीफ रोग की भविष्यवाणी के लिए एक प्रस्तावित संयोजन गहन शिक्षण मॉडल। प्रयोग प्लांट विलेज डेटासेट के सबसेट पर प्रदर्शन किया जाता है। इस परियोजना में हमने k-साधन एल्गोरिथम का उपयोग किया है छवि विभाजन तकनीक के लिए जो पौधे में पत्ती रोग के स्वचालित वर्गीकरण में मदद करेगी। विभिन्न प्रकार की सुविधा निष्कर्षण विधियां जैसे, स्थानीय बाइनरी पैटर्न, डीडब्ल्यूटी, जीएलसीएम, रंग मशीन लर्निंग मॉडल को आसान बनाने के लिए हिस्टोग्राम और हू मोमेंट्स का भी इस्तेमाल किया जाता है। बनावट को ध्यान में रखते हुए, पत्ती का रंग और आकार, जो वास्तव में पत्ती रोग की भविष्यवाणी के लिए महत्वपूर्ण हैं। मशीन लर्निंग से हमने जिन मॉडलों का उपयोग किया है, वे हैं, लॉजिस्टिक रिग्रेशन, K निकटतम पड़ोसी, डिसीजन ट्रीज, रैंडम फॉरेस्ट क्लासिफायरियर, नाइव बेयस, सपोर्ट वेक्टर मशीन, एक्सट्रीम लर्निंग मशीन और डीप लर्निंग मॉडल जिनका हमने उपयोग किया है, वे हैं एफिशिएंटनेट बी., वीजीजी 16, रेसनेट 50 और इंसेप्शन V3. हमने ResNet 50 और चुनी हुई विशेषताओं के संयोजन मॉडल का उपयोग किया है और 95% विश्वास के साथ परीक्षण सटीकता 98.72% ± 0.006270 प्राप्त की।

समस्या का विवरण

भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। चल रहे सभी शोधों का मुख्य उद्देश्य कृषि क्षेत्र कम खर्च पर उत्पादकता और खाद्य गुणवत्ता में वृद्धि है, एक के साथ लाभ में वृद्धि। कृषि उत्पादकता मूल रूप से मिट्टी, बीज और रसायनों पर निर्भर करती है। हम हैं कृषि के सबसे महत्वपूर्ण उत्पादों, यानी सब्जियों और फलों का उपयोग करना, लेकिन वे केवल फायदेमंद हैं अगर उनकी गुणवत्ता अच्छी है, तो यह उन्हें और अधिक मूल्यवान बना देगा। कई सर्वेक्षण हैं, कई अध्ययन हैं, कई शोधों में पाया गया कि पत्ती रोग, कृषि उत्पाद की मात्र और गुणवत्ता के कारणकम किया गया है। प्रारंभिक अवस्था में इन रोगों का पता नहीं चलने पर पौधों के महत्वपूर्ण कार्य

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

बाधित हो जाते हैं जैसे प्रकाश संश्लेषण, वाष्पोत्सर्जन, परागण, निषेचन, अंकुरण आदि। का मुख्य कारण इन रोगों के कारण कवक, बैक्टीरिया और वायरस, यानी पर्यावरण जैसे रोगजनक हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए इन बीमारियों का प्रारंभिक अवस्था में पता लगाना वास्तव में महत्वपूर्ण है। के रूप में अब किसान अपने खेतों की लगातार निगरानी के लिए विशेषज्ञों की मदद ले रहे हैं जो वास्तव में है, बहुत समय लगता है और महंगा भी। इसलिए यह चिंता का विषय है, हमें कम खोजना होगा प्रारंभिक अवस्था में लक्षणों से बीमारी का स्वत: पता लगाने का महंगा तरीका, जो हो सकता है पत्ती पर देखा जाता है जो रोग की भविष्यवाणी में महत्वपूर्ण रूप से मदद कर सकता है। हम मशीन विजन के बारे में सोच सकते हैं जो छवि आधारित स्वचालित निरीक्षण, प्रक्रिया नियंत्रण और रोबोट मार्गदर्शन प्राप्त करने में मदद कर सकता है। इसलिए, इस परियोजना का उद्देश्य पौधों की पत्तियों के द्विआधारी वर्गीकरण पर ध्यान केंद्रित करना है

मशीन लर्निंग और डीप लर्निंग मॉडल का उपयोग करके स्वस्थ और रोगग्रस्त लोगों में।

प्रेरणा और चुनौतियों

इस पेपर के लिए हमने जिन पेपरों का उल्लेख किया था, उनकी संक्षिप्त समीक्षा यहां दी गई है। हम डिजिटल का उपयोग करेंगे पौधों में रोगों का पता लगाने के लिए छवि प्रसंस्करण। जैसे ही हम आगे बढ़ रहे हैं यह मानवीय त्रुटि को दूर करेगा पत्ती रोग का स्वत: पता लगाने के लिए। मुहम्मद ई.एच. चौधरी का एक शोध पत्र बताता है संक्षेप में इस बारे में कि कैसे पौधों की बीमारियां एक संबंधित मुद्दा हैं और उन्होंने गहन शिक्षण मॉडल को कैसे आजमाया कुशल नेट B0 99.89% की सटीकता प्राप्त करने के लिए, शीतल राजपाल द्वारा कागज हमें विचार देता है इस बारे में कि हम डीप लर्निंग मॉडल और एक्सट्रेक्टेड फीचर्स के फ्यूजन का उपयोग कैसे कर सकते हैं। ये शोध के साथ एक्सट्रीम लर्निंग मशीन का फ्यूजन करके हमें और बेहतर सटीकता प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया निकाले गए फीचर्स और Resnet-50 एक्सट्रैक्टेड फीचर्स के साथ। पत्ती रोग का पता लगाने के दौरान कुछ कठिन चुनौतियाँ, संभावना है कि छवि की पृष्ठभूमि के क्षेत्र से अलग होने में समस्या पैदा कर सकती है ब्याज, लक्षणों की सीमाएं अक्सर अच्छी तरह से परिभाषित नहीं होती हैं, यदि छवि सही ढंग से नहीं ली गई है तो हम उन लक्षणों को याद कर सकते हैं जो वर्गीकरण के लिए महत्वपूर्ण हैं, कुछ रोग, लक्षणों की बहुत विस्तृत श्रृंखला और विभिन्न विशेषताओं के साथ उत्पन्न करते हैं।

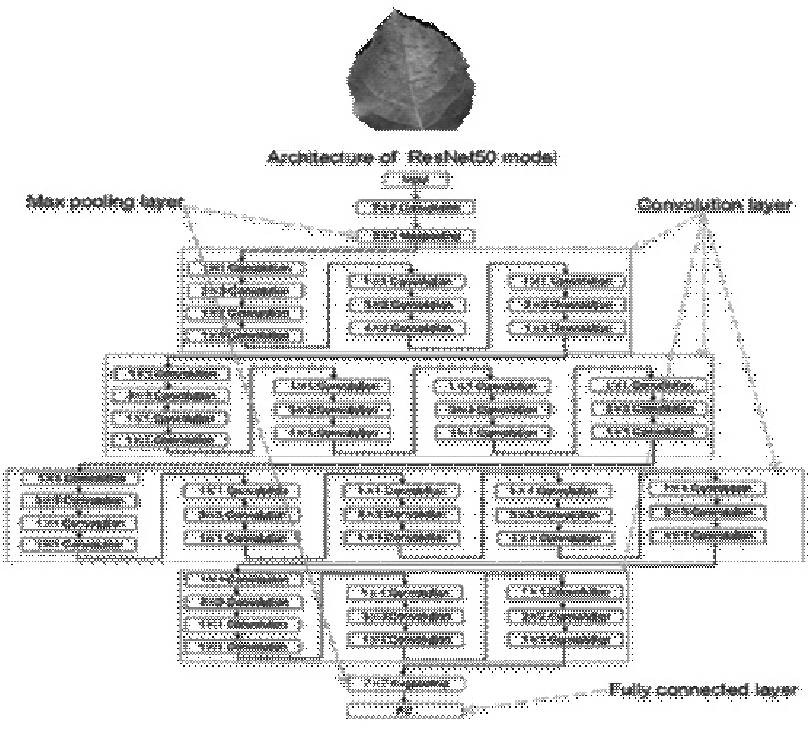

प्रयुक्त सामग्री और तरीके

हमने जो डेटासेट इस्तेमाल किया है वह प्लांट विलेज डेटासेट से लिया गया है। इसमें कुल 1709 चित्र हैं। सभी छवियों का आकार 256 × 256 है। मॉडल के प्रशिक्षण के लिए, डेटासेट को दो भागों में विभाजित किया गया है स्वस्थ और रोगग्रस्त नाम के दो फोल्डर, जिनमें संबंधित लेबल की छवियां होती हैं। सभी छवियों को ग्रेस्केल छवियों में बदल दिया जाता है और उनका आकार बदलकर 224 × . कर दिया जाता है 224 और एकरूपता सुनिश्चित करने के लिए न्यूनतम-अधिकतम सामान्यीकरण के अधीन। इसके अलावा, बढ़ाने के लिए छवियों में स्थानीय कंट्रास्ट, अनुकूली हिस्टोग्राम इक्वलाइजेशन (एएचई), लागू किया जाता है। चरण में एक, पूर्व-प्रसंस्करण में अनुक्रम में लागू आकार बदलना, सामान्यीकरण और एएचई शामिल है और पूर्व-संसाधित छवियों को फीचर निष्कर्षण के लिए मॉड्यूल 2 में पास किया जाता है। इस चरण में, हम दो प्रकार की विशेषताओं पर विचार करते हैं: बनावट और आवृत्ति-आधारित। बनावट सुविधाओं में चार समूह शामिल थे। सुविधाओं का पहला समूह सीधे से उत्पन्न होता है।

224 × 224 की पूर्वसंसाधित छवि। इनमें क्षेत्र, माध्य, मानक विचलन, तिरछापन, कर्टोसिस, ऊर्जा, एन्ट्रापी, अधिकतम, न्यूनतम, माध्य निरपेक्ष विचलन, माध्यिका, श्रेणी, मूल माध्य वर्ग, और एकरूपता। ग्रे-लेवल कोकरेंस मैट्रिक्स (GLCM), ओरिएंटेड ग्रेडिएंट्स के हिस्टोग्राम (HOG) और ग्रे-लेवल डिफरेंस को लागू करके शेष बनावट सुविधाएँ प्राप्त की जाती हैं मैट्रिक्स (जीएलडीएम)। आवृत्ति सुविधाओं को फास्ट फूरियर ट्रांसफॉर्म (एफएफटी) का उपयोग करके निकाला जाता है और डिस्क्रीट वेवलेट ट्रांसफॉर्म (डीडब्ल्यूटी)। सुविधाओं का एक वेक्टर संयोजन करके प्राप्त किया जाता है सभी टेक्सचरल और फ्रीक्वेंसी वेक्टर एक साथ।

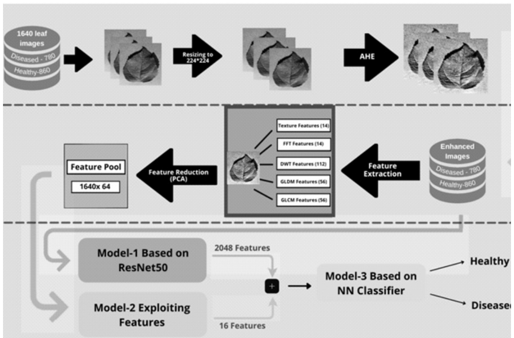

परिणाम और चर्चा

हमने अपने मॉडल को 10-गुना क्रॉस सत्यापन का उपयोग करके डेटासेट पर प्रशिक्षित किया है। प्रत्येक तह में, प्रदर्शन किया।

100 युगों पर हमारे मॉडल का प्रशिक्षण और सत्यापन। प्रशिक्षण और सत्यापन के दौरान, जल्दी इस्तेमाल किया गया धैर्य मूल्य 20 के साथ रुकना और 0.1 और धैर्य के कारक के साथ सीखने की दर को कम करना मूल्य 10, वृद्धि के साथ प्रशिक्षण और सत्यापन सटीकता की भिन्नता दिखाने के ग्राफ नीचे दिए गए हैं, युगों की संख्या 100 है।

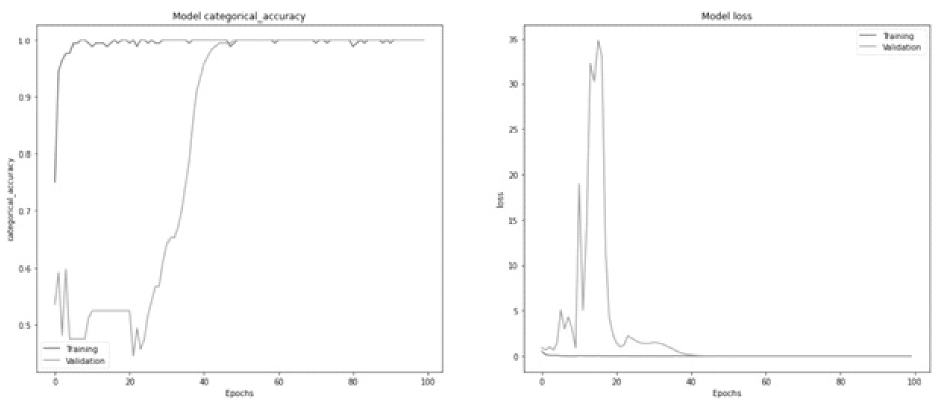

निष्कर्ष

इस काम में, हमने चुनिंदा विशेषताओं और प्राप्त सुविधाओं का एक मॉडल संयोजन बनाने की कोशिश की ResNet-50 से, उसके लिए हमारे पास एक प्रस्तावित कार्य है, जिसके तीन भाग हैं, यहाँ पहला भाग शामिल है में, ResNet-50 के साथ ट्रांसफर लर्निंग शामिल है जो 2048 सुविधाएँ देता है, दूसरा भाग प्राप्त करता है फ्रीक्वेंसी और टेक्सचर डोमेन सुविधाएँ 520 चुनिंदा सुविधाएँ देने के लिए, जो कम हैं कर्नेल प्रिंसिपल कंपोनेंट एनालिसिस का उपयोग करना। इन संयोजित सुविधाओं को तब पास किया जाता है घने परत उसके बाद वर्गीकरण कार्य के लिए तीसरे भाग की एक सॉफ्टमैक्स परत। हम उपयोग कर देख सकते हैं चुनिंदा विशेषताओं ने प्रस्तावित मॉडल की भविष्यवाणी क्षमता में वृद्धि की। प्रस्तावित मॉडल परीक्षण सटीकता 98.72: ± 0.006270 95% विश्वास के साथ दे रहा है।

संदर्भ

1. Sheetal Rajpal et al. "Using handpicked features in conjunction with ResNet-50 for improved detection of COVID-19 from chest X-ray images". In: Chaos, Solitons Fractals 145 (2021), p. 110749. issn: 0960-0779. doi: https://doi.org/10.1016/j.chaos.2021.110749. url: https://www.sciencedirect.com/science/article/pii/S0960077921001028.
2. Muhammad EH Chowdhury et al. "Automatic and Reliable Leaf Disease Detection Using Deep Learning Techniques". In: AgriEngineering 3.2 (2021), pp. 294-312.
3. Umit Atila et al. "Plant leaf disease classification using EfficientNet deep learning model". ¨ In: Ecological Informatics 61 (2021), p. 101182.
4. Bijaya Kumar Hatuwal, Aman Shakya, and Basanta Joshi. "Plant Leaf Disease Recognition Using Random Forest, KNN, SVM and CNN". In: POLIBITS 62 (2020), pp. 13-19.
5. Vijai Singh and Ak K Misra. "Detection of plant leaf diseases using image segmentation and soft computing techniques". In: Information processing in Agriculture 4.1 (2017), pp. 41-49.
6. Tan Soo Xian and Ruzelita Ngadiran. "Plant Diseases Classification using Machine Learning". In: Journal of Physics: Conference Series. Vol. 1962. 1. IOP Publishing. 2021, p. 012024.
7. Parul Sharma, Yash Paul Singh Berwal, and Wiqas Ghai. "Performance analysis of deep learning CNN models for disease detection in plants using image segmentation". In: Information Processing in Agriculture 7.4 (2020), pp. 566-574.
8. G Sambasivam and Geoffrey Duncan Opiyo. "A predictive machine learning application in agriculture: Cassava disease detection and classification with imbalanced dataset using convolutional neural networks". In: Egyptian Informatics Journal 22.1 (2021), pp. 27-34.
9. Yin Min Oo and Nay Chi Htun. "Plant leaf disease detection and classification using image processing". In: International Journal of Research and Engineering 5.9 (2018), pp. 516-523.
10. Jagadeesh Basavaiah and Audre Arlene Anthony. "Tomato Leaf Disease Classification using Multiple Feature Extraction Techniques". In: Wireless Personal Communications 115.1 (2020), pp. 633-651.
11. S¸aban Ozt¨urk and Bayram Akdemir. "Application of feature extraction and classification ¨ methods for histopathological image using GLCM, LBP, LBGLCM, GLRLM and SFTA". In: Procedia computer science 132 (2018), pp. 40-46.
12. Gittaly Dhingra, Vinay Kumar, and Hem Dutt Joshi. "Quality assessment of leaves quality using texture and DWT based local feature extraction analysis". In: Chemometrics and Intelligent Laboratory Systems 208 (2021), p. 104195.
13. Haigang Zhang et al. "An improved ELM algorithm based on PCA technique". In: Proceedings of ELM-2014 Volume 2. Springer, 2015, pp. 95-104.
14. Aloke Datta, Susmita Ghosh, and Ashish Ghosh. "PCA, kernel PCA and dimensionality reduction in hyperspectral images". In: Advances in Principal Component Analysis. Springer, 2018, pp. 19-46.
15. Youlian Zhu and Cheng Huang. "An adaptive histogram equalization algorithm on the image gray level mapping". In: Physics Procedia 25

(2012), pp. 601-608.
16. Ch Usha Kumari, S Jeevan Prasad, and G Mounika. "Leaf disease detection: feature extraction with K-means clustering and classification with ANN". In: 2019 3rd International Conference on Computing Methodologies and Communication (ICCMC). IEEE. 2019, pp. 1095- 1098.
17. Pranjali B Padol and Anjali A Yadav. "SVM classifier based grape leaf disease detection". In: 2016 Conference on advances in signal processing (CASP). IEEE. 2016, pp. 175-179.
18. Kawcher Ahmed et al. "Rice leaf disease detection using machine learning techniques". In: 2019 International Conference on Sustainable Technologies for Industry 4.0 (STI). IEEE. 2019, pp. 1-5.
19. Eftekhar Hossain, Md Farhad Hossain, and Mohammad Anisur Rahaman. "A color and texture based approach for the detection and classification of plant leaf disease using KNN classifier". In: 2019 International Conference on Electrical, Computer and Communication Engineering (ECCE). IEEE. 2019, pp. 1-6.

महर्षि दयानन्द आधारित काव्यों में शान्त रस की अभिव्यक्ति

मधुलिका

प्रस्तावना

रस काव्य का प्रधान तत्त्व है। काव्य पठन या श्रवण से जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वह रस कहलाता है। रस काव्य की आत्मा है, क्योंकि जिस प्रकार चैतन्यरहित शरीर मृत होता है, उसी प्रकार रसरहित काव्य अधूरा होता है और वह सहृदयों के हृदय को भी आह्लादित नहीं करता। वस्तुतः अलौकिक आनन्दस्वरूप, ब्रह्मसाक्षात्कार के समान, निराकार होते हुए भी साकारवत् और काव्य के जीवन का आधार रस ही है।

आधुनिक काल के समाजसुधारकों में महर्षि दयानन्द का स्थान अग्रगण्य माना जाता है, जिनके सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय विचारों ने समाज में नवचेतना जागृत की। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रभावित होकर अनेक आर्य साहित्यकारों ने विविध विधाओं में साहित्य की रचना की। स्वामी दयानन्द को नायक बनाकर लिखे गए ललित साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गद्यकाव्य तथा नाटक आदि सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ मुख्य काव्यों में हुई शान्त रस की चर्चा इस शोधपत्र में की जा रही है।

शान्त रस का स्वरूप एवं प्राधान्य

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शान्त रस वह रस है, जो कि 'शम' रूप स्थायीभाव का आस्वाद करता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण कुन्द-श्वेत अथवा चन्द्र-श्वेत है। इसके देवता श्री भगवान् नारायण हैं। अनित्यता किं वा दुःखमयता आदि के कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही इसका आलम्बन विभाव है। इसके उद्दीपन विभाव हैं-पवित्र आश्रम, भगवान् की लीलाभूमियाँ, तीर्थस्थान, रम्य कानन, साधु संतों के संग आदि-आदि। रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं और इसके व्यभिचारी भाव हैं - निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि।[1]

मोक्ष अध्यात्म से उत्पन्न, तत्त्वज्ञानार्थ हेतु से युक्त, निःश्रेयस का उपदेश देने वाला शान्त रस होता है। बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रिय के संरोध और अध्यात्म की स्थिति से युक्त सब प्राणियों के सुख और हित में लगा हुआ शान्त रस होता है।[2] नाट्यशास्त्र में कहा है-

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि विमत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥[3]

साहित्यशास्त्र की दृष्टि से स्वामी दयानन्द उत्तम कोटि के धीरोदात्त नायक हैं।[4] धीरोदात्त नायक होने के कारण उनके चरित्र में औदार्य, सत्यान्वेषण, विद्योपार्जन, गुरुसेवापरायणता, निर्भयता, साहसिकता, स्वधर्मपालन, स्पष्टवादिता, दृढ़ विश्वास, क्षमाशीलता, उत्कृष्ट वक्तृत्व, त्याग, वेदार्थ-तत्त्वज्ञता, वैराग्यवृत्ति एवं दृढ़व्रतित्व आदि गुण प्रमुख रूप से देखे जा सकते हैं। उनके चरित्र में श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा बुद्ध आदि की छवि देखी जा सकती है। अतः नायक के चरित्र एवं कृतित्व के आधार पर सभी दयानन्द आधारित काव्यों में शान्त रस की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है।

1. मेधाव्रत आचार्य विरचित 'दयानन्ददिग्विजयम्' में शान्तरसाभिव्यक्ति

महाकाव्य के नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती सांसारिकता से सर्वथा दूर एक योगी संन्यासी हैं। शास्त्रोक्तलक्षणों से

युक्त इस महाकाव्य में शान्त रस की प्रधानता है। सम्पूर्ण काव्य में शान्त रस की अविरल सरिता प्रवाहित हो रही है।

स्वामी जी ने ओ३म् स्वरूप परमात्मा के ध्यान में मग्न हो निर्बीज समाधि साधकर सच्चिदानन्द परब्रह्म का दर्शन किया–

ओ३म्रूपात्मध्यानलीनान्तरात्मा,
प्रज्ञानीन्द्रः सर्ववृत्तिव्रजानाम्।
रोधेनासौ साधिताबीजयोगः,
साक्षाच्चक्रे सच्चिदानन्दमीशम्।।[5]

इस श्लोक में शम स्थायीभावात्मक शान्त रस है, जो तत्त्वज्ञान तथा चित्तशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न हुआ है। अध्यात्मज्ञान, ध्यान और उपासना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति आदि संचारी भाव हैं।

आत्मसरिता में संयमी के स्नान की चर्चा करते हुए कवि लिखते हैं–

शुचिसंयमतीर्थशालिनी मृतनीरां करुणातरंगिणीम्।
स तु शीलतटात्मनिम्नगामभिषेकाय विवेश संयमी।।[6]

पवित्र बुद्धि वाले इस बाल मुनि ने मन की मोहजन्य मलिनता को कल्याणकारी सत्य-जल की तरंगों से धो दिया और इसके बाद पवित्र वैराग्यवस्त्र को पहना।

मनसोऽशुचितां प्रमोहजां शिवसत्याम्बुतरङ्गमालया।
अपनीय विशुद्धधीर्मुनिः शुचिवैराग्यमयाम्बरं दधौ।।[7]

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में शान्त रस है, जिसका स्थायीभाव शम है। आत्मसरिता में स्नान करना तथा मोहजन्य मलिनता को सत्य-जल से धोना आदि विभाव हैं। तत्त्वज्ञान, वैराग्य धारण करना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति तथा मति आदि संचारी भाव हैं।

2. अखिलानन्द शर्मा रचित 'दयानन्द-दिग्विजयम्' में शान्त-रस की अभिव्यक्ति

शान्त रस की प्रधानता वाले इस काव्य का नायक दयानन्द एक संन्यासी है, जो विष देने वाले को भी छुड़ाने वाला है। उन्होंने अपने विष को न्यौली क्रिया से दूर किया और अपने आदेश से विषदाता को कारागृह से मुक्त करा दिया, क्योंकि संसार को बन्धनों से मुक्त कराना ही नायक के जीवन का उद्देश्य होता है–

निःसार्य तद्गरलमीक्ष्य विषप्रदं तं,
बन्धे महीपरचिते निरमोचयत्सः।
संसारबन्धनविमोचनदत्तचित्ताः,
नो बन्धनेषु मनुजान् गमयन्ति सत्यम्।।[8]

इस पद्य में शम स्थायीभाव वाला शान्त रस है, जो तत्त्वज्ञान आदि विभावों से उत्पन्न हुआ है। रोमाञ्चादि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, मति तथा जीवदया आदि संचारीभाव हैं।

कवि के निम्न कथन में भी शान्त रस प्रकट हुआ है–

श्रयति फलमवश्यं मानवो विश्वमध्ये,
निजविहितगतीनां कर्मणामप्रयत्नात्।
इति मनसि विचिन्त्य प्रायशः कार्यजातं,
विधिगदितमवश्यं कार्यमेवेति सिद्धम्।।[9]

जगत् में मनुष्य अपने किये हुए कर्मों का फल अवश्य ही भोगा करता है, इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वेदविहित कर्मों का पूर्णरूप से आश्रयण करें।

3. रमाकान्त उपाध्याय प्रणीत 'श्रीदयानन्दचरित-महाकाव्यम्' में शान्तरसाभिव्यक्ति

महाकाव्य के नायक योगी और महात्मा हैं। अतः काव्य में शान्त रस की प्रधानता सर्वत्र है। यथा–

स नित्यमुक्तोऽजरशुद्धबुद्धो, न वा पुनः कर्मविपाकभोक्ता।
सदेकदेवोऽखिलरागहीनो, निराकृतिर्व्यक्तविभुर्विभाति।।[10]

उपर्युक्त पद्य में शम स्थायीभाव है। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान ही इसका आलम्बन विभाव है। निर्वेद, स्मृति, मति आदि इसके संचारी भाव हैं। इसमें योगी दयानन्द काशिराज को उपदेश देते हुए कहते हैं–वह परमात्मा नित्यमुक्त, अजर, शुद्ध, एकमात्र देव, सब रागों से हीन, सर्वव्यापक, निराकार होने पर भी व्यक्त सामर्थ्य वाला है और कर्मफल का भोक्ता नहीं है।

स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थों एवं उपदेशों में भी शान्त रस की धारा प्रवाहित हुई है। सुधा रस का पान करने तथा सदा वैदिक कर्म करने की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं–

अमृतकल्परसं श्रुतिनिर्झरं, पिबत भो दुरितं निजमुज्झत।
कुरुत कर्म सदैव सुवैदिकं, झटिति योगमिह व्यतिसीव्यत।।[11]

4. पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय विरचित 'आर्योदय-काव्यम्' में शान्त रस

इस काव्य का उत्तरार्द्ध भाग ही स्वामी दयानन्द का जीवनपरक है। इसमें स्वामी दयानन्द के संन्यासी व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने के कारण शान्त रस को अंगीरस के रूप में रखा गया है। ब्रह्म के तत्त्व पर दृष्टि रखने वाले मूलशंकर ने मनोहर माया जाल को तोड़ दिया। उनके वैराग्ययुक्त गृहत्याग का वर्णन कवि निम्न प्रकार से करते

हैं-

इति मनसि विचिन्त्य ब्रह्मतत्त्वान्तदृष्टि:,
अचिर-रुचिर माया मोहजालं बभञ्ज।
जन-जनक-जनन्याधिं हठाद् हेडमान-
स्तमसि गृहममुञ्चद् रामखांकेन्दुवर्षे।।[12]

तत्त्वदर्शी के वैराग्यपूर्ण विचारों में भी शान्त रस प्रकट हुआ है-

पितृव्यपादेषु दिवं प्रयाते-ष्वचिन्तयच्चेतसि तत्त्वदर्शी।
कुत: समायात् क्व गतश्च जीव:, किं जीवनं वा मरणं किमस्ति।।[13]

उपर्युक्त पद्य में शम स्थायीभाव है। मूलशंकर आलम्बन है। उनके चाचा की मृत्यु पर मूलशंकर का जीव-विषयक चिन्तन उद्दीपन विभाव है। अध्यात्मज्ञान आदि अनुभाव हैं तथा निर्वेद, मति, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव हैं।

5. डॉ. धर्मवीर कुण्डू प्रणीत 'दयानन्द-भास्करोदय:' में शान्त रस की अभिव्यक्ति

इस महाकाव्य के नायक इतिहासपुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं। दयानन्द वैराग्यवान् साधु हैं। इस काव्य का प्रधान रस भी शान्त ही है, क्योंकि इसमें सर्वत्र सांसारिक असारता के दर्शन होते हैं। यथा-बहन की मृत्यु से मूलशंकर को संसार से वैराग्य हुआ और उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई-

ततो वैराग्यमापन्नो बालको मूलशङ्कर:।
अन्तर्मुखी तदा तस्य जिज्ञासा समजायत।।
जातश्चाहं पुनर्लोके मृतश्चाहं पुनर्भुवि।
एवं जीवनमृत्योश्च भेदं ज्ञातुं समुत्सुक:।।[14]

इस पद्य में शान्त रस है, जिसका स्थायीभाव शम है। सांसारिक विषयों की नि:सारता का ज्ञान तथा अन्तर्मुखी वृत्ति होना आदि विभाव हैं। इसमें रोमांचादि अनुभाव हैं तथा मति, स्मृति, निर्वेद आदि संचारी भाव हैं।

6. सत्यव्रत वेदविशारद कृत 'महर्षिचरितामृतम्' में शान्तरसाभिव्यक्ति

महर्षिचरितामृतम् नाटक के नायक दयानन्द सरस्वती हैं। साहित्यशास्त्र के अनुसार निर्मित इस नाटक में प्रसङ्गानुकूल शान्त रस का प्रयोग हुआ है। इसके प्रथम अंक में करसन जी मूलशंकर को भवभयहारी तथा मंगलकारी देवाधिदेव शंकर को प्रणाम करने के लिए कहते हैं। वहाँ शान्त रस प्रकट हुआ है। यथा-

य: सृष्टिं न ससर्ज वर्जितविधिर्ब्रह्माण्डभाण्डोदरीं,
बीजं किन्तु तदादिकारणकलावल्ल्या: श्रुतिर्यं जगौ।
य: सम्बन्धमवापितोऽपि करणैर्भिन्नोऽतिमात्रप्रभ-
स्तोये बिम्बमिवारुणस्य हृदये तं शङ्करं धीमहि।।[15]

7. डॉ. गणेशदत्त शर्मा कृत 'दयानन्दचरितामृतम्' में शान्त रस

इस लघुकाव्य में महर्षि दयानन्द का आदर्श जीवनवृत्त वर्णित है। इसका अङ्गीरस शान्त है, अत: काव्य में अनेक स्थानों पर शान्त रस का प्रयोग हुआ है। यथा -

परिवारजनैर्नित्यं, प्रेक्षितोऽपि दिवानिशम्।
निर्गत: शिवसंकल्प:, निर्मोही निभृतं गृहात्।।[16]

इसमें शमस्थायीभावात्मक शान्त रस है, जो तत्त्वज्ञान आदि विभावों से उत्पन्न हुआ है। इसका आलम्बन निर्मोही मूलशंकर है तथा स्मृति, मति आदि संचारी भाव है।

8. विद्यानिधि शास्त्री विरचित 'श्रीदयानन्दर्षिचरितम्' में शान्तरसाभिव्यक्ति

इस गद्यकाव्य में धीरोदात्त नायक के रूप में समाजसुधारक, युगप्रवर्तक, आर्यसमाज के संस्थापक, महायोगी व अखण्ड ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द के जीवनवृत्त को काव्यरूप में निबद्ध किया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे-

स ह्यविनश्वरमीश्वरं जगतोऽसाधारणं कारणं मेने। तस्यैव विश्वेशस्य जगदीशस्य शान्तं शरणमन्विच्छन् बहुधा कृच्छ्रपतितोऽपि स नोद्विविजे। विपद्वज्राघाते दुर्जाते जाते सत्यपि न मनाग् व्यमनायत।[17]

अदसीयमिदं बलं केवलं भुवनभावनभगवद्-विश्वासान्वायत्तमेवाश्वयीत्। भगवतीश्वरे इव वेदेऽपि स परिवृढो दृढं व्यश्वसीत्।।[18]

उपर्युक्त गद्यों में शम स्थायी भाव वाला शान्त रस प्रकट हुआ है। चित्तशुद्धि, ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास आदि यहाँ विभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति आदि संचारी भाव हैं।

9. मेधाव्रताचार्य कृत 'दयानन्दलहरी' तथा अखिलानन्द प्रणीत 'श्रीदयानन्दलहरी' में शान्त रस की अभिव्यक्ति

दयानन्दलहरी तथा श्रीदयानन्दलहरी ये दोनों ही काव्य स्तुतिपरक तथा गुणवर्णनात्मक हैं। अत: इनमें भी जगह-जगह शान्त रस प्रकट हुआ है।

दयानन्द ऋषि की समाधि का वर्णन करते हुए मेधाव्रत जी लिखते हैं-

निरुध्यात्मन्यन्त: करणममलं शान्तविषयम्,

परब्रह्मानन्दे निरतमनसो ब्राह्मसमये।
दयानन्दस्यादो मुखकमलसौन्दर्यमतुलम्,
भवारण्यक्लेशं हरतु तमलेशं जनिजुषाम्।।[19]

इस पद्य में शान्त रस है, जिसका स्थायी भाव शम है। परमात्मस्वरूप का ज्ञान इसका आलम्बन विभाव है। अध्यात्मज्ञान, ध्यान, उपासना, समाधि आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति आदि व्यभिचारी भाव हैं।

कवि अखिलानन्द कहते हैं कि मोक्षमार्ग को बतलाने वाली परमात्मस्वरूप विद्या को जो अपने हृदय में धारण करते हैं उनको शीघ्र जन्म प्राप्त नहीं होता।

अभीष्टानां दात्रीं परमपदवीबोधनपरां,
यजु:सामाथर्वादिबहुविधरत्नानि दधतीम्।
निराकारामारात्रिगुणरहितामीश्वरमयीं
परस्ताद्ये विद्यां मनसि विदधत्याशु न जनि:।।[20]

उपर्युक्त पद्य में भी शमस्थायीभावात्मक शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है।

उपसंहार

साररूपेण कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन पर आधारित काव्यों में न केवल उनके जीवनचरित्र को सर्वजनहिताय सांगोपांग प्रस्तुत किया है, अपितु शान्त आदि रसों के समावेश ने इन्हें सर्वजन-रसास्वादन के योग्य भी बना दिया है। यद्यपि यह शोधपत्र इन काव्यों में वर्णित शान्त-रस का दर्शन मात्र है, तथापि दयानन्दाधारित इन काव्यों के रस एवं रसादि के समग्ररूप से वर्णन की नितान्त आवश्यकता है, जिससे आधुनिक समाज में युगपुरुष दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का वर्णन करने वाले भावी कवि एवं सामाजिक जन नैतिक आदर्श के साथ-साथ रसास्वादन में भी सफल हो सकें।

शोधार्थी,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

संदर्भ सूची

1. साहित्यदर्पण - 3.245-249
2. नाट्यशास्त्र - 6.84-85
3. नाट्यशास्त्र - 6.86
4. महासत्त्वोऽतिगम्भीर: क्षमावानविकत्थन:।
   स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रत:।।
   (दशरूपक - 2.4-5)
5. दयानन्द-दिग्विजयम्- मेधाव्रत आचार्य - 9.38
6. दयानन्द-दिग्विजयम्- मेधाव्रत आचार्य - 5.67
7. दयानन्द-दिग्विजयम्- मेधाव्रत आचार्य - 5.68
8. दयानन्द-दिग्विजयम्- अखिलानन्द शर्मा - 5.91
9. दयानन्द-दिग्विजयम्- अखिलानन्द शर्मा - 8.97
10. श्रीदयानन्दचरितमहाकाव्यम् - 7.45
11. श्रीदयानन्दचरितमहाकाव्यम् - 8.16
12. आर्योदयकाव्यम् उत्तरार्द्ध - 13.7
13. आर्योदयकाव्यम् उत्तरार्द्ध - 12.41
14. दयानन्द-भास्करोदय: - 1.71-72
15. महर्षिचरितामृतम् - 1.3.1, पृ.सं.-20
16. दयानन्दचरितामृतम् - 2.29
17. श्रीदयानन्दर्षिचरितम् - पृ.सं.- 124
18. श्रीदयानन्दर्षिचरितम् - पृ.सं.- 125
19. दयानन्दलहरी - श्लोक संख्या - 2
20. श्रीदयानन्दलहरी - श्लोक संख्या - 64

डॉ. श्रुति रंजना मिश्रा

राष्ट्र निर्माण में भाषा की महत्ता

अव्यक्त की अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति का परिज्ञान, परिज्ञात का परिष्कार पूर्वक विकास, यह सृष्टि विकास का सहज क्रम है। सृष्टि का अंग होने से मानव स्वभाव में भी सृजनात्मक, रचनात्मक और परिष्कारात्मक भावों का जागरण स्वाभाविक है। विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध वैदिक साहित्य के अथर्ववेद में एक मंत्र का उल्लेख है, जिसमें मानव समाज के विकास का क्रम वर्णित है। मंत्र के अनुसार विकास की इस प्रक्रिया का क्रम व्यक्ति के पश्चात् परिवार उसका प्रधान (गृहपति) आहवनीय, सम्य् सामित्य और आमंत्रणीय आदि का क्रमशः विस्तार होते-होते राष्ट्र तक जाता है।

सा उत्क्रमत सा गार्हपत्ये न्यत्क्रामत्
सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्।
सोदक्रामत् साऽऽहवनीये न्यक्रामत्।
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य समां सम्यों भवति य एवं वेद
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद
सोदक्रामत् साऽऽमन्त्रणे न्यक्रामत्।
यन्त्यस्यामन्त्रणमामंत्रणीयों भवति य एवं वेद।[1]

मानव मस्तिष्क को विकास की निश्चित दिशा में ढालने का उपक्रम सबसे पहले परिवार के मुखिया के साथ प्रारम्भ हुआ। क्षेत्र तथा कार्य के आधार पर अनेक परिवार समूह विकसित हुए। इन समूहों के आधार पर समाज के बड़े-बड़े जन समूह विकसित होते गये, जो एक परिवार की ही भाँति रहने लगे। सुसंस्कृत परिवारों के गृहपतियों ने अपने अपने स्थानीय सांस्कृतिक समूह निर्मित किये। इस विकास क्रम में प्रत्येक समूह में पूर्व के समूह की अपेक्षा अधिक व्यक्ति और क्षेत्र जुड़ते जाते हैं। मानव सभ्यता का यह स्वाभाविक विकास क्रम है जो अपनी आवश्यकता और अपेक्षा के अनुरूप अपनी दिशा स्वतः ही निर्धारित करता चलता है। इस प्रवाह का मूल यदि व्यक्ति है तो उसका गंतव्य विश्व बन्धुत्व की विराट कल्पना को समेटे 'राष्ट्र' है, जो आत्म ज्ञानी ऋषियों की तपस्या का परिणाम है। वेद इसी सत्य की घोषणा करता है-

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विधाः तपो दीक्षां उपासेतुः।
ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जाते तदस्मै देवा उपासं नमंतु।।

राष्ट्र शब्द की उत्पत्ति-

राष्ट्र शब्द सर्वधातुभ्यः स्ट्रञ् इस उणादि प्रत्यय के संयोग से 'रासु' शब्दे' या राजृ शोभते' धातु से निर्मित है। संस्कृत का 'राष्ट्रम्' शब्द राज्ऽस्ट्रन् के योग से बनता है, जिसका अर्थ 'राष्ट्र दुर्ग बलानि च' अर्थात् राष्ट्र, दुर्ग, साम्राज्य आदि है।

'राष्ट्र' स्व से प्रारम्भ होता है। 'स्व' की अनुभूति राष्ट्र का मूल उत्स है और व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र आदि सब 'स्व' के विस्तार का परिणाम है, राष्ट्र में ही 'स्व' परिवार, समाज और राष्ट्र समाहित है।[2] अर्थात् 'स्व' का विस्तार जब अहम् से वयम् तक पहुंचता है, जिसमें परिवार समाज तथा उसके आवश्यक उपादानों का समावेश हो, उसे राष्ट्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। राष्ट्र का सम्बन्ध भू-भाग से होने पर भी केवल पर्वत, नदी, नालों, वनों से आवृत्त भूखण्ड राष्ट्र नहीं बन सकता। उसमें 'स्व' की विस्तृत मानसिकता का स्वरूप भी समाविष्ट

होना आवश्यक है, यह मानसिकता किसी भू-भाग में समूह स्वरूप में बसे जन-जन की मनोभूमि की होती है, जिसका केन्द्र राष्ट्र होता है।[3]

'राष्ट्र' के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणाएं

प्राय: सभी विद्वानों ने 'राष्ट्र' के लिये किसी निश्चित भू-भाग को अनिवार्यत: स्वीकार किया है। भूमि के ही कारण व्यक्ति के मन में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की उदात्तभावना की अनुभूति होती है, भूमि जन और उसकी संस्कृति (प्रकृति) इन तीनों के एकात्म से ही 'राष्ट्र' का भाव साकार होता है। डॉ. सुधीन्द्र के अनुसार, 'राष्ट्र का आधार एकनिश्चित भू-भाग होता है, जिसके कारण ही 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना जन्म लेती है, सच तो यह है कि भूमि (भौगोलिक एकता) भूमिवासीजन (जन गण की राजनीतिक एकता) और जन संस्कृति (सांस्कृतिक एकता) तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का सृजन सम्भव होता है।[4] राष्ट्र एक ऐसा मानव समूह माना गया है, जिसकी सदस्यता परिवार की भांति अनिवार्य है ताकि इसके सदस्य अनेक बंधनों से एक दूसरे से बंधे रहे। वर्तमान वैचारिक और भावात्मक जीवन स्थितियों में राष्ट्र, विचार एवं भावना की शक्ति का प्रतिरूप बन गया है, जिसमें आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भावनाओं का पुट विद्यमान रहता है। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा के समर्थ कवि माखन लाल चतुर्वेदी ने हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त् के भू-भाग तथा हिमालय की सभ्यता के प्रसार स्थल को राष्ट्र माना था।[5]

श्री चतुर्वेदी ने राष्ट्र की व्याख्या करते हुए यह भी कहा कि राष्ट्र के वासी उस मिट्टी के नहीं होते जिस मिट्टी पर वह राष्ट्र बसा हुआ है, न उस आकाश के होते हैं, जो उस पर छाया हुआ है, न उस धन के होते हैं जो उसके पास एकत्रित है, न उस प्रभुता के होते हैं, जिसे वह अपनों या औरों पर दिखा कर गर्वित है, किंतु उस वचन और कृति के माने राष्ट्र होता है, जो उसके निवासियों के जीवन से निकलती है, उन्मेष बनकर आती है और इतिहास बनकर रह जाती है।[6] श्री चतुर्वेदी ने राष्ट्र के शक्ति संचय के लिये रीतिरिवाजों की भिन्नता को बाधक नहीं माना है। उनके अनुसार रीति रिवाज की भिन्नता किसी राष्ट्र के एक बने रहने में बाधा नहीं पहुंचा सकती। विविधता चाहे वह रीतिरिवाजों के क्षेत्र की हो, चाहे भाषा की, वह राष्ट्र की मौलिकता का ही दर्पण है। विविधता अपने आपमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण की असीमता को प्रतिबिम्बित करती है, यह तो राष्ट्र की आधारभूत सम्पत्ति है। इससे राष्ट्र शक्ति ग्रहण करता है। यहाँ यह स्पष्ट रहना चाहिए कि विविधता और मतभेद में अन्तर है। विविधता में मतभेदों की संकीर्णता नहीं रहती।

सुरेन्द्र यादव ने राष्ट्र के सन्दर्भ में परिभाषा करते हुए उसे अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में देखने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि 'भावात्मक और मनोवैज्ञानिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में एक निश्चित भू-भाग, निश्चित जनसंख्या, निश्चित संस्कृति और सभ्यता, सार्वभौमिकता न्यूनतम जनभाषा और साहित्य तथा विविधता में एकता आदि अनेक तत्वों के आधार पर राष्ट्र की परिकल्पना प्राय: सम्भव है।' रामचन्द्र अग्रवाल ने अनेक विदेशी विद्वानों का सन्दर्भ देते हुए राष्ट्र की परिभाषा करते हुए कहा है, 'राष्ट्र जातीयता के सूत्र में बंधी हुयी वह जनता है जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश पर निवास करती है, जिसकी एक सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य परम्परा, अथवा इतिहास, सामान्य रीतिरिवाज तथा उचित अनुचित की सामान्य चेतना है। यह ऐसे लोगों का समूह है जो घनिष्ठता, अभिन्नता और प्रतिष्ठा की दृष्टि से संगठित है और एक मातृभूमि से सम्बन्धित है। डॉ. बासुदेव शरण अग्रवाल ने राष्ट्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है- "भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र बनता है।"[7]

राष्ट्र निर्माण में भाषा का महत्व

भाषा की एकता भी राष्ट्र निर्माण में सहयोगी होती है राष्ट्रीय चेतना के जागरण के लिये भाषागत् एकता बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा के माध्यम से भावना और विचारों का परस्पर आदान प्रदान होता है। भाषा राष्ट्र के सामुदायिक मन का प्रतिबिम्ब होता है। जिससे सामुदायिक दायित्व समझ में आता है।[8] राष्ट्रीय चेतना के लिये एक ऐसी सर्वमान्य सर्व-समावेशी भाषा की कल्पना की जाती है जो राष्ट्रीय भावना और विचारों को प्रभावी स्वर दे सके। मातृसभ्यता और मातृभूमि के साथ मातृभाषा को भी राष्ट्र का कल्याण करने वाली देवी कहा गया है।[9]

पूर्व में भारत संस्कृत भाषा के माध्यम से परस्पर जुड़ा था। संस्कृत जन भाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी। संस्कृत

वाङ्मय में राष्ट्र की जितनी व्यापक, प्रायोगिक तथा तथ्य परक अवधारणा है, उतनी अन्यत्र सम्भव ही नहीं है। सच तो यह है कि भारत राष्ट्र की अवधारणा संस्कृत भाषा और उसका विपुल साहित्य ही व्यक्त करता है। आज इस राष्ट्र में अनेक भाषाएं विद्यमान है पर धार्मिक कर्मकाण्डों और धार्मिक संस्कारों में सम्पूर्ण देश में संस्कृत भाषा का समान प्रयोग पाया जाता है। यह तत्व सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बांध कर एक इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है।

राष्ट्र के चैतन्य जागरण या राष्ट्र निर्माण में उपर्युक्त धर्म, संस्कृति, परम्परा, इतिहास और भाषा के साथ भूमि के प्रति श्रद्धा भाव तथा उसमें निवास करने वाले जन के हृदय में स्थायी रूप से अनुस्यूत् एकात्मवृत्ति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। वर्तमान युग में इन तत्वों के साथ राजनीतिक चेतना, आर्थिक संरचना और अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध भी राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य राष्ट्रीय भावनाओं से आपूरित है। उसमें प्रगतिशील राष्ट्र के चरम उत्थान और राष्ट्र वासियों की सुख-समृद्धि के लिये एकात्म भाव से परिपूर्ण आकांक्षाओं को बार-बार प्रगट किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद में एक मंत्र आता है-

पुरन्ध्रिर्योषा (जायताम्)
निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम्।[10]

इस मंत्र में राष्ट्र की समृद्धि की अभिलाषा सन्निहित है। मंत्र कहता है कि हमारे राष्ट्र में सर्वांग सुन्दर सद्गुणी तेजस्वी नारियाँ जन्म लें, हमारी भूमि पर समय-समय पर मेघ राज जलवर्षा करें, धन, धान्य, फल और औषधि का भरपूर उत्पादन हो, हमारे राष्ट्र के लोग योग-क्षेम से युक्त जीवन व्यतीत करने में सक्षम हों।

वेदों के अतिरिक्त स्मृति पुराणों में भी राष्ट्र का पराक्रम, वैभव दिखाई देता है। वीर सावरकर ने भी कहा है, हमारे राष्ट्र के पराक्रम और यश के ही श्रुति, स्मृति, पुराण आदि विशद् साहित्य भण्डार हिमालय के समान मूर्तिमान स्मारक हैं।[11]

रामायण, महाभारत जैसे आर्य महाकाव्यों ने तो हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को अनेक संकट पूर्ण कालखण्डों में सुरक्षित रखा है। ये दोनों ग्रंथ हमारे राष्ट्र के साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इन ग्रंथों से सदा राष्ट्र जीवन को प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी। हमारे नीति-साहित्य ने भी राष्ट्रीयता की भावना का पोषण कर उसे पुष्ट किया है।

कालिदास का काव्य राष्ट्रीय चेतना का ही काव्य है। 'मेघदूत' का पाठक काव्यरस के साथ सम्पूर्ण भारत की ललित छवि का दर्शन करता चलता है। 'रघुवंश' ऐतिहासिक महत्व की राष्ट्रीय रचना ही है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ने राष्ट्र के साहित्यिक वैभव को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित किया है।

भारतीय इतिहास के मध्य युग में राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थितियों में ह्रास का कारण भारत के जनमानस का विदेशी आक्रमण, शासन और अत्याचार से आक्रान्त होना तथा उसका राष्ट्र भाव शिथिल होना माना जा सकता है। डॉ. सुभाष महाले के शब्दों में, "हमारे इतिहास का जो मध्य काल है, वह राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों में उथल-पुथल का काल है, जबकि विरोधी शासन से आक्रान्त भारतीय जनमानस निराश और कुण्ठित होकर अपने राष्ट्रीय गौरव को भूल सा गया था। भारत की एकात्मधर्मी सांस्कृतिक-सामाजिकता भयानक खतरे में पड़ गयी थी। उस समय साहित्य ने ही एक सुदृढ़ संग्रंथक सूत्र का काम किया था।"[12]

मध्य युग में राष्ट्र भाव के शैथिल्य से ही पराधीनता आयी, शासक वर्ग अधिकांशतः पराभूत और समर्पित होता गया किंतु भारत की संत-परम्परा, जो भारतीय राष्ट्रीयता के पोषण, जागरण के लिये सदैव सजग रही है, इस काल में भी राष्ट्र जागरण के लिये समाज के मध्य मुखरित हुयी। सम्पूर्ण राष्ट्र की चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना द्वारा सदैव के लिये भारतीय राष्ट्रीयता को अखण्ड और जीवन्त रखने की धर्माधिष्ठित योजना करने वाले आदि शंकराचार्य से चलने वाली यह परम्परा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानंद से होती हुयी नानक समेत सिक्खों के दस गुरू, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, रविदास आदि संतकवियों तक अविच्छिन्न चलती रही है। मध्य युग के संकट काल में संत कवियों ने समाज को विकृत और विद्रूप करने वाली रूढ़ियों पर निर्मम प्रहार करके सामाजिक समरसता को स्थिर रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस काल के संत कवियों ने स्वतंत्रता को आध्यात्मिक स्वरूप देकर समानता और बन्धुत्व के भाव को जाग्रत करने का प्रयास किया। तुलसी ने रामराज्य, कबीर ने वर्णहीन समाज

और जायसी आदि सूफी कवियों ने प्रेम लोक का वर्णन करके राष्ट्रीय चेतना और मानव कल्याण की भावना को अभिव्यक्त किया है।

तुलसीदास, सूरदास, नानक, रविदास, मीराबाई जैसे संत कवियों के शब्द उस युग में राष्ट्र के शब्द बन गये। उनकी वाणी युगों-युगों से राष्ट्र जीवन को प्रेरणा देती आ रही है।[13]

मुगल शासकों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय समाज एक बार पुनः अंग्रेज शासकों के जाल में फंस कर कराह उठा, तब साहित्यकारों की लेखनी से निकले अग्नि के समान दहकते शब्दवाणों ने भारतीय जनमानस को जगाने का कार्य किया। मैथिलीशरण गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, माखन लाल चतुर्वेदी, जयशंकर प्रसाद, गणेश शंकर विद्यार्थी, पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामधारी सिंह 'दिनकर' और अज्ञेय जैसे लेखनी के योद्धाओं ने स्वाधीनता संग्राम सेनानियों को राष्ट्र के लिये सर्वस्व अर्पण की प्रेरणा देकर पुनः राष्ट्रीयता को पुष्ट करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. अथर्ववेद-कान्द 8- सूक्त 10- मंत्र 2
2. भारतीय राष्ट्र भाषा : सीमाएँ और समस्याएँ - डॉ. सत्यव्रत, पृ. 1
3. सावरकर और माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना - डॉ. सुभाष महाले, पृ. 25
4. हिन्दी कविता में युगांतर - डॉ. सुधीन्द्र, पृ. 229
5. साहित्य देवता - माखन लाल चतुर्वेदी, पृ. 10, 11
6. राष्ट्रीयता की आवश्यकता - हिंदुस्तान साप्ताहिक - अंक 8-10-1961
7. राजनीति के सिद्धांत - रामचंद्र अग्रवाल, पृ. 83, 84
8. सावरकर और माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना - डॉ. सुभाष महाले, पृ. 35
9. हिंदू राष्ट्र भ्रम और सत्य - श्री राम साठे, पृ. 59
10. हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा - एक समग्र अनुशीलन- डॉ. देवराज शर्मा 'पथिक', पृ. 32
11. हिंदू राष्ट्र भ्रम और सत्य - श्री राम साठे, पृ. 60
12. सामयिकी सम्पादक - डॉ सत्यव्रत, पृ. 22
13. राष्ट्र-चिंतन - पं दीनदयाल उपाध्याय, पृ. 50

रोहित कुमार

महाभाष्य-रत्नप्रकाश के आलोक में कर्मवद्भाव विमर्श

शोध-आलेख सार :

संस्कृत भाषा के निरन्तर प्रवाह को बनाए रखने में पाणिनीय व्याकरण का अप्रतिम योगदान है। इस व्याकरण परम्परा में भी मुनिवर पतञ्जलि द्वारा विरचित महाभाष्य सर्वातिशायी है। यह सरस एवं सरल शैली में लिखित होने के बावजूद भी गूढ़ तथ्यों से ओत-प्रोत है। इसके इसी गुण के कारण अनेक विद्वानों द्वारा इस पर टीकाग्रन्थों की रचना किया गयाय जिनमें कैय्यट, शिवरामेन्द्र सरस्वती, भर्तृहरि आदि उल्लेखनीय है। महाभाष्य पर शिवरामेन्द्र सरस्वती के द्वारा रत्नप्रकाश टीका की रचना किया गया है, जिसमें व्याकरण महाभाष्य के विषयों को सरलता से प्रतिपादित किया गया है। उसी में से एक महत्त्वपूर्ण विषय कर्मवद्भाव भी है। कर्मवद्भाव का आशय यह है कि जब कर्म, कर्त्ता बन जाता है तो उसे कर्त्ता को प्राप्त होने वाले कार्य स्वाभाविक रूप से होने चाहिए, कर्म को प्राप्त होने वाले कार्य नहीं। परन्तु भाषा में यह देखा जाता है कि सौकर्यातिशय की विवक्षा होने पर कर्म से परिवर्तित होकर बनने वाले कर्त्ता को कर्त्ता के रूप में स्वीकार करने पर भी कर्म को विहित कार्य भी दिखाई देते हैं, इसी को कर्मवद्भाव कहते है। इस शोध-आलेख में अन्वेषक के द्वारा शिवरामेन्द्र सरस्वती विरचित महाभाष्य की रत्नप्रकाश टीका के आलोक में कर्मवद्भाव विषय पर सार्थक विचार किया गया है।

मुख्य-शब्द :

भावाभिव्यक्ति, निश्चितार्थ, सौकर्यातिशय, सकर्मक, अनुभवसिद्ध, कर्मकर्तृवाच्य, सारल्यद्योतन, विदारणार्थ, कार्यातिदेश, कर्मवद्भाव, तुल्यक्रियकर्ता।

विषय-प्रवेश :

सामान्य जनों से लेकर विद्वानों को भी यह ज्ञात है कि हमारे भावों के आदान-प्रदान में मुख्य साधन के रूप में वाक्य ही आता है। संकेतादि माध्यम से भी भावाभिव्यक्ति होती है, किन्तु न तो इसका कोई परिमाप है और न ही कोई निश्चितार्थ में संकेत। अतः वाक्य ही प्रकृष्ट साधन के रूप में भावाभिव्यक्ति के लिए है, यह स्पष्ट है। परम्परा को देखने से यह साफ-साफ कहा जा सकता है कि पहले भाषा बनी, उसके बाद व्याकरणशास्त्र का निर्माण हुआ। व्याकरणशास्त्र नियामक के रूप में काम करता है, अन्यथा जो वैयाकरण अर्धमात्रा के लाघव होने पर पुत्रोत्सव की तरह प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उनके द्वारा ही एक ही अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए विभिन्न प्रकार के वाक्यों की संरचना का अनुमोदन करना कठिन है। यद्यपि संस्कृत वाङ्मय में विभिन्न प्रकार के वाक्यों का दर्शन होता है, किन्तु प्रमुखता की दृष्टि से तीन प्रकार के वाक्य हमें सामान्यतया प्राप्त होते हैं-कर्तरि प्रयोग, कर्मणि प्रयोग, भावे प्रयोग।[1] इसी को कुछ लोग कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य भी कहते हैं।

वक्ता कभी-कभी प्रयोजनवश कर्म तथा करण आदि कारकों को भी कर्ता के रूप में प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है। जैसे- 'परशुश्छिनत्ति' यहाँ 'छेदन' अर्थात् काटने की क्रिया में परशु (कुल्हाड़ी) करण होता है तथापि वक्ता सौकर्यातिशय को द्योतित करने के लिए 'परशु' को कर्त्ता कारक के रूप में वाक्य में प्रयुक्त करता है। इसी प्रकार 'स्थाली पचति' में 'स्थाली' पचन क्रिया का 'आधार' है तथापि वक्ता इसे कर्त्ता के रूप में वाक्य में प्रयुक्त करता है। इसी प्रकार जब वक्ता किसी क्रिया के 'कर्म' को कर्म के रूप में न कहकर सौकर्यातिशय की विवक्षा में 'कर्ता' बना देता है। ऐसी स्थिति में वह कर्त्ता जो वस्तुतः कर्म था

उसको अर्थात् कर्म से परिवर्तित हुए कर्त्ता को भी कर्म को प्राप्त होने वाले कुछ कार्य प्राप्त हो जायें। कर्म के कर्ता बन जाने पर किस प्रकार का परिवर्तन आता है, इसको स्पष्ट करने का उपक्रम किया जा रहा है।

वाक्य-प्रयोग :

सभी प्रकार के वाक्यों में कर्ता, कर्म, क्रिया का विशेष विचार करना पड़ता है। केवल कर्ता का विचार या केवल क्रिया के विचार से कार्य का सम्पादन सम्भव नहीं है। प्रयोग के अनुसार धातुरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। धातुओं से कर्त्रर्थ में लकार होने पर जो धातुरूप बनते हैं उनका प्रयोग जिस वाक्य में होता है उनको कर्तरि प्रयोग या कर्तृवाच्य कहा जाता है। यथा–रामः पुस्तकं पठति, राधा नदीं पश्यति। इन वाक्यों में जो 'पठति, पश्यति' क्रियाएँ प्रयुक्त हैं, वह सभी कर्त्रर्थ में प्रयुक्त हैं। उन्हीं धातुओं से यदि वे धातुएँ सकर्मक हैं तो कर्म अर्थ में लकार करके कर्मवाच्य के वाक्य बनाए जाते हैं। यथा–रामेण पुस्तकं पठ्यते, राधया नदी दृश्यते। यदि धातु अकर्मक है तो भाव अर्थ में लकार का प्रयोग करके भाववाच्य में वाक्यों का विन्यास किया जाता है। यथा–तेन भूयते, मया भूयते, रामेण स्थीयते, त्वया दीप्यते इत्यादि।

इन वाक्यों में कर्म नहीं है। वाक्यों का निर्माण करते समय उक्त, अनुक्त विषय का भी स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा भ्रम होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। लकार या प्रत्यय जिस अर्थ में होते हैं, वही अर्थ उक्त होता है, उक्त से तात्पर्य प्रधानता से है। एक वाक्य में एक ही उक्तता को धारण करता है, अन्य सभी अर्थ अनुक्त होते हैं। व्याकरण के नियम के अनुसार ''प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा[2], कर्मणि द्वितीया[3], कर्तृकरणयोस्तृतीया[4], चतुर्थी सम्प्रदाने[5], अपादाने पञ्चमी[6], षष्ठी शेषे[7], सप्तम्यधिकरणे च[8], सम्बोधने च''[9] ये सभी अनुक्त होते हैं, किन्तु अन्य नियम भी हैं उक्त, अनुक्त के अनुसार। यथा–अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है एवं उक्त कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है। अनुक्त कर्ता और अनुक्त करण में तृतीया विभक्ति होती है। यथा–''रामः ग्रन्थं लिखति'' इस वाक्य में 'राम' कर्ता है और उसमें प्रथमा विभक्ति है। यहाँ कर्ता उक्त है। ''रामेण ग्रन्थः लिख्यते'' इस वाक्य में कर्म का प्राधान्य है, वही उक्त है और उसी में प्रथमा विभक्ति है। भाववाच्य में भाव की प्रधानता होती है, किन्तु क्रियापद सर्वदा एकवचन में ही होता है। यथा–मया स्थीयते, आवाभ्यां स्थीयते, अस्माभिः स्थीयते। इन वाक्यों में कर्ता के वचनों में परिवर्तन होने के बाद भी क्रिया में परिवर्तन नहीं हुआ। कारक का प्रयोग विवक्षा के अधीन होता है। वक्ता की इच्छा जैसी होगी, वैसा ही वह प्रयोग करेगा। कोई कर्तृवाच्य में बोलना या लिखना चाहते हैं तो कोई कर्मवाच्य एवं भाववाच्य में बोलना या लिखना चाहते हैं।

कर्मवद्भाव :

संस्कृतवाक्यों की दुनियाँ में उपर्युक्त वाक्यप्रयोगों के अलावा भी कुछ विशिष्ट प्रयोग है। इन्हीं में से एक है ''कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः''[10] सूत्र के अनुसार प्रयोग। इस सूत्र का भाव इस प्रकार है- जिस क्रिया का आश्रय पहले कर्म था उसी क्रिया का आश्रय कर्म से परिवर्तित होकर बना हुआ कर्त्ता भी हो तो उस कर्त्ता को वे सभी कार्य हो जाते हैं, जो पहले कर्म को होते थे, इसी को कर्मवद्भाव कहा जाता है। कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होता है, यह अनुभवसिद्ध एवं शास्त्रसिद्ध दोनों है। एक ही वाक्यार्थ को विभिन्न रूपों में वक्ता प्रयोग कर सकता है। यथा–''अहं काष्ठं भिनद्मि'' यह वाक्य कर्तृवाच्य में है। इसी के बदले ''मया काष्ठं भिद्यते'' कहा जा सकता है, यह वाक्य कर्मवाच्य में है। इसको ''भिद्यते काष्ठम्'' के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। ''भिद्यते काष्ठम्'' का अर्थ है लकड़ी स्वयं टूट रही है। हिन्दी में भी इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग दिखाई देता है। जैसे- पैर भूमि में धंसा जा रहा है, भात (चावल) पक रहा है, दर्द से सिर फटा जा रहा है इत्यादि।

''भिद्यते काष्ठम्'' सहित एतादृश जो वाक्य है वह वाक्य कर्मकर्तृवाच्य में है। जहाँ पर कर्म का प्रयोग कर्ता की तरह किया जाता है उसे कर्मकर्तृवाच्य कहा जाता है। सिद्धान्तकौमुदीकार ने इस प्रकार से विषय का निरूपण किया है–''यदा सौकर्यातिशयं द्योतयतुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते तदा कारकान्तराण्यपि कर्तृसञ्ज्ञा लभन्ते, स्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वात्। तेन पूर्व करणादिसत्वेऽपि सम्प्रति कर्तृत्वात्कर्तरि लकारः। साध्वसिश्छिनत्ति। काष्ठानि पचन्ति। स्थाली पचति।''[11] जब वक्ता के द्वारा वाक्य को अत्यन्त सरलतापूर्वक प्रतीति कराने के लिए कर्ता के व्यापार की विवक्षा करते हैं, तब अन्य कारक भी कर्ता बन जाते हैं; क्योंकि व्यापार में कर्ता का प्राधान्य होता है। आचार्य पाणिनि ने ''स्वतन्त्रः कर्ता''[12] सूत्र का पाठ किया है। इस प्रकार पहले करण कारक आदि होते हुए भी सारल्यद्योतन में कर्ता बन जाने से उनसे कर्त्रर्थ में लकार होता है। यथा–

साधु असिः छिनत्ति, काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति इत्यादि। यहाँ यह विचारणीय है कि तलवार, लकड़ी और स्थाली (हाँडी या पतीला) यह तीनों निर्जीव हैं; जिनमें स्वयं क्रिया सम्पादित करने का सामर्थ्य नहीं है। जब तक कोई चेतनावान इन सबों का संचालन न करे, तब तक ये कार्य सम्पादन करने में समर्थ नहीं है। अतः ये तीनों असिः, काष्ठानि, स्थाली साधन है, जिसके फलस्वरूप ''रामः असिना छिनत्ति, पुरुषाः काष्ठैः पचन्ति, माता स्थाल्या पचति'' इस प्रकार का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु वक्ता की इच्छा के अनुसार ''तलवार ठीक से काटता है, लकड़ी पकाती है, बर्तन पकाता है'' इन वाक्यों में करण को कर्ता मानकर प्रयोग किया गया है। ये सब करणवत् के उदाहरण हो सकते हैं।

''कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः'' सूत्र के अनुसार कर्म में स्थित क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् होता है। इस सूत्र में ''कर्मवत्'' पद में ''वत्'' ग्रहण के परिणामस्वरुप कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती है, अन्यथा कर्ता सम्पूर्णतया कर्म बन जाता, फलतः भाव में लकार नहीं हो पाता। अतः कर्ता कर्म के समान हो जाता है न कि सम्पूर्णतया कर्मत्व को प्राप्त करता है। जब कर्म ही कर्ता बन जाए, तब ''कर्मवद्भाव'' की स्थिति बनती है। यथा– ''देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति'' इस वाक्य में देवदत्त कर्ता है एवं काष्ठ कर्म है। इसमें भिदिर् धातुजन्य जो विदारणार्थ है, वह कर्म में अर्थात् काष्ठ में स्थित है। जब काष्ठ को कर्ता के रूप में प्रयोग किया जाता है तब भी ''भिनत्ति'' क्रिया रहती है, अर्थात् विदारणार्थ विद्यमान रहता है। अतः तुल्य क्रियाकर्ता हो गया, परिणामतः कर्मवद्भाव हो जाता है। यथा–पच्यते ओदनः (स्वयमेव)। भिद्यते काष्ठम् (स्वयमेव)। यहाँ रूपातिदेश न होकर कार्यातिदेश होता है। वस्तुतः ''पाचकः ओदनं पचति'' यह कर्तरि प्रयोग है, इसी को सारल्य के कारण ''कर्मकर्ता'' में प्रयोग किया गया है। उसी को ''पच्यते ओदनः'' के रूप में व्यक्त किया गया है। ''भिद्यते काष्ठम्'' में भी वही स्थिति है। ये वाक्य कर्मकर्तृवद्भाव में होने के बाद भी कर्तृवाच्य में ही अवस्थित है। अत एव काष्ठे पच्येते, काष्ठानि पच्यन्ते इत्यादि वाक्यों का भी निर्माण और प्रयोग हो सकता है।

महाभाष्य के टीकाकार शिवरामेन्द्र सरस्वती जी ''वत्करणं किमर्थमिति'' जिज्ञासा पर लिखते हैं-इस पंक्ति का भाव–वत्करण न होने पर भी कर्म के समान व्यपदेश के अतिदेश होने पर कर्मसंज्ञा सिद्ध होती है, विना वत्करण करने पर भी, यह है। तद्यथा–''असत्यपि वत्करणे कर्मवद्व्यपदेशातिदेशे सति कर्मसंज्ञा सिध्यति विनापि वत्करणेति भावः।''[13] इस प्रसंग में प्रदीपटीकाकार लिखते हैं कि– ''विनापि वतिना परार्थे शब्दप्रयोगात् तदर्थलाभ इति भावः।''[14] इसका शिवरामेन्द्र ने प्रत्याख्यान किया है–वत्करण के अभाव में कर्मसंज्ञा का ही प्रसंग होगा। वत्करण के सामर्थ्य से अकर्मकत्व में ''कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः'' सूत्र का प्रयोग होगा। ''स्वाश्रयमपीति'' में स्वम् पद आया है, उसका अर्थ अकर्म है, अतः तदाश्रय के द्वारा अकर्मत्व का ग्रहण होगा। यद्यपि लान्त के कर्ता को कर्मवत् कहने के विना भी भाव में लकार सिद्ध हो सकता था। जैसे कृत्य, क्त एवं खलर्थकप्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है; किन्तु कर्मसंज्ञाप्रयुक्त कार्य के अतिदेश के लिए वत्करण आवश्यक है। इसका उदाहरण–साधु असिः छिनत्ति है। असि अर्थात् तलवार आदि की तीक्ष्णतादि के अतिशय विवक्षित होने पर कर्तृत्व होता है। जब जिस कारक का जिस धातुवाच्य क्रिया से जनित फलांश में स्वातन्त्र्य की विवक्षा से उस व्यापार में हो, तब वह धातु वर्तमान रहती है। धातुपाठ में प्रसिद्ध कर्ता के व्यापार के ही तत्तद्धातु के अर्थत्व के कारण दर्शित होने पर भी धातुओं के अनेकार्थ से कर्मादिव्यापारवृत्तित्व निवारित नहीं होता है। साधु स्थाली पचतीति अर्थात् जिस स्थाली (बर्तन) में शीघ्रता से चावल पक जाते हैं, उस स्थाली के प्राशस्त्य की विवक्षा में ''साधु स्थाली पचति'' यह व्यवहार होता है।

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः सूत्र में ''कर्मणा'' पद में जो तृतीया विभक्ति है, यहाँ तुल्य शब्द का अध्याहार करके व्याख्या करने पर तुल्यक्रियत्व होने से कर्ता कि तुल्यता होती है, यह कैय्यट का अभिप्राय है। रत्नप्रकाशकार इसमें असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं–''एतेन कर्मणेति तृतीया तुल्यशब्दाध्याहारेण व्याख्यास्यते। तुल्यक्रियत्वाच्च कर्तुस्तुल्यत्वमिति प्रश्नः' इति निरस्तम्। अध्याहाराश्रयेण विद्यमानपरित्यागे 'स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामटति दुर्मतिः' इति न्यायापातात्।''[15] अध्याहार के आश्रयण से विद्यमान के परित्याग में अपने घर में पायस का त्याग करके दुर्मति अर्थात् दुष्ट बुद्धिवाला भिक्षा माँगता है, इस न्याय की प्रवृत्ति होगी। शिवरामेन्द्र जी को ''अध्याहार'' सही नहीं लग रहा है।

तुल्यक्रिय शब्द में जो तुल्य शब्द का प्रयोग किया गया है, वह सादृश्यवाचक तुल्य शब्द है, न कि साधारणवाचक। भूषयते कन्या स्वयमेवेति, ''णिश्रन्थिग्रन्थि–

ब्रूञामात्मनेपदाकर्मकाणाम्'' इस वार्तिक का यह उदाहरण है। इसका ''अलङ्कुरुते कन्या स्वयमेव'' यह भी उदाहरण है। अवकिरत इति, हस्तिनं कश्चित् पांश्वादिनावकिरति। तत्र सौकर्यातिशयेन हस्तिनः कर्तृत्वेऽयं प्रयोगः। अन्तर्भावितण्यर्थे कर्मणो वा हस्तिनः स्वातन्त्र्यविवक्षायामयम्। चिकीर्षत इति, करोत्यर्थमादायात्र कर्मस्थक्रियत्वं बोध्यम्।[16] हाथी को कोई पांशु आदि के द्वारा अवकिरण करता है। वहाँ सौकर्यातिशय में हाथी के कर्तृत्व में यह प्रयोग है, अथवा अन्तर्भावितण्यर्थ में कर्मरूप हाथी की स्वतन्त्र विवक्षा में यह प्रयोग है। चिकीर्षत इति, करोति के अर्थ का ग्रहण करके यहाँ कर्मस्थक्रियत्व जानना चाहिए।

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः सूत्र पर रत्नप्रकाशकार का निष्कर्ष इस प्रकार से दिखाई देता है-सूत्र में वत्करण करने से कर्ता में कर्मकार्य का अतिदेश होने पर भी स्वाश्रयकार्य की निवृत्ति नहीं होती है। इससे भाव में लकार सिद्ध हो जाता है। लकार से कर्ता के अनुक्त होने पर ''अनुक्ते कर्तरि तृतीया'' के नियमानुसार तृतीया होकर ''कुसूलेन भिद्यते'' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। करण और अधिकरण के द्वारा तुल्यक्रियकर्ता को कर्मवद्भाव न हो इसलिए ''कर्मणा'' पद का सूत्र में ग्रहण किया गया है। इसके पाठ से करण और अधिकरण के तुल्यक्रियकर्ता को कर्मवद्भाव का निषेध होता है।

''साधु असिः छिनत्ति'' इस उदाहरण में छेदन क्रिया का साधन असि है, अतः वह करण है। छेदन क्रिया के तुल्यक्रियकर्ता असि अर्थात् तलवार है। ''साधु स्थाली पचति'' यह अधिकरण का स्थल है, यहाँ पचन क्रिया का आधार स्थाली है। इसी वाक्य को सामान्यरूप से इस प्रकार भी लिखा जा सकता है-''पाचकः साधु स्थाल्यां पचति'' रसोईया बर्तन में अच्छी तरह पकाता है। यहाँ स्थाली पचनक्रिया का आधार है। अतिशयार्थ सौकर्य में कहा जाता है कि चावल इतना कोमल है कि बर्तन ही पकाता है। ''साधु स्थाली पचति'' इस वाक्य में क्रिया के तुल्यक्रिया वाला कर्ता भी स्थाली है। इस प्रकार करण और अधिकरण के द्वारा तुल्यक्रियावाले कर्ता को कर्मवद् के निषेध के लिए ''कर्मणा'' पद का ग्रहण किया गया है। कर्मणा पद में तृतीया विभक्ति का पाठ किया गया है, इसके द्वारा सहार्थ की उत्पत्ति होगी। इसके फलस्वरूप ''कर्म के साथ जो कर्ता'' यह अर्थ निष्पन्न होगा। इस कारण से ''पचति ओदनं देवदत्तः'' में कर्मवत् की आपत्ति हो जाएगी, जिस आपत्ति के निषेधार्थ ''तुल्यक्रियः'' पद का पाठ किया गया है। वार्तिककार के अनुसार अकर्मककर्ता को कर्मवद्भाव कहना चाहिए। यथा-पच्यते ओदनः स्वयमेव। ''भिद्यमानः कुसूलः पात्राणि भिनत्ति'' इसमें कर्मवत् के अभाव के कारण भिनत्ति आदि में यगाद्युत्पत्ति नहीं होगी। सामान्य वाक्य की दशा में कर्म का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि 'कर्मणा' तुल्यक्रियः कहा गया है, तभी शुद्ध प्रयोग बन सकेगा। अन्य सारे प्रपञ्च दिग्दर्शनमात्र हैं।

पीएच.डी. शोधार्थी, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : Rohitsharmadu92@gmail.com

संदर्भ सूची

1. रचनानुवादकौमुदी, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1960, पृ. 52
2. अष्टाध्यायी- 2/3/46
3. अष्टाध्यायी- 2/3/2
4. अष्टाध्यायी- 2/3/18
5. अष्टाध्यायी- 2/3/13
6. अष्टाध्यायी- 2/3/28
7. अष्टाध्यायी- 2/3/50
8. अष्टाध्यायी- 2/3/36
9. अष्टाध्यायी- 2/3/47
10. अष्टाध्यायी- 3/1/87
11. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित, सम्पा.- गोपालदत्तपाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2010, (कर्मकर्तृप्रक्रिया प्रकरणम्)
12. अष्टाध्यायी- 1/4/54
13. महाभाष्यप्रदीपव्याख्यानानि, सम्पा.- एम. एस. नरसिम्हाचार्य, फान्सिस इण्डोलॉजी इंस्टिट्यूट, पाण्डिचेरी, 1979, षष्ठखण्ड, रत्नप्रकाश टीका, पृ. 172
14. व्याकरणमहाभाष्यम्, प्रदीप टीका, सूत्र संख्या 3/1/87
15. महाभाष्यप्रदीपव्याख्यानानि, षष्ठखण्ड, रत्नप्रकाश टीका, पृ. 172-173
16. महाभाष्यप्रदीपव्याख्यानानि, षष्ठखण्ड, रत्नप्रकाश टीका, पृ. 180

शोध-पत्र

डॉ. अवधेश कुमार

मनीषा कुलश्रेष्ठ के साहित्य में स्त्री मुक्ति के सरोकार (शिगाफ के विशेष संदर्भ में)

समकालीन महिला कथाकारों में मनीषा कुलश्रेष्ठ की उपस्थिति स्त्री संदर्भों की वाजिब पहचान करने की सही कोशिश कही जा सकती है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियाँ हों या उपन्यास उसमें स्त्री मुक्ति या स्त्री अस्तित्व के प्रश्नों को जिस तरह से उभरा गया है, वह भारतीय सामाजिकता एवं व्यावहारिकता के धरातल पर टिका हुआ है। मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके साहित्य की विविधता भारतीय समाज के कई अंतर्विरोधों को उभारने में सहायक है। उनके कथासाहित्य की पृष्ठभूमि में कश्मीर से लेकर राजस्थान तक का बहुमुखी समाज, संस्कृति एवं सत्य उद्घटित होता है। उनका साहित्य किसी भी एक विचारधारा पर टिकने की बजाए सत्य को उद्घाटित करने की कोशिश करती हैं। भारतीय समावेशी समाज का सही आईना उनके पात्रों में प्रकट होता है। उनके साहित्य में लोक-कलाकार, आधुनिक स्त्री, बुजुर्ग, युवा सभी पक्ष बड़ी ही प्रामाणिकता के साथ मुखर हुए हैं। इनके उपन्यासों में विशेषकर शालभंजिका, मल्लिका, स्वप्नपाशा और शिगाफ की चर्चा बार-बार की जाती है। इन उपन्यासों में स्त्री मुक्ति के संदर्भ जिस तरह से प्रकट हुए हैं वह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विशेषकर शिगाफ उपन्यास धर्म और पितृत्तात्मक समाज के अनुशासन के मध्य स्त्री मुक्ति के संदर्भों की पहचान कराता है। यह इस बात का भी प्रतीक है कि महिला कथाकार सही मायने में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को प्रामाणिकता के साथ साहित्य में अभिव्यक्त करने में सफल होती दिखाई देती हैं। अत: उनके शिगाफ उपन्यास में विस्थापन की पीड़ा को झेलते हुये समाज का चित्रण बड़ी ही बारीकी से हुआ है। इस विस्थापन का दर्द हिन्दू-मुसस्लिम समाज दोनों ही वर्ग झेल रहे हैं, खासकर दोनों समाज की स्त्रियाँ।

'शिगाफ' एक ऐसी दरार है, जो कश्मीर के हर व्यक्ति की रूह में स्थायी तौर पर पड़ गई है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने इस उपन्यास की पृष्ठभूमि जम्मू-कश्मीर की जमीन को बनाया। वह जमीन जहां से हजारों लोग विस्थापित हुए। उपन्यास में विस्थापित हुए लोगों के दर्द, उनकी पीड़ा को बड़ी ही आत्मिता से व्यक्त किया गया है। अत: यह कहानी सिर्फ विस्थापित हुए लोगों का ही दर्द नहीं है बल्कि उनके पीछे छूटे चुके लोगों की भी दास्तां है जो वह अंदर-ही-अंदर पी रहे हैं।

विस्थापन का दर्द जमीन से उखड़े लोगों तक ही सीमित है, यह दर्द तो उस जमीन से जुड़े रह गए लोगों के दिलों में आज भी चुभ रहा है। लेखिका ने 'शिगाफ' की कहानी को जिस शिद्दत से कौरे कागज पर उतारा वह पाठक वर्ग के दिल पर अपनी छाप छोड़ती हुई दिखाई देती है। उपन्यास में पात्रों का चयन बड़ी ही अद्भुत कला के साथ किया है। उनके पात्र कहानी के साथ इंसाफ करते हुए पूरी तरह सफल होते दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास पढ़ते समय पात्र आँखों के सामने इस तरह आते हैं, जैसे वह हकीकत में सामने खड़े हों और अपना दर्द बयान कर रहे हैं। 'शिगाफ' पढ़ते समय पाठक का उसके साथ जो तदात्मय जुड़ता है, उसका पूरा श्रेय मनीषा जी को जाता है, क्योंकि ''साहित्य्य हो या राजनीति या कोई भी अन्य

सामाजिक क्रिया, आजकल के उत्तर आधुनिक अस्मितावादी दौर में प्रामाणिकता की खोज अस्मिता के दायरे में ही करने का चलन बन गया है। प्रामाणिकता और अस्मिता लगभग पर्याय हो गए हैं। आजकल कोई कथा प्रामाणिक तभी है जबकि वह ठेठ सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के अर्थ में विशुद्ध आत्म द्वारा बाँची जा रही हो। इस प्रचलित कॉमनसेंस का सर्जनात्मक प्रतिवाद करने के कारण मनीषा कुलश्रेष्ठ का शिगाफ गहरे और दूरगामी अर्थों में महत्वपूर्ण हो जाता है।''[1] लेखिका ने उपन्यास लिखते हुए उसकी प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखा है। इसके लिए वह कई बार कश्मीर दौरे पर गई तथा वहाँ रहीं। उन्होंने वहाँ की संस्कृति और बीच-बीच में कश्मीरी भाषा का पुट जिस खूबसूरती से उपन्यास में पिरोया है, उससे उपन्यास की प्रामाणिकता में चार चाँद लग गए हैं।

'शिगाफ' उपन्यास की कथा का आरंभ एक ऐसे पात्र द्वारा किया गया है जो कश्मीर से विस्थापित होकर स्पेन में जा बसा है, वह पात्र है 'अमिता'। अमिता स्पेन में पत्रकार की पढ़ाई कर रही है। कश्मीर से विस्थापित होने की पीड़ा आज तक उसे चुभती है। अपनी पीड़ा और उस कसक को अमिता ब्लॉग के माध्यम से बाहर निकलती है। अमिता को जिस तरह से उसकी जड़ों से उखाड़ कर बाहर फेंक दिया वह कसक उसके दिल में रह गई। यह कहानी मात्र अमिता की ही नहीं है इसके साथ यह कहानी है-यास्मीन, जुलेखा, नसीम, सुल्तान, वसीम और जामन की। अमिता के माध्यम से कश्मीरी पंडितों के विस्थापन को समझ सकते हैं तो यास्मीन और जुलेखा और अन्य पात्रों के माध्यम से कश्मीर की पूरी अवाम की जिंदगी और उस बचे हुये कश्मीर की स्थिति को भी समझा जा सकता है जो विस्थापन के दर्द को झेल रहा है। बर्फ से ढकी वह खूबसूरत सी धरती कट्टरता में पनप रही उस फसल से भरने लगी है जो खौफनाक कांटेदार है।

अपनी जड़ों को फिर एक बार ढूंढ़ते हुए अमिता ने कश्मीर की सर्जमी पर पैर रखा। सबकुछ बदला हुआ सा दिखा एक-दम अजनबीपन जो अपने में खौफ लिए है। वह वजीर से कहती है, 'कश्मीर बदल गया है पूरी तरह'। अमिता की बात सुनते ही वज़ीर के मुँह से निकला, ''बदलेगा नहीं....चारों तरफ से पैसा कश्मीर की ओर बह रहा है। आर्मी से, सरकार से, मिलिटेंसी से, सऊदी अरब से, एनजीओ से। आजकल यहाँ हर किसी ने दुकान खोली हुई है। यहां हर चीज़ बिक रही है-यतीमों की, मजलूम औरतों की, मिलिटेंट बनाने की, पकड़वाने की, उनसे मिलवाने की। गुमशुदा लोगों की लिस्ट, मारे हुए लोगों का मातम और दर्द खरीद रहे हैं विदेशी। कश्मीरी अपनी जहालत दिखा-दिखाकर उसे भी बेच रहे हैं....बदअमनी का लंबा-चौड़ा कारोबार फैला हो तो कौन अमन चाहे? न मिलिटरी, न मिलिटेंट। एन.जी.ओ. की मुफ्त रोटी.. सऊदी अरब से मिलता शोरबा... किसको भुखमरी में लिपटा अमन चाहिए?''[2] वज़ीर ने कश्मीर की परिस्थिति का यथावत वर्णन कर दिया। राजनेताओं द्वारा बनाए गए षड्यंत्रों से आम कश्मीरी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कश्मीर में मिलिटेंट का कब्जा इस कदर हावी है कि उसने मानवता को ताक पर रख दिया है। मिलीटेंट ने आम कश्मीरी नौजवान का दिमाग अपने अनुसार चलाना शुरू कर दिया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम के बीच एक गहराई खाई का निर्माण कर दिया है। उन्हीं के नक्शे कदम पर कुछ कश्मीरी नौजवान भी डरावनी खौफजदा जिंदगी को बड़े चाव से जीना पसंद करने लगे हैं। मिलिटेंट द्वारा धर्म के नाम पर लोगों का जिस तरह हृदय परिवर्तन किया है उससे उनकी जिंदगी पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। उसी नकारात्मक जिंदगी को गुजरता है वसीम। वसीम मेडिकल का छात्र है और उसने मिलिटेंट्स से प्रभावित होकर अपनी पढ़ाई छोड़ दी और साथ ही अपनी प्रेमिका यास्मीन को छोड़ कर मिलिटेंट के समूह में भर्ती हो गया है। कश्मीर में जिस अलगाववादी संगठन ने अपनी जड़ें जमा रखी हैं वह वसीम से जवान लड़कों को अपने जाल में फाँसते हैं। उन्हें धर्म के नाम पर बर्गालाया जाता है। उनके दिमाग में बैठाया जाता है कि अल्लाह के लिए किया गया जिहाद ही उनके दुनिया में आने का असल मकसद है। हालांकि जिहाद का असल मकसद भले से वह न जानते हो।

कश्मीर में हिंदुओं पर धर्म के नाम पर जो अत्याचार हुये वह बेहद खतरनाक थे। कश्मीर में हुये दंगों ने वहाँ की जनता को जिंदगी भर का दर्द दे दिया जिससे वह कभी उभर न पाएंगे। इन दंगों का असर सिर्फ कश्मीरी हिंदुओं पर ही नहीं हुआ बल्कि वहाँ के मुसलमान भी दंगों में पिस गए वह भी डरावनी जिंदगी जीने पर मजबूर हैं। यास्मीन के अब्बू उस रात के मंजर को याद करते हैं तो काँप जाते हैं। वह बताते हैं कि, ''सैकड़ों गैर मुस्लिम

लोग कुत्तों की तरह घेर लिए गए और शूट कर दिए गए। कश्मीर के अलगाववादी संगठनों ने पुलिस और सेना के छक्के छुड़ा दिए हैं। सोई पड़ी बस्ती में आग लग जाने पर जैसी भगदड़ मचती है, वैसा ही कुछ मंजर देखा था मैंने। जिधर सुनो उधर....जिधर देखो उधर हजारों की तादाद में हिन्दू शहर गांव कस्बे छोड़ रहे थे। बेशुमार मुसीबतें गले में बांधकर अजाने-अनदेखे प्रदेशों की तरफ बढ़ रहे थे। दरंदगी की आग तमाम आसपास की चीजों को लील रही है।''[3] अतः इस तरह के धार्मिक उन्माद से सामान्य लोगों का ही नुकसान होता है। इस नुकसान की भरपाई उन्हीं आम लोगों को करनी पड़ती है। भले से फिर उन्हें अपनी जान देनी पड़े या फिर अपने ही किसी को खोना पड़े। वज़ीर कहता है कि, ''वज़ीर कम मरते हैं, प्यादे ज्यादा, बल्कि वज़ीरों की शह और मात के बीच प्यादे कब लुढ़क जाते, इसका न पता चलता, न फर्क पड़ता।''[4] उपन्यास का वज़ीर बातों ही बातों में गहरी बात कह गया। इसी पीड़ा को वहाँ का आम आदमी झेल रहा है।

विस्थापन हो या साम्प्रदयिकता इनका सबसे भयानक दुष्प्रभाव स्त्री जीवन पर पड़ता है। इन दुष्प्रभाव के कारण स्त्री की जिंदगी कितनी दुभर हो जाती है। उसका जीता जागता दस्तावेज है 'शिगाफ'। कश्मीर में अलगाववादी संगठनों का दबदबा बड़े भयानक स्तर पर बढ़ गया है। इस भयानकता का शिकार होती हैं कश्मीरी स्त्रियाँ। उपन्यास के स्त्री पात्र अमिता और यास्मीन इस यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं। अमिता और यास्मीन दोनों अच्छी सहेलियाँ हैं वह दोनों कश्मीर में हुये दंगों और विस्थापन की शिकार हो जाती हैं। दोनों ही सहेलियों को मजबूरी में एक दूसरे से अलग होना पड़ता है। अमिता जहां स्पेन जाकर ब्लॉग लिखती हैं वहीं यास्मीन कश्मीर में रहकर डायरी लिखती हैं। दोनों ही अपने-अपने जीवन में घटित घटनाओं को अपनी कलम से जीवित करती दिखाई देती हैं। अलगाववादियों ने कश्मीर में स्त्रियों पर पर्दा करने, उनकी शिक्षा को रोकने पर विशेष बल दिया। पढ़ाई को लेकर चिंतित हो रही यास्मीन कहती है कि उसने भी कॉलेज से बी.ए. की पढ़ाई करने का मन बनाया था। लेकिन आज हालात ऐसे हैं कि उसके अब्बू अब उसे पढ़ाना नहीं चाहते। वह कहती है, ''अब्बू ने बहुत पहले मुझे बी.ए. का प्राइवेट इम्तिहान दिलाने का वादा किया था, मगर वह अब मेरी शादी कर देना चाहते हैं, कैसे भी, किसी से भी।''[5] कश्मीर में पनपती दहशतगर्दी का चित्रण यास्मीन अपनी डायरी में करते हुये अपने दुख को जाहिर करती है। यास्मीन के अब्बू अब बस यास्मीन की शादी कराने पर ही बल दे रहे हैं। इसके लिए उन्हें फिर कैसे भी लड़के से शादी करनी पड़े। कश्मीर में पैदा हुआ यह डर का माहौल अपने साथ कई हँसती खेलती जिंदगियों को लील रहा है। इसी डर का शिकार होती है यास्मीन जब उसकी शादी पहले से शादीशुदा और उम्र में बड़े कामिल से करा दी जाती है। कश्मीर में दहशतगर्दी का डर दिखाकर स्त्रियों को शिक्षा से दूर किया जा रहा है। स्त्रियों को शिक्षा से दूर रखने के पीछे उनकी सोची-समझी साजिश है ताकि वह स्त्रियों की अभिव्यक्ति की आजादी को छीन ले। वह चाहते हैं कि लड़कियों को अच्छे और बुरे का अंतर न समझ आए। वह अपने लिए लड़ न सके। अपने अधिकारों के लिए बोल न सके। वह स्त्रियों को गूंगी गाय बनाना चाहते हैं।

कश्मीर में पर्दे को लेकर कट्टरता का वातावरण बना दिया गया है। धर्म की आड़ में स्त्रियों पर यह पाबंदी लगा दी कि अब हर स्त्री को दब ढ़क कर ही रहना होगा। कट्टरपंथियों ने बुर्का ओढ़ने का फतवा निकाल दिया। उन्होंने आखिरी तारीख भी तय कर दी कि अब से हर कश्मीरी मुसलमान स्त्री को बुर्के में रहना होगा यदि किसी ने भी इस फरमान की नफरमानी करी तो उसे एसिड से जला दिया जाएगा। शहर भर में इस बात की चर्चा शुरू हो गई है। परेशान होते हुए यास्मीन की अम्मी कहती हैं, ''कैसा बुरका लाऊं यास्मीन? पूछते हुए अम्मी भागी हैं बुरके के लिए दुकान पर मेरे लिए।''[6] कश्मीरी कट्टरपंथियों ने बर्बरता की सारी सीमाएं लांघने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इसी बर्बरता का एक उदाहरण और है कि, ''अफगानिस्तान की वह हरी आँखों वाली परदानशी औरत! तालेबानी राज की वह दुलहन जिसके मेहंदी लगे हाथ महज इसलिए काट दिए थे कि वो बुरके के बाहर झांक रहे थे...बाहर मर्द की आंख आमंत्रित करते हुए यही उनका गुनाह था।''[7] मासूम सी नई नवेली दुल्हन को महज इसलिए इस बर्बरता का शिकार होना पड़ा कि उसके हाथ दिखने से पुरुष की आंखें लालयित हो रही हैं। कश्मीरी औरतों को सिर से पाँव तक ढ़क कर रहने के इस फतवे ने उनसे शृंगार का अधिकार छीन लिया है। जहां शृंगार औरतों के लिए बना है आज वही उससे कोसों

दूर है। कश्मीर की स्थिति को देखते हुए अमिता कहती है कि, ''मैं महसूस कर रही हूँ कश्मीरी लड़कियों ने मैकप करना छोड़ दिया है। उनके खूबसूरत बाल और माथा सफेद चादर से ढंकने लगा है। कईयों ने पूरा जिस्म बुरकों में लपेट लिया है। काजल लदी आँखें फीकी रहने लगी हैं। चम्पई जिल्दों पर जर्दी उभर आई है। चेरी के खिले बागों पर बेमौसम बर्फ की सफेदी घिर गई हो जैसे।''[8] आज स्त्री आधुनिकता के सहारे प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं वहीं कश्मीरी स्त्री का जीवन तालिबानी फतवों से नरक बन गया है। कश्मीर में बढ़ते आतंकवाद से वहाँ की सामाजिक स्थिति बेहद दयनीय हो गई है जिसका खामियाजा स्त्रियों को ही झेलना पड़ता है। उपन्यास में ही एक अन्य स्त्री है नसीमा वह अमिता से बाट करते हुए कहती है, कि, ''फिर मेरा क्या है वहाँ, न माँ-बाप। वहाँ काम भी कुछ नहीं है। आए दिन जान की आफत। महंगाई इतनी कि बस... नौकरी नहीं मिलती। उस पर परदेदारी अलग से और डर... ऐसा कि औरतें सोए बिना महीनों से रह रही हैं कि अब आंख सुर्ख हो जाती है मगर नींद गुम।''[9] नसीमा के माध्यम से कश्मीर की स्त्रियों का एक पक्ष यह भी उभर कर आता है। वह काम करना चाहती हैं, कमाना चाहती हैं। अपने हाथ-पैर पर खड़े होकर मजबूत होना चाहती हैं। परंतु कश्मीर में कट्टरपंथी शासन इस कदर अपनी जड़ें जमा चुका है। प्रत्येक इंसान वहाँ परेशान है। खास कर स्त्रियाँ। वहाँ की स्त्रियाँ मानसिक और शारीरिक पीड़ाएं झेल रही हैं।

जब आतंक हद से ज्यादा बढ़ जाए तो चिंगारी तो फूटेगी ही। 'शिगाफ' में भी यह चिंगारी स्त्रियों में पनपनी शुरू हो गई है। वहाँ की स्त्रियाँ अलगाववादियों की राजनीति को समझ चुकी हैं इसलिए वह कहती हैं कि, ''हमारा हर दिन नई समस्याओं को जन्म देते हुए उगता है कश्मीर में हर दिन विधवाओं की नई फसल तैयार हो जाती है।....हिजाब और जुल्म के बीच ऐसे पिसती है जैसे कपड़े के थैले में कोई बर्फ के टुकड़े को चूर-चूर करता हो कि टूटे तो लेकिन उनका बुरादा भी बाहर न बिखरे।''[10] हिजाब और जुल्म के बीच यह स्त्री अपने अस्तित्व को खो रही है। उनके अस्तित्व पर सबसे बड़ा खतरा धार्मिक कट्टरता का चोला ओढ़े हुये उन कट्टरपंथियों से है जो उन्हीं की सर्जमी पर उन्हीं के विरुद्ध ऐसे-ऐसे फतवों का निर्माण करते हैं कि स्त्रियाँ धर्म के दवाब में अपने को स्वयं ही कुचल दे। शिगाफ दस्तावेज है ऐसी जिंदगियों का जो कश्मीर की जमीन पर रह गई हैं। कहने को वह अपनी जड़ों में है उन जड़ों में जहां व्यक्ति खुद को महफूज समझता है। परंतु कश्मीर के हालात बद से बदत्तर हैं जिन पर कटाक्ष करते हुए प्रो. आएशा एक वक्तव्य देती हैं। उस वक्तव्य में वह कश्मीरी की स्त्रियों का दर्द ब्याँ करती हैं जो कट्टरता के झांसे में हैं और खुलकर सांस भी नहीं ले पा रहीं। कश्मीर में स्त्रियों की स्थिति पर बात करते हुए कहती हैं कि, ''बहुत सहन करके तो पृथ्वी भी विचलित हो जाती है, उसमें भी दरारें आ जाती हैं, वे तो बेटियाँ हैं इस जमीन की असहाय औरतें। वे खामोश हैं सीने में हजारों जख्म छिपाकर। जीते चले जाने की विवशता में वे घुन सी पिस रही हैं।''[11] प्रो. आएशा जैसी स्त्रियाँ सामने आने लगी हैं। वह भी धार्मिक कट्टरता की शिकार तो हुई हैं लेकिन पढ़-लिख कर जाने से उनकी सोच में आधुनिक परिवर्तन आया है जिस कारण वह अपने वक्तव्य में धारदार शब्दों का चयन करती हैं कि सेमिनार में बैठी एक-एक स्त्री को उनकी बात का असल मतलब समझ आ जाता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि शिगाफ उपन्यास लिखकर लेखिका ने उस दरार का सामना कराना चाहा है जो धार्मिक दंगों के नाम से हिन्दू-मुस्लिम के बीच पड़ गई है। उपन्यास में कई परतें खुलती हैं। उपन्यास में कई संवेदनाओं की कहानी उद्धृत हुई है। कश्मीर की तात्कालिक स्थिति का वर्णन इस तरह हुआ है कि वह वर्तमान समय से स्वत: ही जुड़ती चली जाती है। आज भी कश्मीर में बहुत अधिक बदलाव नहीं हुआ है। कश्मीर से विस्थापन भले कश्मीरी पंडितों का हुआ है जिनसे उनका घर छीन लिया है। एक विस्थापन आंतरिक स्तर पर भी हुआ है जो वहाँ की कश्मीरी मुस्लिम स्त्रियाँ झेल रही हैं। उनसे उनके अधिकार छीन लिए गए। उनकी खुशहाल जिंदगी बदरंग कर दी गई। रात-दिन वह डर के साए में जी रही हैं। वहाँ आज भी शिक्षा को लेकर स्त्रियों को बहुत अधिक जद्दोजहद करनी पड़ती है, आज भी वहाँ पर्दे को लेकर पूरी कट्टरता दिखाई देती है। यह विस्थापन दोनों जगह हुआ है और इसका खामियाजा हिन्दू हो या मुसलमान झेल स्त्री ही रही है।

अत: कश्मीर में पनपी धार्मिक कट्टरता से स्त्री को निकलना है तो उसे खुद से सामने आना होगा। दबे-ढके

शब्दों में बात न करके उसे खुलकर बात करनी होगी। खुल कर बात करना अब इसलिए भी जरूरी है कि यदि अब भी स्त्रियाँ खुलकर सामने नहीं आई तो न जाने कितनी ही पीढ़ियाँ इस नरक का जीवन जीने के लिए मजबूर रहेंगी। अपनी स्थिति को सुधारेंगी तभी उनके आने वाली पीढ़ियाँ भी अच्छा जीवन व्यतीत करेंगी।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
सत्यवती महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. https://samalochan-blogspot-com/2011/03/blog&post_08-html
2. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2012) : शिगाफ, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन. पृ. 85
3. वही, पृ. 96
4. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2012) : शिगाफ, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन. पृ. 85
5. वही, पृ. 111
6. वही, पृ. 98
7. वही, पृ. 62
8. वही, पृ. 98
9. वही, पृ. 78
10. वही, पृ. 86–87
11. वही, पृ. 87

*डॉ. ओम मिश्रा **डॉ संदीप कुमार मिश्रा

नार्थ कैम्पस के कॉलेजों तथा नार्थ ईस्ट जनपद दिल्ली के कॉलेजों में दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का अध्ययन

इस शोध पत्र में दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण तथा नार्थ-ईस्ट जनपद के कॉलेजों में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा।

शोध सारांश :

प्रस्तुत शोध पत्र में दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस के कॉलेजों तथा नार्थ ईस्ट जनपद दिल्ली के कॉलेजों में दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का अध्ययन किया जायेगा। शोध में जीव संख्या 20 नार्थ कैम्पस के छात्रों (100 में से) तथा नार्थ कैम्पस के कॉलेजों से 20 छात्रों (100 में से) लिया गया। रैडम सैम्पलिंग पद्धति से लाटरी विधि द्वारा प्रतिदर्श का चयन किया गया। डाटा संकलन हेतु सहभागी अवलोकन व प्रत्यक्ष अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया गया व छात्र पृष्छा प्रश्नावली का प्रयोग किया गया तथा निष्कर्ष निकाले गए।

पृष्ठभूमि :

दिव्यांग छात्रों की दिव्यांगता निखारने के लिए उनको सुगम्य वातावरण उपलब्ध करना महत्वपूर्ण है जिससे वे बिना बाधा शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

हमारे देश की एक सांस्कृतिक विरासत है जिसमें सभी को सम्मान प्राप्त है। सभी को समान अधिकार प्राप्त है। दिव्यांग छात्रों की दिव्यांगता को निखारना भी शिक्षा का एक कार्य है। शिक्षक, पाठ्य सामग्री तथा स्कूल शिक्षा के तीन घटक हैं। स्कूल व सुगम्य स्कूल में कुछ बहुत अन्तर है। स्कूल में सभी पहुंच सके यह पहली शर्त है। वृद्ध, बीमार, विकलांग सभी का स्कूल जाना प्रथम शर्त है। जब वे स्कूल में पहुंचेंगे व उनको पाठ्य सामग्री की सुगम्यता होगी तभी वे पढ़ सकेंगे।

ऐसी वैज्ञानिक मान्यता है कि जब एक विकलांग व्यक्ति को कोई अंग विकृत होता है तो उस अंग की ऊर्जा दूसरे अंगों में चली जाती या संग्रहित हो जाती है जिससे उसके शरीर में विकृत अंग की कमी पूरी करने की क्षमता पैदा हो जाती है जिससे वह दिव्यांग हो जाता है। उसमें काम करने की प्रबल क्षमता आ जाती है।

कुंजी शब्द

1. सुगम्य वातावरण : वह वातावरण जिसमें सभी वृद्ध, बूढ़े, विकलांग, सकलांग रह सकें। इस शोध पत्र में सुगम्य वातावरण का आशय कालेज से संबंधित है कि कालेज में रैम्प, रेल्स हों। टैक्टाइल पाथ हो। जिसमें दृष्टि विकलांग, व्हील चेअर वाले श्रवण समस्या से ग्रसित शिक्षणेत्तर तथा शैक्षणिक व छात्र छात्राएं तथा कथित सकलांगों के साथ शैक्षिक व पाठ्य सहगामी गतिविधियां पूर्ण कर सकें।

2. दिव्यांग : आज विकलांग व दिव्यांग शब्द प्रयोग में हैं। श्री प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने अपने दिव्यांग दिवस पर दिए गए प्रथम व्याख्यान में विकलांग की जगह दिव्यांग शब्द का प्रयोग किया और गजट भारत सरकार ने इसी शब्द का प्रामाणिक माना व इससे संबंधित विभाग को दिव्यांग सशक्तिकरण विभाग के नाम से प्रामाणिक कर दिया।

3. नार्थ कैम्पस : नार्थ कैम्पस का आशय है कि दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली का मेन कैम्पस है।

4. नार्थ ईस्ट जनपद : नार्थ ईस्ट कैम्पस का आशय

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

दिल्ली का नार्थ ईस्ट का जिला जो शाहदरा क्षेत्र में स्थित है।

शोधकार्य में नार्थ कैम्पस दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेजों तथा नार्थ-ईस्टर जनपद के कॉलेजों में दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का अध्ययन करने के लिए पूर्व में किए गए अध्ययन कार्यों का सर्वेक्षण किया गया। जिसमें मुख्य निम्न हैं–डॉ. (2001) ने शोधकार्य में दिल्ली के सरकारी स्कूलों में उपलब्ध सरकारी साधनों व उपकरणों का अध्ययन किया तथा निष्कर्ष निकाले। इसी प्रकार सरकारी स्कूलों में दृष्टि विकलांग छात्रों के लिए उपलब्ध गणितीय सहायक शिक्षण सामग्री की उपलब्धता का अध्ययन किया।

निष्कर्ष स्वरूप स्पष्ट हुआ कि दृष्टि विकलांग छात्रों के लिए गणितीय सहायक सामग्री की उपलब्धता (2000) बहुत कम है। इससे उनकी शिक्षा सही ढंग से नहीं हो पाती है। अंक भी कम आते हैं उनका आगे का भविष्य अंधकारमय हो जाता है। इस स्थिति में सुगम्य अध्ययन सामग्री ही इन छात्रों को भविष्य के लिए तैयार करती है। दुर्खीम के शब्दों में शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा समाज बच्चों में अपने अस्तित्व की अनिवार्य अवस्था को तैयार करता है।[1]

इसीलिए एन.सी.एफ. (2005) में साफ-साफ लिखा है–''समावेशन की नीति को हर स्कूल और सारी शिक्षा व्यवस्था में व्यापक रूप से लागू किए जाने की जरूरत है।''[2] अत: विकलांग छात्रों को स्कूलों में सारे सुविधाएं उपलब्ध होना आवश्यक है। दिव्यांग बच्चों के दिव्यांग गुणों को समाज ने उनके अन्दर ही दफन कर दिया है। यदि यह दीवार के ऊपर से अन्दर चल रहे कार्यक्रम को सभी देखना चाहते हैं तो किसी को सीढ़ी किसी को स्टूल, किसी को कुर्सी, किसी को मेज की आवश्यकता होती है परन्तु सभी दीवार के अन्दर के कार्यक्रम में सहभागिता कर लेते हैं। इसी प्रकार गणित पढ़ने के लिए गणित की सुगम्य पुस्तकें दृष्टि विकल दिव्यांग छात्र को चाहिए। दिव्यांग फ्रेण्डली कम्प्यूटर से उन्हें शिक्षित किया जा सकता है। आई.सी.टी. उनको स्वावलम्बी बनाने में पूर्ण सहायक है। डिजिटल एजूकेशन की भी अपनी भूमिका स्वयं सिद्ध है।

शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य : नार्थ ईस्ट कैम्पस के कॉलेजों में तथा नार्थ-ईस्ट जनपद के कॉलेजों में दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का अध्ययन करना तथा नार्थ-ईस्ट जनपद के कॉलेजों में तथा नार्थ ईस्ट जनपद के कॉलेजों में दिव्यांग छात्रों के लिए उपलब्ध सुगम्य वातावरण का तुलनात्मक अध्ययन करना शोधकार्य का प्रमुख उद्देश्य है।

शोध के दौरान भौतिक सत्यापन व सहभागी अवलोकन द्वारा, प्रत्यक्षीकरण द्वारा निम्न निष्कर्ष निकले–

नार्थ ईस्ट कैम्पस के कॉलेजों में क्रमश: श्रीराम कॉलेज ऑफ कामर्स, श्री गुरु गोविन्द सिंह खालसा कॉलेज, सेंट स्टीफन कॉलेज, किरोड़ीमल कॉलेज, हिन्दी कॉलेज, हंसराज कॉलेज को सम्मिलित कर इनके विभिन्न अधिकारियों, समान अवसर प्रकोष्ठ के कनवीनर तथा कोर्डिनेटर से व कनवीनर से साक्षात्कार किया गया तथा समान अवसर प्रकोष्ठ के छात्रों व इनके पदाधिकारियों से सम्पर्क किया। उनके समान अवसर प्रकोष्ठ के छात्र अध्यक्ष व सचिव, कोषाध्यक्ष, सदस्य आदि से भी महाविद्यालयों में उपलब्ध सुविधाओं के बारे में भी जानकारी जुटाई। प्रत्यक्ष व सहभागी अवलोकन द्वारा सुगम्य सुविधाओं जैसे-रैम्प, रेल्स सुगम्य मूत्रालय, सुगम्य टायलेट, सुगम्य रास्ता, सुगम्य लाइब्रेरी तथा टैक्टाइल पाथ आदि के चित्र खींचे गए व भौतिक सत्यापन किया गया। इसके साथ-साथ प्रत्येक पाठयक्रम के लिए डेजी बुक्स, डिटिजल बुक्स उपलब्ध सी.डी. टॉकिंग लैपटाप तथा ब्रेल बुक्स आदि की उपलब्धता पर भी सहभागी अवलोकन किया गया। श्रवण विकलांगों के लिए उपलब्ध साइनेज बोर्ड, विभिन्न कमरों के आगे लगे साइनेज क्यू आर कोड तथा कमरों के आगे लगे ब्रेल बोर्ड तथा उनमें लगे साइनेज छात्रों की परीक्षा देने के लिए स्कैनर, बुक स्कैनर, स्कैनर सह कम्प्यूटर आदि की उपलब्धता का तुलनात्मक अध्ययन किया गया। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप स्पष्ट हुआ कि नार्थ कैम्पस के कॉलेजों विशेषकर हंसराज में सबसे ज्यादा, किरोड़ीमल, रामजस में उसकी अपेक्षा कम, मिराड़ा हाउस, गुरुगोविन्द सिंह खालसा कॉलेज, श्रीराम कॉलेज ऑफ कामर्स में उनसे कम सुगम्य वातावरण मिला। सेंट स्टीफन कॉलेज में भी सुगम्यता ठीक नहीं थी। नार्थ ईस्ट जनपद में डॉ. भीमराव अम्बेडकर कॉलेज में सबसे ज्यादा, विवेकानन्द कॉलेज व श्यामलाल कॉलेज में कम सुगम्यता मिली। इंजीनियरिंग कॉलेजों में भी सुगम्यता बहुत कम थी। जी.टी.वी. मेडिकल कॉलेज में सुगम्यता का स्थान सामान्य

से ऊपर था।

"दिल्ली विश्वविद्यालय नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति का अध्ययन

शोध सारांश :

इस शोध पत्र में दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस के विभागों व महाविद्यालयों में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति का अध्ययन किया जायेगा। शोध में जीव संख्या 20 नार्थ कैम्पस (1 से 100 छात्र) शिक्षिकाएं हैं। जिनमें से प्रतिदर्श के रूप में 5 महाविद्यालयों तथा विभागों से 20 शिक्षिकाओं का चयन किया गया है। प्रतिदर्श का चयन या दृच्छिक नमूने विधि के अन्तर्गत लाटरी विधि से किया जायेगा। आंकड़ों के संग्रहण हेतु अपने द्वारा निर्मित शिक्षिका अभिवृत्ति प्रश्नावली का उपयोग किया जायेगा। तत्पश्चात् निष्कर्ष निकाले जायेंगे।

शोध का महत्व स्वयं वर्णित है क्योंकि दिल्ली विश्वविद्यालय में सबसे अधिक दिव्यांग छात्र आज अध्ययनरत हैं जो अध्ययन कार्य में सम्पूर्ण ऊर्जा लगाते हैं। वे राष्ट्र के भावी कर्णधार हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय के शिक्षकों की सह जिम्मेदारी है कि वह उनको ध्यान लगाकर शिक्षित करे ताकि वे स्वावलम्बी नागरिक बन सकें। वे संघर्ष कर सकते हैं उनकी दिव्यांगता को निखारने की जरूरत है।

दिव्यांग छात्रों के द्वारा आज अनेक कीर्तिमान स्थापित किए गए हैं। उनके द्वारा ग्रहण की जा रही शिक्षा को देखकर लगता है कि उनको शिक्षकों का मार्गदर्शन 100 प्रतिशत मिले तो वे पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं। दिव्यांग छात्रों की शिक्षा के बारे में दुर्खीम के विचार प्रासंगिक है–"शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा समाज बच्चों से अपने अस्तित्व की अनिवार्य अवस्था को तैयार करता है।"

अध्ययन के उद्देश्य :

1. दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति का अध्ययन करना।

2. दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पना :

1. दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति सामान्य है।

2. नार्थ कैम्पस दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति विभाग तथा महाविद्यालय की शिक्षिकाओं की अभिवृत्ति सामान्य है।

3. नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति शिक्षिकाओं की अभिवृत्ति सामान्य है।

4. नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्राओं के प्रति शिक्षिकाओं की अभिवृत्ति सामान्य है।

5. नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्र व छात्राओं की शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

6. नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्र व छात्राओं व महाविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र–छात्राओं की शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

7. नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्र व छात्राओं की शिक्षा के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

आंकड़ों का संग्रह :

दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के नार्थ कैम्पस में पढ़ने वाले दिव्यांग छात्रों के प्रति महिला शिक्षकों की अभिवृत्ति का अध्ययन करने के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय के नार्थ कैम्पस के सारे विभागों के दिव्यांग छात्र–छात्राओं तथा शिक्षिकाओं से आंकड़े एकत्र किए गए। इन आंकड़ों को एकत्र करने में साक्षात्कार अनुसूची का प्रयोग किया गया (स्वनिर्मित) जिसमें अर्द्ध संरचनात्मक, संरचनात्मक, खुले अंत वाले व बंद अंत वाले प्रश्नों को रखा गया। ई–मेल द्वारा भी प्रश्नावली को भेजा गया तथा डाक द्वारा भी कोरोना काल के कारण प्रश्नावली भेजी गई। प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण किया गया।

आंकड़ों का विश्लेषण एवं निष्कर्ष :

प्राप्त आंकड़ों विशेषकर प्रत्यक्ष व अन्यत्र पाठ्य सहगामी क्रियाओं के समय महिला शिक्षकों की दिव्यांग छात्र–छात्राओं के प्रति अभिवृत्ति को अवलोकित किया गया। जैसा कि डी.यू. की वेवसाइट पर पर उपलब्ध सूची में रैण्डम सैम्पलिंग के आधार पर जीव संख्या का निर्धारण

किया गया में से शिक्षकों को विभिन्न विभागों से लिया गया। उनके कॉलेज में जाकर सहभागी अवलोकन कर उनकी दिव्यांग छात्रा व छात्राओं के प्रति अभिवृत्ति-प्रत्यक्षीकृत की गई।

स्पष्ट हुआ कि महिला शिक्षकों की दिव्यांग छात्रों व छात्राओं के प्रति अभिवृत्ति अधिक मिली।

***कोऑर्डिनेटर, इक्वल अपार्चुनिटी सेल**
हिन्दी पत्रकारिता विभाग
भीमराव अम्बेडकर कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
****असि. प्रोफेसर**
मगध टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज,
गया, बिहार

जलवायु परिवर्तन रोकने के लिए स्थानीय आन्दोलन 'झारखंड के विशेष संदर्भ में'

डॉ. कुमारी शुभ्रा

जलवायु परिवर्तन पिछले वर्षों में काफी तेजी से बढ़ा है। इससे भारत जैसे कृषि प्रधान देश में अनेक चुनौतियां तत्काल प्रभाव से आन पड़ी हैं। जलवायु परिवर्तन अनेक कठिनाईयों को पैदा कर रहा है। भारतीय मेट्रोलॉजिकल विभाग के अनुसार 2020 वर्ष 1901 ई. से अभी तक सबसे गर्म वर्ष रहा है। पंद्रह गर्म वर्षों में ग्यारह वर्ष 2007 से 2021 के बीच ही रहे हैं। 2011 से 2020 का पिछला दशक सबसे गर्म दशकों में एक रहा है। सिर्फ वर्ष 2021 में ही जलवायु परिवर्तन के कारण भारत में 1750 जानें गयी हैं।[1]

जलवायु परिवर्तन समुद्र में भी आमूल-चूल परिवर्तन ला रहा है। 2020 से संयुक्त राष्ट्र के अनुसार, प्रतिवर्ष समुद्र के जलस्तर में तीन इंच के होने का अनुमान है। एशियाई विकास बैंक के आँकड़ों के अनुसार, इससे एशिया में प्रतिवर्ष 60 लाख लोगों के बेघर होने का खतरा है। स्पष्ट है कि इससे बंगलादेश जैसे नीचे बसे देशों में अफरा-तफरी मचेगी, और भारत की ओर प्रवासन तेजी से बढ़ेगा। आज वैश्विक आबादी 8 सौ करोड़ पार कर गयी है। इसे प्राकृतिक संसाधनों पर गंभीर प्रभाव पड़ रहा है। एक आकलन के अनुसार 1990 के बाद से दुनिया में 42 लाख वर्ग किलोमीटर जमीन से जंगल खत्म हो गये हैं। इसमें अधिकतर अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका और दक्षिण पूर्व एशिया के देश शामिल हैं।[2]

वैश्विक स्तर पर जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए काफी चिंता है। और इसके लिए सामूहिक प्रयास भी लगातार हो रहे हैं। जून 1992 ई. में रियो डी जेनेरियो से ही इन प्रयासों को सामूहिक आवाज मिलनी शुरू हो गयी है। दिसंबर 2015 ई. में अनेक दौर के बातचीत के बाद पेरिस में वैश्विक नेताओं के समक्ष जलवायु समझौता हुआ।

इस समझौते में पहली बार वैश्विक स्तर पर जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए स्पष्टता के तौर पर प्रयास शुरू हुए। वर्ष 2018 में राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने इस समझौते से अमेरिका के अलग होने की घोषणा की। 2021 में जो वाइडेन अमेरिका के राष्ट्रपति हुए और उन्होंने जलवायु परिवर्तन समझौते के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की। नवम्बर 2021 में ग्लासयो (ब्रिटेन) में वैश्विक नेताओं की जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए पुनः बैठक हुई। इस बैठक में भारत ने वर्ष 2070 तक कार्बन उत्सर्जन का स्तर शून्य तक पहुंचाने की घोषणा की।[3]

जलवायु परिवर्तन एक वैश्विक समस्या है। इसका निवारण वैश्विक तौर पर राष्ट्रों के बीच परस्पर सहयोग और नागरिकों के सहभागिता से ही संभव है। मैं मानती हूँ कि राष्ट्रों का दायित्व अपनी जगह है, पर आम लोगों का हर छोटा कदम इस वैश्विक आपदा को रोकने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

इस कड़ी में मेरा पेपर 'झारखंड राज्य के विशेष संदर्भ में' इस महत्त्वपूर्ण मामले पर सारगर्भित तरीके से विचार करता है। इस पेपर में जनसहभागिता और जनआन्दोलनों के जलवायु परिवर्तन निर्वारण हेतु प्रयासों के लिए सूक्ष्मता से अध्ययन करेगा। झारखंड प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण भारत का एक आदिवासी राज्य है। अनुमानों के अनुसार पूरे भारत का 40 प्रतिशत खनिज उत्पादन इस प्रदेश में होता है। इसके बावजूद घने जंगलों

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

से घिरा हुआ प्राकृतिक सुन्दरता से परिपूर्ण यह प्रदेश देश का पिछड़ा एवं बीमार राज्य है।[4]

झारखंड भारत का 2.42 प्रतिशत भौगोलिक भू-भाग है। और यहाँ जंगल 75 फीसदी से भी अधिक भू-भाग में फैला हुआ है। झारखंड के जंगल न सिर्फ महत्त्वपूर्ण लकड़ी प्रदान करते हैं, बल्कि इनमें अनेक औषधीय पौधे भी हैं। जिससे आयुर्वैदिक चिकित्सा में अत्यधिक लाभ मिलता है। जंगलों के विनाश करने वाली शक्तियाँ भी साथ में सक्रिय हैं। मुझे डब्ल्यू.एस. गिलबर्ड का यह कथन सही प्रतीत होता है–''इन्सान प्रकृति का एक मात्र गलती वाली उपज है।''

अच्छी बात यह है कि झारखंड का आदिवासी समाज जल, जंगल और जमीन पर अपने अधिकार के लिए आन्दोलनरत है। इसमें आदिवासी महिलाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वैसे तो जंगलों के विनाश को रोकने के लिए अनेक कानून बनाए गये हैं। लेकिन उसका क्रियान्वयन काफी कमजोर है। जंगली क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों ने वहाँ के टिम्बर माफिया को उखाड़ फेंकने के प्रयास शुरू कर दिए हैं। 'पौलस पूर्वा' जो इस दिशा में प्रयासरत गाँवों में इस माफियाओं से मासूम पेड़ों की रक्षा की है।[5]

जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए पिछले कुछ दशकों में वैश्विक तौर पर काफी संगठित प्रयास हुए हैं। दिसंबर 2015 में पेरिस में इस संबंध में एक वैश्विक समझौते पर विकसित एवं विकासशील देशों ने एकरूपता बनाते हुए सहमति दी। वैश्विक तौर पर जनसंख्या 800 करोड़ के पास पहुँच गयी है। यह 18वीं सदी के अंत तक 100 करोड़ ही थी। तेजी से बढ़ते हुए जनसंख्या के दबाव ने जलवायु परिवर्तन के खतरों को और भी तेजी से बढ़ाया है। गौरतलब है कि 1800 ई. से लेकर 2022 तक वैश्विक तौर पर जल, जंगल और जमीन में कोई अंतर नहीं हुआ है। और वह आज उतना ही बना हुआ है, जितना 1800 ई. में था। सैकड़ों वर्ष पहले प्रख्यात अर्थशास्त्री माल्थस ने तेजी से बढ़ती हुए जनसंख्या के बारे में चेतावनी दी थी। माल्थस ने कहा था–''कृषि उत्पाद जो मुख्य तौर पर खाद्यान्न के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है, का उत्पादन जनसंख्या के बढ़ते हुए संख्या के अनुपात में संतुलन नहीं बना पाता है।''[6]

और यह भुखमरी का प्रधान कारण बन जाता है। माल्थस ने इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि से होने वाले खतरों से हमें सैकड़ों वर्ष पहले आगाह किया एवं जनसंख्या नियंत्रण के लिए भविष्य में होने वाले आन्दोलनों की नींव रखी।[7]

जनसंख्या संबंधित इस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक विचार रॉबर्ट माल्थस ने 1798 में अपने प्रसिद्ध आलेख 'एन ऐसे ऑन द प्रिंसिपुल ऑफ पापुलेशन' में व्यक्त की। माल्थस ने यद्यपि इस बात को भी रेखांकित किया, कि तकनीकी पुनर्जागरण से बड़े पैमाने पर कृषि उत्पाद बढ़े हैं, लेकिन फिर भी यह बढ़त बढ़ती हुई जनसंख्या को पर्याप्त भोजन उपलब्ध कराने में सक्षम नहीं है। 21वीं सदी के तीसरे दशक की शुरुआत में जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव बहुत बड़े कारण के तौर पर जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों के कारण के तौर पर उभरकर सामने आया है। आज जलवायु परिवर्तन वीभत्स तरीके से अपने नकारात्मक प्रभावों से मानवता के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा रहा है। जनसंख्या पर नियंत्रण कुछ दिनों में संभव नहीं है।

जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों को रोकने के लिए वैश्विक तौर पर रिचडी जेनेरिको सम्मेलन से नवम्बर 2021 में हुए ग्लासगो शिखिर सम्मेलन में सरकारों के स्तर पर महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए हैं। लेकिन ये सारे प्रचारित तमाम दावों के बावजूद जमीन पर उतारना टेढ़ी खरी है। यह तभी संभव है, जब हर व्यक्ति वैश्विक तौर पर एक वैश्विक नागरिक की भूमिका में आए और स्थानीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों को रोकने में अपनी व्यक्तिगत भूमिका निभाए।

झारखंड प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर भारत का एक महत्त्वपूर्ण प्रदेश है। यहाँ बड़ी संख्या में आदिवासी समाज के लोग रहते हैं। आदिवासियों का प्रकृति से हजारों वर्षो से मधुर संबंध रहा है। आदिवासी यह महसूस करते हैं कि प्रकृति की रक्षा करना उनका नैतिक दायित्व है। जल, जंगल, जमीन और जानवर की रक्षा के लिए झारखंड का आदिवासी समुदाय संघर्षरत रहा है। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। इसके बावजूद वे प्रकृति की रक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं। आदिवासी महिलाओं का इसमें और भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों को रोकने के लिए आदिवासी महिलाएं लगातार संघर्षरत हैं। जंगलों की अवैध कटाई से लेकर सरकारी मनमानी को रोकने तक उनका संघर्ष काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। आदिवासी महिलाएँ ये मानती हैं कि जलवायु परिवर्तन

उनके कमजोर आर्थिक स्थिति को और भी डावांडोल कर देगा। इसके लिए वे इसके दुष्परिणामों को रोकने के लिए कृतसंकल्प हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ का भी मानना है कि ''जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणाम गरीबों को और भी गरीबी की ओर ले जाएगा, खासकर पीने के पानी और उनके खाद्यान्न आपूर्ति पर गंभीर खतरा पेदा हो जाएगा।''[8]

भारत का जलवायु परिवर्तन की राष्ट्रीय नीति में गरीब और वंचित तबके के लोगों को जलवायु परिवर्तन के खतरों से बचाने के लिए संकल्प लिया गया है। महिलाएँ जलवायु परिवर्तन से सबसे ज्यादा प्रभावित होने वाली हैं।

झारखंड में पर्व-त्योहारों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन पर्व-त्योहारों में भी झारखंड की महिलाएँ अपने प्रकृति प्रेम को लोक-संगीत के माध्यम से रेखांकित करती हैं। इससे भावी पीढ़ी को प्रकृति से करीब होने को स्पष्ट तौर पर संदेश प्रेषित किया जाता है।

झारखंड की आदिवासी महिलाएँ जलवायु परिवर्तन के खतरों के बारे में बौद्धिक तौर पर जागरूक नहीं होने के बावजूद भी सरजमीन पर इसे अपने अस्तित्व पर संकट मानते हुए इसके निवारण के लिए लगातार संघर्षशील हैं। जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों को सिर्फ वैश्विक तौर पर सरकारों के प्रयासों से नहीं रोका जा सकता, बल्कि इसके लिए स्थानीय तौर पर, समुदाय के तौर पर और व्यक्तिगत तौर पर भागीरथ प्रयास की आवश्यकता है। झारखंड की महिलाएँ इस दिशा में गंभीर प्रयास कर रही हैं। उनके इस जिजीविषा को देखते हुए ऐसा लगता है कि भारत में अन्य क्षेत्रों में भी इसका अनुकरण करना चाहिए। वैश्विक तौर पर भी जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों को रोकने के लिए सामाजिक आन्दोलनों पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है। झारखंड की आदिवासी महिलाओं ने प्राकृतिक संपदा पर आश्रित होने से भी उन्हें जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों को रोकने की प्रेरणा मिली है।

आज इस बात की महत्ती आवश्यकता है, कि झारखंड के आदिवासी महिलाओं का जलवायु परिवर्तन के खतरों को रोकने के प्रयास से हम सब प्रेरणा लें, और इस महान कार्य में अपना भी व्यक्तिगत योगदान सुनिश्चित करें। सरकार सिविल सोसायटी और मीडिया को इन बातों को प्रमुखता से प्रचारित करने की आवश्यकता है। इस बात की भी जरूरत है, कि सभी सबल पक्ष आदिवासी महिलाओं को समर्थन करें।

वर्तमान में समय की माँग है कि इन आदिवासी प्रयासों को सरकारी संरक्षण मिले। मीडिया एवं नागरिक समाज के लोगों को भी जलवायु परिवर्तन रोकने के इन स्थानीय, परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयासों को मुखर होकर समर्थन देने की जरूरत है।

पीएच.डी.
राँची विश्वविद्यालय,
राँची, झारखंड

संदर्भ सूची

1. स्रोत-टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 15 जनवरी 2020, पेज 13-14
2. स्रोत-बी.बी.सी. नवम्बर 13, 2021
3. स्रोत-रेडिक डॉट कॉम, 3 नवम्बर, 2021
4. स्रोत-बिजनस स्टेट्स, मई 18, 2018
5. स्रोत-टाइम्स ऑफ इंडिया, 6 जून, 2012
6. पीयरे डेसरीचर्स, क्रिस्टीन हॉफ वॉयर : ए पोस्ट वॉर इनंटल्वैयुल रॉब्स ऑफ द पॉपुलेशन बॉम्ब द इलेक्ट्रानिक जनरल ऑफ ससटेनेबुल डेवपलपमेंट, मार्च 2, 2012
7. डोलन, ब्रायन, माल्थस, मेडिसीन एण्ड मॉरिलीटि : माल्थयुसीयन आफ्टर 1798
8. आदिवासी विमेन इंगोजिन वीथ क्लाइमेंट चेंज, गोविन्द केलवर युनिकेन साउथ एशिया ऑफिस, नई दिल्ली 2009, पेज 8

सचिन द्विवेदी

मण्डलब्राह्मणोपनिषदि प्रतिपादितात्मतत्वस्येतरदर्शनैः समीक्षणम्

भूमिका

वैदिकवाङ्गमये मूर्ध्नि राजते उपनिषदिति। उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति उपनिषद्। उप - नि इत्युपसर्गद्वयपूर्वकात् विशरणगत्यवसादनार्थकस्य सद्धातोः क्विप्प्रत्यये निष्पन्नोऽयम् उपनिषदिति शब्दः। तेन अस्य शब्दस्य अर्थः भवति समीप उपवेशन अर्थात् गुरोः समीपम् उपविष्टा ज्ञानप्राप्तिः। सद्धातोः त्रयोऽर्थाः सन्ति। ते च - विशरणं, गतिः, अवसादनञ्चेति। तत्र विशरणं नाम विनाशकरणम्। गतिः नाम गमनम्। अवसादनं नाम शिथिलीकरणम्। अतः उपनिषदित्युक्ते अविद्यायाः विशरणं नाशो वा, ब्रह्मविद्यायाः प्राप्तिः तं प्रति गमनं, किञ्च सांसारिकदुःखानां शिथिलीकरणम्। तथा हि ईशावास्योपनिषदि च उपनिषदार्थः इत्थमुक्तमस्ति ---

''उपनिषादति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।''[1]

आचार्यशंकराचार्येण उपनिषच्छब्दार्थः इत्थं व्याख्यायते–

''य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसरः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगदिवर्गं विनाशयति परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यासंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयति, उपनिपूर्वस्य सादेरेवमर्थस्मराणात्।''[2] इयमेव उपनिषद् शङ्कराचार्येण ब्रह्मविद्यायाः द्योतिका इत्युच्यते।

पुरा इयं उपनिषद्विद्याचर्चा निर्जनेषु स्थानेषु सम्पन्ना भवति स्म। तस्मात् इयं च विद्या रहस्यविद्या इत्यपि अभिधीयते। दृश्यते च बहुत्र उपनिषदि उपनिषच्छब्दः रहस्यविद्यावाची ब्रह्मविद्यावाची वेति। अतः यस्मिन् ग्रन्थे रहस्यात्मकात्मविद्या आलोच्यते सः उपनिषद्वाच्यः। आन्त्यत्वेन च वेदानां वेदान्तः इत्यपि अभिधीयते। वेदानाम् अन्तः वेदान्तः इति वेदान्तशब्दनिर्वचनम्। अन्तशब्दस्य सामान्यार्थो भवति अन्तिममिति। तेन वेदस्य अन्तिमे उपनिषदां सत्त्वात् तासामेव उपनिषच्च्ब्देछन व्यवहारः।

प्रतिपाद्यविषयः

आदौ अहम्पदवाच्यस्य आत्मनः दर्शनान्तरेषु किं स्वरूपमुपस्थापितमिति निरूप्य अन्ते योगदर्शनवेदान्तदर्शनयोः समीक्षणं क्रियते। तत्र प्रसिद्धं दर्शनं द्विधा विभज्यते आस्तिक-नास्तिकभेदेन। तत्र नास्तिकदर्शने चार्वाक-बौद्ध-जैनाः आत्मविषये विप्रतिपद्यन्ते। चार्वाकेषु केचन शरीरात्मवादिनः केचन इन्द्रियमेव आत्मानं मन्यन्ते।

शरीरमेव आत्मा इति चार्वाकः मन्यते। तदुक्तं सर्व...

''यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।''[3]

अत्र केचन आस्तिकाः मीमासंकाः इत्यमभिप्रयन्ति। स्थूलदेहादिव्यतिरिक्तः आत्मा अस्ति सः स्थूलदेहस्य पतनोत्तरं स्वकर्मानुगुणं फलं परलोके अनुभविष्यति। अतः इदानीं क्लेशेन शरीरायासरूपं यागादिकर्म अनुष्ठीयते इति। चार्वाकाः परलोके मानाभावः इति वेदस्य अप्रमाणत्वेन परलोके क्लृप्तप्रत्यक्षस्य अप्रवृत्तेः। तथा हि अहंपदवाच्यः आत्मा स्थूलशरीररूपः एव। प्रतीतिः एव तत्र प्रमाणं ''अहं स्थूलः अहं कृषः'' इति देहगतस्थूलत्वसामानधिकरण्येन अहम्पदप्रयोगात् इति।

तत्र वदामः स्थूलशरीरमेव आत्मा किल। आत्मा च चेतनः आत्मनि (शरीरे) ज्ञानमुत्पद्यते। शरीरं यदा म्रियते तदा मृते शरीरे तु ज्ञानं नास्ति तथा च शरीरस्य सत्त्वे कार्य

ज्ञानं नास्ति इति अन्वयव्यभिचार: इति।

अत्र चार्वाक: आह ''सत्यम्'' मृते शरीरे व्यभिचार: परन्तु केवलं शरीरमात्मा न अपि तु प्राणवत् शरीरमेव आत्मा। मृतशरीरे तु प्राणाभावात् एव ज्ञानं न जायते इति। एवं दोषे परिहते अपि अन्य: दोष: तदवस्थ: एव। तत्र शरीरं नाम शीर्यते प्रतिक्षणमिति व्युत्पत्तिबलात् आगतम्। यदि शरीरमेव आत्मा तदानीं बाल्यशरीरं युवावस्थायां न वर्तते युवावस्थापि शरीरं स्थविरे न वर्तते। शरीर-अवयव-उपचय-अपचयै: प्रत्यक्षमेव शरीरस्य नाश: अवगम्यते तस्मात् शरीरस्य नाशे मानाभावस्तु न शङ्क्य:। स्मृत्यनुभवयो: कार्यकारणभाव: प्रसिद्ध: एव। यस्मिन् अधिकरणे अनुभव: जायते तस्मिन्नैव अधिकरणे स्मृतिरपि उत्पद्यते। अत्र अधिकरणत्वेन अभिमतस्य शरीरस्य प्रतिक्षणं भिद्यमानत्वात् कार्यकारणयो: स्मृत्यनुभवयो: एकमधिकरणं नोपलभ्यते इति कृत्वा बाल्ये अनुभूतस्य स्थविरे प्रत्यभिज्ञानं न स्यात् अपि तु भवति प्रत्यभिज्ञानं ''योऽयं बाल्ये पितरौ अन्वभवं सोऽहं स्थविरे प्रणप्तघ्न् अनुभवामि''। इति बाधकज्ञानं तत्र शरीरस्य अनात्मत्वे प्रमाणमिति।

ननु प्रतिक्षणं भिद्यमाने अपि शरीरे अनुभव जनितिसंस्कारेण द्वितीयसंस्कार-उपपत्तौ सम्भवति प्रत्यभिज्ञानम् इति। अत्र अनन्तसंस्कारकल्पने तु गौरवदोष:।

तथा च उक्ति:

कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे।
कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे।।

इन्द्रियात्मवाद:

अन्ये चार्वाकास्तु प्रतिक्षणं नश्यमानस्य शरीरसय आत्मत्वे गौरवं पश्यत: स्थिरकाल-अवस्थापि इन्द्रियमेव आत्मा इति मन्यन्ते। किञ्च लौकिकी प्रतीतिरपि तत्र मानं भवति। ''अहं काण:'' ''अहं बधिर:'' इति अत्र इन्द्रियगतबधिरत्व-सामानाधिकरण्येन अहम्पदप्रयोगादिति।

अपि ज्ञानं प्रति तु चक्षुरादीनां करणत्वं तु अति प्रसिद्धमेव तेषां कर्तृत्वं विरोधाभावात् इन्द्रियमेव आत्मा अस्तु।

ननु कर्तृत्वं नाम क्रियानुकूलकृतिमत्त्वम्। कृति: तु अचेतने न सम्भवति इति कृत्वा इन्द्रियं कर्तृ भवितुं नार्हति इति न च वाच्यम्। तत्र मम मते कृत्यादीनामात्मसमवेतत्वं न अङ्गीकृतमपि तु इन्द्रियसमवेतत्वमेव इति न दोष:।

अत्र स: प्रतिक्षिप्यते। किमेकमिन्द्रियमात्मा उत इन्द्रियसमूह: आत्मा। तत्र एकस्य इन्द्रियस्य आत्मत्वे विनिगमनाविरहात् कस्य इन्द्रियस्य आत्मत्वमिति निश्चेतुं न शक्यते। यदि इन्द्रियसमूह: एव आत्मा तदा तु चक्षुरिन्द्रियाभाववान् अन्ध: आत्मवान् एव न स्यात्, तत्र इन्द्रियसमूहस्य अभावात्। अपि च एक-इन्द्रियनाशे आत्मनाशापत्ति:।

प्रथमे क्लपे अव्योऽपि दोष: आक्षिप्यते इन्द्रियनाशे स्मरणानुपपत्ति: इति। पूर्वोक्तरीत्या अनुभवस्मरणयो: सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावात् चक्षुरिन्द्रियेण अनुभूतस्य अव्येन इन्द्रियेण स्मरणं नोपपद्यते । तथा हि चक्षुरिन्द्रिय-उपघाते स्मरणमेव न स्यात्।

किञ्च प्रत्यभिज्ञानमेव न स्यात् ''सोऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामि इति। भिन्नस्य प्रत्यभिज्ञानासंभवात्। अपि च कर्तकरणत्वयो: एकस्मिन् इन्द्रिये विरोध: न इत्यपि न सम्भवति। व्यवहारभेदस्यैव तत्र प्रमाणत्वात्। तथा हि पदयो: पर्यायत्वं तद्वत् एकार्थाबोधकत्वेन न सम्भवति। अपि ''समानपदप्रवृत्तिकत्वे पदयो: पर्यायत्वमिति। कर्तृत्वपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तु इन्द्रियं न। परन्तु क्रियानुकुलख्रतिमत्त्वम्। करणत्वपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वमिति पदयो: भेद: अवश्यं वक्तव्य:। तस्मात् सिद्धमिन्द्रिमपि आत्मा न इति।

मन: आत्मावादिन:

चक्षुरादि-इन्द्रियाणामनित्यत्वात् स्मरणानुपपत्ति: तदवस्था इति दोष: प्राक्-मते प्रदर्शित:। स तु मन: आत्मा इति वादिनां मते नास्ति। मनस: नित्यत्वात्। अनुभवस्मरणयो: एकं नित्यमधिकरणमात्मा उपलभ्यते इति।

इदानामन्य: एव दोष: प्रदर्श्यते। मन: नित्यम् अणुत्वात् इति मनस: नित्यत्वे अणुत्वमेव प्रयोजकमिति वदाम:। मनस: आत्मत्वे तत्समवेतसुखादीनां प्रत्यक्षज्ञानमेव न स्यात्। अनुगतरूपादीनां यथा प्रत्यक्षज्ञानं न भवति तद्वत् मनोरूप-अणुगतसुखादीनामपि प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। प्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वात् मनसि अणुत्वेन महत्त्वाभावात् इति।

तस्मात् मन: आत्मा न इति सिद्धम्।

क्षणिकविज्ञानवाद:

इदानीं बौद्ध: अवतिष्ठते। ननु क्षणिकं विज्ञानमेव आत्मा अस्तु तादृशस्य विज्ञानस्य स्वत:प्रकाशरूपत्वात् चैतन्यं तु प्रसिद्धमेव। तत्र विज्ञानत्वं प्रमेयव्यापकं न वा, विज्ञानत्वं सत्त्वव्यापकं न वा इति संशय: तत्र निषेधकोटि: सिद्धान्तिनां विधिकोटि: पूर्वपक्षिणां बौद्धानामिति। अयमाशय: यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र विज्ञानत्वम् इति यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र विज्ञानत्वमिति व्याप्तिद्वयम्। अत्र सत्त्वं नाम

अर्थक्रियाकारित्वम्।

तन्मते विज्ञानं द्विविधम्

1. प्रवृत्तिविज्ञानम्

2. आलयविज्ञानम्

''अयं घट:'' इति प्रवृत्तिविज्ञानम्। ''अहं जानामि'' इति आलयविज्ञानं तदेवात्मा बौद्धमते।

ननु सुषुप्तौ आत्ममन:संयोगस्य अभावादेव तदानीं विज्ञानं न स्यात् इति न च वाच्यम्। तत्र सुषुप्तौ प्रवृत्तिविज्ञानमेव नश्यति आलयविज्ञानं तु अनुवर्तते आलयविज्ञानं क्षणिकं सत् अपि अग्रिमविज्ञानं जनयति।

नन्वेवं चेदपि अनुभवस्मरणयो: कार्यकारणभाव: सामानाधिकरण्येन इति नियमानुरोधेन क्षणिकं विज्ञानं कथं स्मृत्यनुभवयो: अधिकरणं स्यात् इति। तत्र तु पूर्वपूर्वविज्ञानस्य उत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् तत्र संस्कारा: अपि अनुवर्तन्ते इति। इदानीं तु स: एवंरूपेण प्रतिक्षिप्यते। विज्ञानं तु सविषयकं पदार्थ:। तत्र तस्य सविषयकत्वे कल्पद्वयमुपतिष्ठते किं तस्य जगद्विषयकं वा यत्किञ्चिद्विषयकत्वं वा इति।

जगद्विषयकत्वे जीवस्य सर्वज्ञत्वापत्ति: दुर्वारा। तस्य यत्किञ्चित्-विषयकत्वे तु विनिगमनाविरह: एव दोष:। अस्तु विज्ञानं निर्विषयकमेव तथा च निर्विषया विज्ञानधारा अनुवर्तते इति न च वाच्यम्। निर्विषयस्य विज्ञानत्वे प्रमाणाभाव:। यदि निर्विषयकस्यापि ज्ञानत्वव्यवहार: उपेयते। तदा तु घटादीनामपि निर्विषयकाणां ज्ञानत्वे कापि हानि: न स्यात्। न च इष्टापत्ति:। विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुत: अनुभूयमानस्य अपलषितुमशक्यत्वात् इति। तथा हि प्रतीति: घट: तद्विषयकं विज्ञानमिति।

घटादिकं विज्ञानस्य आकरविशेष: एव अस्तु इति न संभवति किं स: आकार: विज्ञानात् अतिरिच्यते उत नातिरिच्यते। यदि अतिरिच्यते तदा आगतं विज्ञानव्यतिरिक्तं वस्तु तथा च ''यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र विज्ञानत्वमिति'' अभ्युपगमविरोध:। यदि विज्ञानमेव आकार: तदानीं नीलाकार: अपि पीताकार: स्यात् स्वरूपत: विज्ञानस्य अविशेषात्। अत्र बौद्ध: अपोहरूप: नीलत्वादिधर्म: भेदप्रयोजक: इति वदति। तदुक्तं-

सहोपम्लनियमात् अभेदि नीलतद्धियो:।

भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानै: दृश्यतेन्द्र....।।

तदानीं तु विरुद्धस्य नीलत्वादे: एकस्मिन् विज्ञाने असम्भवात् अपोह: अपि न संभवति। न हि एकस्मिन् द्रव्ये अश्वत्वं गोत्वं च सकृद् भवत:।

यत्तूक्तं क्षणिकविज्ञानेषु संस्कार: अनुवर्तन्ते इति तथा सति अनेकसंस्कारकल्पने अतिगौरवं दोष:। किञ्च क्षणिकं विज्ञानं कल्पनीयमिति अन्यत् गौरवमेव तदपेक्षया नित्यं विज्ञानमात्मा अस्तु इति पक्षस्वीकारे लाघवम्।

नित्यविज्ञानवाद:

नास्तिकदर्शनानुरोधेन आत्मवाद: प्रपञ्चित:। इदानीं तु आस्तिकदर्शनानुरोधेन आत्मवाद: प्रपञ्च्यते। तत्र आदौ उत्तरमीमांसामतमादाय उच्यते।

क्षणिक-अनन्तविज्ञानकल्पने गौरवात् बौद्धमतम् अभ्युपगन्तुं न शक्यते इति उक्तं तत्र विज्ञानं नित्यमेव कल्प्यताम्। तथा च नास्ति गौरव-दोष:। नित्यविज्ञाने च श्रुतय: प्रमाणीभूता: भवन्ति। ''अविनाशी वा अरे अयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इति। वेदान्तमते षड्विधतात्पर्यलिङ्गै: नित्यं विज्ञानमेव आत्मा इति यद्यपि प्रतिपाद्यते तथापि विज्ञानं तावत् सविषयक: पदार्थ:। आत्मत्वेन अभिमतं विज्ञानं किं जगद्विषयकं स्यादुत यत्किञ्चित्विषयकमिति। तत्र प्रथमकल्पे पूर्वोक्तदोष: ''जीवस्य सर्वज्ञत्वापत्ति''। इष्टापत्ति: इति न च वाच्यम्। ''नाहं सर्वज्ञ: अपि तु अल्पज्ञ: एव'' इति बाधकप्रतीते: सत्त्वात्। यत्किञ्चित् विषयकत्वे विनिगमनाविरह: उक्तप्राय: एव।

अत्र समाधत्ते वेदान्ती, जीवस्य न जगद्विषयकत्वं न वा नियतयत्किञ्चिद्विषयकत्वं ब्रूम:। परन्तु यद्विषयकत्वं यत्र जीवे अनुभवसिद्धं तत्र तद्विषयकत्वं तथा च जीवस्य सविषयकत्वं वक्तुं शक्यते इति चेत्-मैवम्, जीवस्य सविषयकत्वे न कापि प्रतीति: उपलब्धुं शक्यते न कोऽपि प्रत्येति ''अहं घटविषयक:'' परन्तु सर्वेषां भवति अनुभव: घटविषयकज्ञानवान् अहमिति। तथा च प्रतीत्यनुरोधेन ज्ञानव्यतिरेकेण एव आत्मा अनुभूयते। तस्मात् विज्ञानमात्मा भवितुं नार्हति।

ननु श्रुति: प्रबलं प्रमाणं तथा तु नित्यविज्ञानस्य आत्मत्व् व्यवस्थापितं तत्कथमन्यथपितुं शक्यते। श्रुतिश्च ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''। अत्र बृहत्त्वात् बृहणत्वाद्य ब्रह्मैव आत्मेति गीयते तथा च ज्ञानमात्मा तच्च सत्यमनन्तमिति सामानाधि-करण्यव्यदेशात् नित्यं विज्ञानमात्मा इति सिद्धम्।

अत्र आह सिद्धान्ती ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इति श्रुतिवचनं ब्रह्मपरमेव तच्च जीवे नोपयुज्यते। सुतरां च ब्रह्मजीवयो: अस्ति भेद: ''ज्ञान-अज्ञान-सुखित्व-दु:खित्वादिभि:''। ननु मास्तु ब्रह्मजीवयो: भेद: तदानीं बन्धमोक्षव्यवस्था एव न स्यात्। किञ्च ईश्वराभिन्नजीव-

प्रतिपादक: वेद: स्तुतिबोधकत्वेन स्वार्थे अप्रामाणिक: सत् ईश्वराभिन्नं जीवं साधयितुं न उत्सहते।

ननु मोक्षदशायां तावत् अविद्यानिवृत्यां सत्यां तत्र अभेद: उत्पद्यते भेदश्च नश्यति इति वदाम:। तथा च बन्धमोक्षव्यवस्था अपि उपपद्यते।

अत्र उच्यते भेदस्य नित्यत्वेन तस्य नाश: वक्तुं न शक्यते। तथा च ज्ञानाश्रय: आत्मा इति भाट्टतार्किकमतम्। ईश्वरोऽपि न ज्ञानमपितु ज्ञानवान्। तथा च आनन्दमेव ब्रह्म। विज्ञानमेव ब्रह्म इति श्रुते: विज्ञानवत् ब्रह्म इत्यर्थ: तत्र ''स्यादानन्दथुरानन्द:'' इति कोशानुरोधेन पुँल्लिङ्गे आनन्दशब्द: पठित:। आनन्दं ब्रह्म इत्यत्र मत्वर्थीय: अच्प्रत्यय: इति ज्ञेयम्। तथा च पाणिनीयं सूत्रम् अर्शआदिभ्योऽच् इति। तथा च वेदान्तमतं निरूपितम्।

सांख्यमतम्

सांख्यमते पञ्चविंशतितत्त्वानि अङ्गीकृतानि। तथा च कारिका

मूलप्रकृति....पुरुष:[4]।।

प्रधानं प्रकृति: कारणं सर्वेषाम्। आत्मा पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लिप्त:। ननु अस्तु पुरुषस्य कर्तृत्वमिति न च वाच्यम्। सांख्यमते सत्कार्यवाद: अभ्युपगत: तथा च कारणकार्ययो: अभेद: उच्यते। कारणं तावत् कार्यरूपेण पतिणमते। मृत् घटरूपेण परिणमते क्षीरं दधिरूपेण परिणमते इति दृष्टान्ता: तत्र अनुकूला: भवन्ति। तथा च पुरुष: परिणमेत तदा कार्यरूपेण तस्यापि नाश: स्यात् तत्तु इष्यते।

लाघवात् महत्तत्त्वे बुद्धौ एव कर्तृत्वं कल्प्यते। ननु कर्तृत्वसमानाधिकरणौ धर्माधर्मौ। यस्मिन् कर्तृत्वं भवति तस्मिन् एव अपूर्व जायते। यदि बुद्धौ कर्तृत्वं तदानीं पुरुषे धर्माधर्मौ न उत्पद्येते। धर्माधर्मयोश्च अभावात् सुखं वा दु:खं न स्यात् तथा च सांख्यमते बन्धमोक्षव्यवस्था कथमुपपाद्यते। सत्यं कर्तृत्वसमानाधिकरणौ एव धर्माधर्मौ परन्तु बुद्धावेव धर्माधर्मौ उत्पद्येते इति वदाम:। बन्धमोक्षव्यवस्था तु अन्यरीत्या प्रतिपाद्यते।

बुद्धिसत्वे बन्ध:। बुद्धे: असत्त्वे मोक्ष:। तथा च योगसूत्रम् ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'' चित्तवृत्तीनीमभावे च तदा द्रष्टु: स्वरूपे अवस्थानम् इति मोक्ष:।

नन्वेवं सति अहं कर्ता इति व्यवहार: कथमुपपाद्यते भ्रमादेव इति वदाम:। पुरुषे कर्तृत्वाभिमान: बुद्धौ चैतन्या-भिमानश्च तयो: भेद-अग्रहात्। यदा तु विवेकख्यात्या भेद: ज्ञायते तदानीं मोक्ष: इति योगसांख्यमतम्।

शोधच्छात्र:
कर्नाटक संस्कृत विश्वविद्यालय:
बेङ्गलूरू

सन्दर्भ सूचि:

1. कठोपनिषद्
2. कठोपनिषद्
3. चार्वाककारिका
4. सांख्यकारिका - 9

सन्दर्भग्रन्थसूचि:

1. योगोपनिषद:, अ. महादेवशास्त्री, अड्यारपुस्तकालय:
2. वेदान्तसार:, श्री रामशरणत्रिपाठी, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी
3. वेदान्तपरिभाषा, गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी
4. न्यायसिद्धान्तमक्तावली, गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी
5. सांख्यकारिका, आचार्यजगन्नाथशास्त्री, मोतीलाल वनारसीदास
6. सर्वदर्शनसंग्रह:, डा. मदन मोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
7. योगसूत्रम् बलदेव मिश्रा, चौखम्बा संस्कृत संस्थानम्

फक्किकाप्रकाशरीत्या कृत्तद्धितसमासाश्च इति सूत्रविचारः

अनिलकुमारद्विवेदी

प्रस्तावना

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दाः अनेनेति व्याकरणम्। महर्षिः पतञ्जलिः षट्स्वपि वेदाङ्गेषु व्याकरणस्य प्राधान्यमब्रवीत्। ''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति''।[1] व्याकरणपरम्परायां श्रीमद्भट्टोजि-दीक्षितविरचितः वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी इत्याख्यः ग्रन्थः सुप्रथितः।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः पङ्क्त्यर्थबोधनाय बहूनि व्याख्यानानि लभ्यन्ते। तद्यथा - वासुदेवदीक्षितविरचितं बालमनोरमा इति व्याख्यानम्, ज्ञानेन्द्रसरस्वतीविरचितं तत्त्वबोधिनी इति व्याख्यानम्, भट्टोजिदीक्षितप्रणीतं प्रौढमनोरमा इति व्याख्यानम् इत्यादीनि सुप्रसिद्धानि। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्या एव पङ्क्तीनामर्थप्रकाशायऽऽचार्यैः फक्किकापरम्परा समारब्धा। तस्यामेव श्रेण्यां वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः क्लिष्टाः याः पङ्क्तयः तासामर्थप्रकाशनाय ''फक्किकाप्रकाशः'' इति नामकं ग्रन्थं वैयाकरणकेसरी आचार्य इन्द्रदत्तोपाध्यायः अलिखत्। ग्रन्थेऽस्मिन् लघुशब्देन्दुशेखरात् प्रौढमनोरमायाः महाभाष्याच्च तत्र तत्र विशेषांशानां समुद्धरणं संदृश्यते। तथा च यत्र अनियमः तत्र परिभाषाणामपि समुद्धरणं व्यधायि, 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' इत्युक्तेः । इत्थञ्च एकस्मिन्नेव सूत्रे सूत्रार्थप्रतिपादनाय अपेक्षितांशानां संग्रहो दृश्यते। विभिन्नाचार्याणां के सिद्धान्ताः इति सिद्धान्तावगमाय अत्यन्तं छात्रोपयोगि ग्रन्थः।

शोधसारांशः

''एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति''[2] इति महाभाष्ये महाभाष्यकारेण अवादि। अनेन ज्ञायते यत् साधुशब्दानां प्रयोगे धर्मः, असाधुशब्दानां प्रयोगे अधर्मः इति। अतः सर्वैरपि मानवैः साध्वसाधुशब्दाः ज्ञातुम् इष्यन्ते। सर्वाण्यपि शास्त्राणि व्याकरणमूलकानि इति सर्वविदितम्। व्याकरणज्ञानमन्तरा शास्त्रान्तरे प्रवेशः क्लेशाय भवति। व्याकरणपरम्परायाम् आचार्यैः पाणिनीयसूत्राणाम् उत्तरोत्तरं ग्रन्थेषु व्याख्यानं व्यधायि। प्रौढमनोरमा-लघुशब्देन्दुशेखरादिषु प्रौढग्रन्थेषु पङ्क्तीनामर्थस्य क्लिष्टत्वात्, अध्येतृभिः अवगन्तुम् अशक्यत्वाच्च, तासां पङ्क्तीनां सरलार्थप्रतिपादनम् अस्मिन् ग्रन्थे वरीवर्ति। इत्थञ्च कृत्तद्धितसमासाश्च इति सूत्रे कौमुद्यां यः अर्थः प्रतिपादितः सः निरूप्यते। फक्किकाप्रकाशे चास्य सूत्रविषये ये विषयाः निरूपिताः ते - कृत्तद्धितयोर्ग्रहणं किमर्थम्? पूर्वसूत्रेणैव प्रातिपदिकत्वसिद्धौ समासग्रहणं नियमार्थं भवति। विध्यर्थं भवतु इत्याशङ्क्य निराकरणं करोति। प्रौढमनोरमायां शेखरे च ये मुख्याः विचाराः तेषामपि अत्र निरूपणं क्रियते। विशेषतः फक्किकायां विद्यमानाः सरलाः नूतनाश्च ये विचाराः तेऽस्मिन् शोधपत्रे वर्ण्यन्ते।

मुख्यः विषयः

कृत्तद्धितसमासाश्च। 1-2-46॥

वृत्तिः - कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः। पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम्। यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव। तेन वाक्यस्य न।

फक्किकाप्रकाशः - अथ पाचकः औपगवः इत्यादौ प्रत्ययान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञायाः पर्युदासः स्यात् अतः सूत्रे कृत्तद्धितग्रहणं कृतम्। एतेन कृत्तद्धितान्तत्वात् उभयत्र प्रातिपदिकसंज्ञा सिध्यति। समासे तु स्वरसन्ध्युक्तरीत्या

समुदायस्य अर्थवत्वात् अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् इति सूत्रेणैव सिध्यति पुनः तद्ग्रहणं व्यर्थम् इति चेत्, न तच्च नियमार्थम्। स च नियमः यत्र संङ्घाते पूर्वो भागः पदम् उत्तरस्तु प्रत्ययो न तस्य चेत् भवति तर्हि समासस्यैव इति।

ननु राजपुरुषः इत्यादौ अपि प्रत्ययान्तत्वेन निषेधात् विध्यर्थमेव भवतु किमर्थमेतद् इति चेत्, न ''प्रत्ययग्रहणे यस्मात् विहितः'' इत्यादि परिभाषा स्त्रीप्रत्यये ज्ञाप्यते तया च वारणं भविष्यति इति। तद्यथा– कृते समासे **''सुपो धातुप्रातिपदिकयोः''**[3] इति प्रातिपदिकसंज्ञा सुपः लुगर्थमपेक्षिता, तत्र च पुरुषशब्दस्य प्रत्ययान्तत्वेऽपि राजपुरुषः इति समुदायस्य उक्तपरिभाषया प्रत्ययान्तत्वं न लभ्यते। ननु राजकुमारी इत्यादौ **''स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जने न''**[4] इति वाचनिक्याः **''ष्यङः संप्रसारणम्''**[5] इति सूत्रे भाष्योक्तायाः परिभाषायाः प्राप्तिः नास्ति अतः दोषः इति चेत् न।

''अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते''[6] इति हलन्तपुंलिङ्गे ज्ञापयिष्यमाणायाः परिभाषायाः अन्तरङ्गहल्ङ्यादि लोपस्य अप्रवृत्तेः, श्रूयमाणः एव सुपि समासेन तत्र च अप्रत्ययान्तत्वेन प्रवृत्तायाः प्रातिपदिकसंज्ञायाः **''एकदेशविकृतमनन्यवत्''**[7] इति परिभाषायाः निर्जरशब्दे वक्तव्यतया विभक्तेः लुक् अपि सुलभो भवति।

ननु यदि अर्थवत्वं शक्तिलक्षणाव्यञ्जना अन्यतमसम्बन्धेन अर्थबोधकत्वम् इति स्वीक्रियते तर्हि शशशृङ्गम् इत्यादौ अर्थबोधकत्वं नास्ति, अतः समासग्रहणं विध्यर्थमिति चेत्, न तत्रापि बौद्धार्थे शक्तिः स्वीक्रियत इति अन्यत्र प्रपञ्चितं वर्तते अतः न क्लेशः।

ननु ''वृत्तिमत्प्रातिपदिकम्'' इत्येव भवतु सूत्रम् इति चेत्, न भाषाशब्दानामपि अवश्यं शक्तिस्वीकारेण तत्रापि संज्ञया साधुतापत्तेः तिङादौ अपि दोषापत्तेः च। कृदादि वृत्यभिप्रायेण तादृशं सूत्रमस्तु इति चेत्, न अव्युत्पन्ने डित्थादौ अव्याप्तिः भवति तथा सनाद्यन्तेषु अतिव्याप्तिश्च भवति इति।

ननु भाष्यकृदभिहितप्रत्याहाराद् 'अतिप्रातिपदिकम्' इति न्यासस्वीकारे सुप्तिङ्न्तभिन्नं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् इत्यर्थात् समासस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञा स्यात्, माऽस्तु नियमसूत्रम् इति चेत्, न प्रत्येकं वनमित्यादौ च, दशदाडिमानि षडपूपा इति समुदायेषु च सञ्ज्ञानिरासाय बहुपटव इत्याद्यर्थं च अर्थवत्सूत्रस्य अवश्यकरणीयत्वे नियमसूत्रस्यापि करणीयत्वात् इति।

अर्थवत्सूत्रस्य नियमसूत्रस्य च अवश्यकरणघ्न फलं किमिति अग्रे प्रतिपाद्यते। एतेन अहन् इत्यत्र हन्तेर्लङि नलोपवारणाय अधातुग्रहणस्य आवश्यकत्वात्, काण्डे कुण्डे इत्यादावतिव्याप्तेश्च उक्तन्यासो न कर्त्तव्य इति मन्दोक्तमपास्तम्। प्रत्ययलक्षणेन लुप्ततिङन्तसुबन्तत्वाश्रयणेन एव इष्टसिद्धेः। ''सप्तम्यधिकरणे च'' इत्यादिनिर्देशैर्विभक्त्–यादेशस्य अन्तवद्भावानभ्युपगमात् काण्ड इत्यादौ दोषः नास्ति इति यथान्यास इवात्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति भावः।

तत्रादौ नियमार्थम् इदं सूत्रम् इत्युक्तम् तदेव विवृणोति **यत्रेति** इत्यादिना। सञ्घाते = अर्थवतिपदसमुदाये इत्यर्थः। समासस्य सजातीये एव नियमः इत्याह **पूर्वो भागः पदमिति**। चतुर्विधेऽपि समासे पूर्वभागस्य पदत्वस्य अव्यभिचारित्वात् इत्यर्थः।

ननु एवं सति जन्मवानित्यादौ ''स्वादिष्वसर्वनाम–'' इत्यनेन पूर्वभागस्य पदत्वात् सञ्ज्ञानापत्तिः। तद्धितान्तत्वान् सिध्यति इत्यपि न वक्तव्यम् यतो हि तस्य औपगवमित्यादौ **''यचि भम्''**[8] इति पूर्वभागस्य भसंज्ञात्वात् नियमप्राप्तिः न भवति। अतः चारितार्थ्यम् इति चेत्, न पूर्वनियमे ''उत्तरस्तु प्रत्ययो न'' इत्यंशः पूर्यते तेन। एवमपि राजेयान् इत्यत्र पूर्वभागस्य पदत्वे अपि उत्तरस्य प्रत्ययत्वात् नियमः न प्राप्नोति तथा सति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वं स्यात् इति चेत्, न पूर्वभागप्रकृतिकप्रत्ययो न इति व्याख्यया अत्र अतथात्वात् इति।

अधुना पुनराशङ्कते – पूर्वोक्तरीत्या पूर्वो भागः पदमिति नियमांशं विनाऽपि इष्टसिद्धेः तदंशो व्यर्थः इति न वाच्यम्। बहुपटव इत्याद्यर्थम् आवश्यकत्वात्, तद्यथा बहुच्विशिष्टस्य प्रातिपदिकत्वात् जस् प्रत्ययस्य लुकि सति 'चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' इत्यनेन प्रत्यये सति प्रकृतिप्रत्यय–समुदायस्यान्तः उदात्तो वाच्यः इत्यर्थकेन पटुपदोत्तरोकारस्यो–दात्तत्वसिद्धिः। अन्यथा तु जस एवोदात्तत्वे अनिष्टापत्तिः स्यात्। तद्धितग्रहणस्य तद्धितविशिष्टपरत्वात् न दोषः इति न शङ्कीयम्। पचतकीत्यादावतिव्याप्तेः।

ननु वृषण्वसुः इत्यत्र **''वृषण्वस्वश्वयोः''** इतिसूत्रेण पूर्वभागस्य भत्वात् नियमः न प्रवर्तते चेत् संज्ञा एव न स्यात् इति चेत्, न तस्य छान्दसात्वात्, वृषण् सु वसु सु इत्यवस्थायामेव प्रातिपदिकसंज्ञा प्राप्यते। तदानीं च वसुशब्दपरत्वाभावेन एव भसंज्ञा न प्रवर्तते इत्यर्थः।

नियमफलं निरुपयति **वाक्यस्य नेति** इत्यादिना। गामानय शुक्लां दण्डेन इत्यादौ सति प्रातिपदिकत्वे सुप् न श्रूयेत इति। ननु **''कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्''**[9] इति परिभाषा समासे कथ्यते तथा च मूलकेनोपदंशं

भुङ्क्तेइत्यादि वाक्यस्यापि संज्ञा स्यादेव। भुजिक्रियायां मूलकेन इत्यस्य करणत्वेन अन्वयात् उपदंशं कृदन्तं प्रति कारकत्वमेव नास्ति इति न भ्रमितव्यम्। उपदंशमित्यत्र कर्मत्वेन अपि अन्वस्य वक्तुम् शक्यत्वात्, तत्र च प्रधानभुजिक्रियानिरुपित करणत्वसंज्ञाप्रयुक्त तृतीयैव पश्य मृगो धावति इत्यादौ इति स्पष्टम् अन्यत्रेति चेत् न, समासेन यः नियमः कृतः तेन परत्वात् कृदन्तप्रयुक्तकार्यबाधनस्य अङ्गीकारः वर्तते इत्यर्थः।

प्रौढमनोरमा – अर्थवत् इत्यनुवर्तते, तत्सामर्थ्यात् तदन्तविधिः भवति। जहत्स्वार्थायां वृत्तौ कृतां तद्धितानां च अर्थो नास्ति। अस्तु भूतपूर्वगतिम् आश्रित्य कार्यं कुर्मः इति चेत् सः मार्गः न प्रशस्तः इति। अजहत्स्वार्थायाम् अपि न प्रत्ययमात्रेण अर्थपर्यवसानं भवति इति अभिप्रेत्य उक्तं **कृत्तद्धितान्ताविति**। लिट्, धुक्, इत्यादौ ''अधातुः'' इति पर्युदासे प्राप्ते, कर्ता इत्यादौ अप्रत्ययान्तमिति पर्युदासे च प्राप्ते कृदन्ते विधिरयम्। अस्तु तर्हि प्रत्ययान्तत्वेन पर्युदासे प्राप्ते विध्यर्थं भवतु इति न शङ्क्यम्। वाक्यस्य अप्रत्ययान्तत्वात्, प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेः एव ग्रहणं भवति। ननु स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमस्य निषेधः कृतः वर्तते एवं च राजकुमारी इत्यादौ विध्यर्थमस्तु इति चेत् न, अन्तरङ्गस्यापि हल्ङ्यादिलोपस्य लुग्विषये अप्रवृत्या श्रूयमाणः एव सुपि समासप्रवृत्तेः। तत्र च अप्रत्ययान्तत्वेन प्रवृत्तायाः संज्ञायाः एकदेशविकृतन्यायेन विभक्तिलुक्यपि सुलभत्वात्। अत एव गोमत्प्रियः इत्यादौ नुमादयाः न भवन्ति इति। लुकः पूर्वं यदि अन्तरङ्गस्य प्रवृत्तौ तु नुमादयः स्युरेव इति भावः।

ननु असमर्थसमासे असूर्यं पश्याः दशदाडिमानि इत्यादिवत् अनर्थके विध्यर्थं भवतु इति चेत् न, ''अर्थवत्'' इत्यस्य अनुवृत्तिः उक्ता वर्तते। अधुना प्रश्नः स्यात् कथं तर्हि असमर्थसमासे संज्ञा इति चेत् धर्मिग्राहकमानादेव इति गृहाण। तथाहि प्रातिपदिकसंज्ञा धर्मः, तद्धर्मी असमर्थसमासः, ग्राहकं मानं खशविधायकं सूत्रम्। ''**असूर्यललाटयोर्दृशितपोः**''[10] इत्यनेन हि असूर्यशब्दे उपपदे खशप्रत्ययो विधीयते। उपोच्चारितं पदं हि उपपदम् उच्यते। पदं च सुप्तिङन्तमिति।

नियमशरीरमाह– **यत्र संघाते इत्यादि**। यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव। पूर्वो भाग इत्युपलक्षणम् – उत्तरस्तु प्रत्ययो नेत्यपि अवगन्तव्यम्। अन्यथा जन्मवान् इत्यादौ संज्ञा न स्यात्, यतो हि औपगवादौ तद्धितग्रहणस्य चारितार्थ्यं वर्तते।

अत्र प्रश्नः पूर्वो भागः पदम् इति किमर्थम्? बहुज्विशिष्टस्य प्रातिपदिकसंज्ञा भवतु इत्येतदर्थम् इति। तस्य फलं तावत् बहुपटव इत्यत्र प्रतमजस्प्रत्ययस्य लुकि सति बहुपटुशब्दस्य चित्स्वरे पुनर्जसि उपोत्तमोदात्तत्वं सिध्यति। यद्वा प्रकृतिप्रत्ययभावानापन्नसंघातविषयको नियमः भवतु। आद्यपक्षे राजपुरुषौ इत्यादौ पुरुषौ इत्यादेः संज्ञा स्यादिति न वाच्यम्, अर्थवत्वेनैव प्रातिपदिकसंज्ञायाः वारणं सम्भवति। प्रत्ययार्थो हि विशिष्ट एवान्वेति, न तु केवलम् उत्तरपदार्थे येन पुरुषौ इत्यस्य अर्थवत्वं स्यात्।

लघुशब्देन्दुशेखरः – राजन् + अस्, पुरुष + स् इत्यादौ समासे तस्य धातुप्रत्ययप्रत्ययान्तभिन्नतया अर्थवत् सूत्रेणैव प्रातिपदिकत्वसिध्या समासग्रहणं नियमार्थम्। ननु राजन् + अस्, पुरुष + स् इत्यादेः प्रत्ययान्ततया पूर्वेण प्रातिपदिकसंज्ञा अप्राप्त्या विध्यर्थमेव समासग्रहणम् अतः उक्तं प्रत्ययग्रहणे इति। प्रत्ययग्रहणे यस्मात्सविहितः तदादेः तदन्तस्य ग्रहणमिति परिभाषया तदादेः इति उपस्थित्या समासस्य प्रत्ययान्ततदादित्वाभावात् पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थमिति।

यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदमित्यादिनियमशरीरस्य प्रकारमाह नियमस्य इत्यादिना। सजातीयविषयत्वात् इति। सजातीयानां नियमः कार्यः। अन्यथा अतिप्रसङ्गापत्तिः इति भावः। मनोरमाखण्डनकृतः चक्रपाणिशेषोक्तदूषणमुद्धर्तुमाह एतेन इत्यादिना। संग्राह्यव्यवच्छेद्ययोः साजात्यप्रदर्शनमात्राभिप्रायकत्वेन इत्यर्थः। यच्छब्दार्थयोः– यत्तच्छब्दजन्यधीविशेष्ययोः, अननुगतत्वेन– अनुगतधर्माबोधकत्वेन त्यदादीनां बुद्धिस्थपरामर्शकत्वेन तेषाम् आनन्त्यात् अननुगतत्वमित्यर्थः। ननु अर्थाननुगमेऽपि यत्र तस्य एतद्रूपः शब्दानुगमः अस्त्येव इत्यतः उक्तं शब्दानुगमस्य इति। अर्थस्यैव नियमशरीरे प्रविष्टत्वेन अर्थाननुगमे शब्दानुगमस्य अकिञ्चित्करत्वम् इत्यर्थः।

ननु त्यदादीनां बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षिते शक्तिस्वीकारेण शक्यानां घटपटादीनां, तदवच्छेदकानां घटत्वपटत्वादीनाम् आनन्त्येपि बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वरुपस्य शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य ऐक्यात् अनुगमः अस्त्येव इत्यतः आह व्यवच्छेद्याननुगमे अपि इति। समासकृतनियमस्य फलं वाक्यस्य प्रातिपदिकत्ववारणमिति व्यवच्छेद्यं वाक्यमित्यर्थः। संग्राहस्यैव अनुगमः इत्यर्थः। यथा सास्नादिमत्वं गोर्लक्षणमित्यत्र संग्राह्याणां सकलगोव्यक्तीमामनुगमः। व्यवच्छेद्य महिष्यादिकं तु न कोपि अनुगमयति तथा च भगवान् पाणिनिः सङ्ग्राह्यान् साधुशब्दानेवानुगमयति न असाधुशब्दान्

इति स्पष्टं विषमपदविवृतौ। समाससाजात्यप्रदर्शनाअर्थमेव यत्र सङ्घातः इति मूलस्य प्रवृत्तत्वेन अनुगमस्य असम्भवे अपि अनुपयोगे अपि न क्षतिः इति भावः।

पदशब्देनात्र स्वतन्त्रेणापि प्रयोगार्हमर्थवद्गृह्यते। अर्थवतो ग्रहणादेव इत्यर्थः। ''अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थम्'' इत्युक्तमत्र भाष्ये। ननु भाष्ये वाक्ये संज्ञावारणाय अर्थवत्समुदायानामिति नियममुक्त्वा बहुपटव इत्यादौ दोषमाशङ्क्य सुबन्तानामिति नियम उक्तः, न तु स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्ह इतीत्यत आह भाष्ये सुबन्तानामिति। तथा च सुबन्तानामिति भाष्येण पूर्वोक्तनियमशरीरे स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हेति विशेषणं देयमित्युक्तम् इति भावः। ''भाष्ये 'सुबन्ताना' मित्यनेन भेदसंसर्गद्वारकार्थवन्त उपलक्ष्यन्ते'' इति कैयटेन स्पष्टमेवोक्तम्। तेन ''गवित्यमाहे'' त्यादौ ''गो'' इत्यादीनां सुबन्तत्वाभावेऽपि समुदायस्य प्रातिपदिकत्वम्, अनुकरणस्यानितिपरस्यापि प्रयोगसत्वेन तावन्मात्रस्यापि पृथक्प्रयोगार्हत्वात्।

ननु प्रयोगार्हेत्येव भवतु, स्वातन्त्र्येणेति विशेषणं किमर्थमित्यत आह – ''बहुपटव'' इत्यादौ प्रातिपदिकत्वसाधनाय ''स्वातन्त्र्येणे''ति। यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदमिति नियमशरीरे यथा पूर्वभागस्य स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवतः ग्रहणं तथा पूर्वत्वस्य साकाङ्क्षत्वात् तेनाक्षिप्तपरस्यापि स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवत एव ग्रहणम् इत्याह तत्रेति। नियमशरीरे इत्यर्थः। एवञ्च स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हाणामर्थवतां समासग्रहणं नियमार्थमिति फलितम्। समुदायघटका भागाः स्वातन्त्र्येणापि प्रयोगार्हा अर्थवन्तो गृह्यन्त इति तात्पर्यम्। अत एव ''पुत्रकाम्ये'' त्यादौ न दोषः। अत एव = पूर्वोत्तरभागयोः स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवत्वं निवेश्य नियमाङ्गीकारादेव। अङ्गसंज्ञासूत्रे भाष्ये – **''प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेः तदन्तस्य ग्रहण''**[11] मिति परिभाषायाः फलनिरूपणावसरे ''देवदत्तो गार्ग्ये'' ति यञ्तः समुदायः, अतः तद्धितान्तत्वात् कृत्तद्धितसमासाश्च इति सूत्रेण प्राप्तसंज्ञाऽभावः फलत्वेन प्रतिपादितः।

समीक्षणम्– सामान्येन वयं द्रष्टुं शक्नुमः यत् फक्किकाप्रकाशे केषुचित् स्थलेषु विषयभेदः वर्तते। प्रतिपादनशैली अपि भिन्ना सरला च दृश्यते। तथा हि फक्किकायाम् आरम्भः कृत्तद्धितयोर्गहणम् आवश्यकम् इत्यतः जातः। पुनश्च पाचक औपगव इति कृत्तद्धितान्तयो उदाहरणौ प्रदत्तौ। प्रौढमनोरमायां विषयस्य आरम्भः एवं वर्तते – अर्थवत् इत्यनुवर्तते अतः तदन्तविधिर्भवति। तेन कृत्तद्धितान्तौ इत्यर्थः सिध्यति। अत आरम्भे एव विषयभेदः प्रतिपादनशैल्यां च भेदः द्रष्टुं शक्यः। आचार्येन्द्रदत्तोपाध्यायस्य शैली सरला सुगमा च भवति। मनोरमायां तु अधातु इति पर्युदासः लिह्, धुक् इत्यादौ कर्ता इत्यादौ अप्रत्ययान्त इति पर्युदासः च प्राप्तः। अतः कृत् विधिरयम् इति प्रतिपादितम्। इत्थञ्च उदाहरणभेदः दृश्यते। पुनश्च अग्रे तत्र आशङ्का विहिता अस्तु तर्हि विध्यर्थं भवतु इति चेत् तथा वक्तुं न शक्यते वाक्यस्य अप्रत्ययान्तत्वात्, प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेः एव ग्रहणं भवति। शेखरे तावत् कृत्तद्धितग्रहणविषये चर्चा न विहिता। तत्र अर्थवत्वं कीदृशं गृह्यते अर्थात् शास्त्रीयं वा लौकिकं वेति विषयः आरब्धः। तत अग्रे समासविषये चर्चा कृता। राजन् + अस्, पुरुष + स् इत्यादौ समासे तस्य धातुप्रत्ययप्रत्ययान्तभिन्नतया अर्थवत् सूत्रेणैव प्रातिपदिकसंज्ञायां सिद्धायां समासग्रहणं नियमार्थम्। यथा – नियमस्वरुपं, तथा नियमस्वरुपस्य अङ्गीकारे के के दोषाः भवन्ति इत्यादिकं सर्वं शेखरे मनोरमायां चापि निरुपितं वर्तते। यथा वा दशदाडिमानि षडपूपाः इत्यादि निरर्थकपदसमुदायस्यापि निरुपणं समानरीत्या वर्तते। नियमस्य साजात्यादिकमपि प्रदर्शितं वर्तते। फक्किकायाम् इदमपि अवधातुं शक्यं यत् आचार्यः क्रमेण गूढविषयाणां निरूपणम् अकरोत्। अस्मिन् सूत्रे आधिक्येन मनोरमायां ये विषयाः निरूपिताः तेषामेव सरलीकरणं तथा केचन नूतनाः विचाराः प्रतिपादिताः। ननु च अर्थवत्वं शक्तिलक्षणाव्यञ्जनान्यतमसम्बन्धेन अर्थबोधकत्वम् इत्यादि यः विचारः सः शेखररीत्यैव वर्तते। इतोऽपि महत्त्वपूर्णं वर्तते यत् ''वृत्तिमत्प्रातिपदिकम्'' इत्येवास्तु सूत्रम् इत्यादि यः विचारः सः मनोरमायां शेखरे च न वर्णितः। अत अनेन अवगम्यते यत् छात्राणां हिताय ये विषया अपेक्षिताः तान् आचार्यः निरूपयति।

उपसंहारः – इत्थञ्च ''फक्किकाप्रकाशरीत्या कृत्तद्धितसमासाश्चसूत्रविचारः'' इत्याख्ये शोधपत्रे कृत्तद्धितसमासाश्च इति सूत्रे कौमुद्यां यः अर्थः प्रतिपादितः सः निरूपितः। फक्किकाप्रकाशे चास्मिन् सूत्रे विद्यमानाः विषयाः वर्णिताः – कृत्तद्धितयोर्ग्रहणं किमर्थम्? पूर्वसूत्रेणैव प्रातिपदिकत्वसिद्धौ समासग्रहणं नियमार्थ भवति। विध्यर्थं भवतु इत्याशङ्क्य निराकरणं करोति। पुनश्च एतत्सूत्रविषये प्रौढमनोरमायां शेखरे च ये मुख्याः विचाराः तानपि न्यरूपि।

शोधच्छात्रः

श्रीलाल-बहादुरशास्त्री-राष्ट्रियसंस्कृत-विश्वविद्यालय नवदेहली

संदर्भसूची

1. पस्पशाह्निकं महाभाष्यम्
2. पस्पशाह्निकं महाभाष्यम्
3. 2.4.71 अष्टाध्यायी
4. 29 प. परिभाषेन्दुशेखरः
5. 6.1.14 अष्टाध्यायी
6. 52 प. परिभाषेन्दुशेखरः
7. 37 प. परिभाषेन्दुशेखरः
8. 1.4.18 अष्टाध्यायी
9. 28 प. परिभाषेन्दुशेखरः
10. 3.2.36 अष्टाध्यायी
11. 23 प. परिभाषेन्दुशेखरः

उपयुक्तग्रन्थसूची

1. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमा–तत्त्वबोधिनीसहिता, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2014
2. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, कैलास विद्या प्रकाशन, ऋषिकेश (उत्तराञ्चल) 2007
3. फक्किकाप्रकाशः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि. सं. 2009
4. प्रौढमनोरमा भट्टोजिदीक्षितविरचिता, लघुशब्दरत्न भैरवी सहिता च, चौखम्बा संस्कृत भवन वाराणसी 2011
5. लघुशब्देन्दुशेखरः, नागेशभट्टविरचितः भावबोधिनी–बालबोधिनीव्याख्याद्वयोपेतः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, 2005
6. परिभाषेन्दुशेखरः चन्द्रिका तथा बालमनोरमासहितः, श्रीपाद सत्यनारायणमूर्तिः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, 2004

डॉ. अर्चना गौड़

उर्वशी की सांस्कृतिक चेतना

मानव-मन की समस्त उदात्त प्रक्रियाओं का केवल एक लक्ष्य होता है-सुख का वरण और दु:ख से निवृत्ति। उसके समस्त कार्य-कलाप इसी लक्ष्य के इर्द-गिर्द घूमते हैं। मानव-मन की यही प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र और काव्य-शास्त्र में भी परिलक्षित होती है। यद्यपि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, क्योंकि दर्शन-शास्त्र में मस्तिष्क के गहन चिन्तन का आधिक्य होता है और काव्य-शास्त्र में हृदय की गहरी भावुकता की प्रधानता, तथापि ये विरोधी नहीं, वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। दर्शन और काव्य का परस्पर अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हुए डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं -

''कवि दार्शनिक को अपना पथ-प्रदर्शक अनजाने में ही मानता आया है, आज तक का इतिहास कम से कम यही है। (जो) कवि स्वयं दार्शनिक धारणाओं के लिए उनके प्रर्वतक या प्रचारक किसी बड़े दार्शनिक पर निर्भर रहे हैं-यथा श्री शंकराचार्य पर। अत: कविता और दर्शन का अटूट सम्बन्ध चला आ रहा है।''[1]

इसीलिए यह दृढ़ शब्दों में कहा जा सकता है कि दर्शन को काव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। विचारक कवियों की कृतियां तो स्वत: काव्यमय दर्शन बन जाती है।

उर्वशी का दर्शन-पक्ष

उर्वशी में दर्शन-पक्ष का पर्याप्त और स्पष्ट विवेचन हुआ है। इसका सम्यक् अध्ययन करने के लिए इसे निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है-

1. ईश्वर
2. काल
3. देह
4. जीवन
5. प्रकृति और पुरुष

1. ईश्वर-'उर्वशी' में ईश्वर की सर्वशक्तिमान और सृष्टि का सृष्टा माना गया है। ईश्वर ही मनुष्य के जीवन और कार्यो का नियन्त्रण करता है। मनुष्य कर्ता नहीं, वरन् इस परम सत्ता के इंगित पर कार्य करने वाला है। इसी भाव को 'उर्वशी' में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है-

'यह सब उनकी कृपा, सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है।
झुके हुए हम धनुषमात्र हैं तनी हुई ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं।'[2]

सृष्टि का जितना भी प्रसार है, सब इसी सत्ता का रूप है। इस संसार में न कोई पुरुष है और न कोई नारी, बल्कि एक ही सत्ता के प्रतिमान है-

'वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में,
न तो पुरुष में पुरुष, न तुम नारी केवल नारी होय
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूलसत्ता के,
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।'[3]

ईश्वर सर्वव्यापक है। वह प्रकृति के कण-कण में रमा हुआ है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह संसार उसी का एक रूप है-

'ईश्वरीय जग भिन्न है इस गोचर जगती से;
इसी अपावन में अख़श्य वह पावन सना है।'[4]

ईश्वर और प्रकृति दो विरोधी सत्ताएँ नहीं हैं। प्रकृति ईश्वर-प्राप्ति में विरोध उत्पन्न नहीं करती, बल्कि उसमें सहायक होती है-

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

'भ्रान्ति नहीं, अनुभूति; जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं,
शत्रु प्रकृति का नहीं, न उसका प्रतियोगी, प्रतिबल है।
किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों
साथ नहीं रहते; जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से;
और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है,
उसे और जो मिले, किन्तु, परमेश्वर नहीं मिलेगा?'[5]

2. काल- काल की गति निरन्तर प्रगतिशील है। वह बिना किसी की प्रतीक्षा किये हुए और बिना किसी रूकावट के अबाध गति से चलता रहता है। यह काल अनन्त है, इसकी कोई सीमा नहीं है। समस्त सृष्टि इस काल के नियन्त्रण में चक्कर काट रही है-

'सिन्धु, विन्ध्य, हिमवान् खड़े हैं दिगायाम में जैसे,
एक साथ; त्यों काल-देवता के महान् प्रांगण में
भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सब साथ-साथ ठहरे हैं
बातें करते हुए परस्पर गिरा-मुक्त भाषा में।'[6]

3. देह- भारतीय दर्शन में देह को मृत्ति माना गया है; अर्थात् यह नित्य नहीं है। उर्वशीकार ने भी देह को मृत्ति मानकर इसी मत को मान्यता दी है-

'देह मृत्ति, दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्ति नहीं हैं,
अधर नष्ट होते, मिटती झंकार नहीं चुम्बन की;
यह अरूप आभा-तरंग अर्पित उसके चरणों पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में।'[7]

4. जीवन- उर्वशीकार ने जीवन को कार्य-कारण की लड़ी माना है जिसके निरन्तर संघर्ष आते रहते हैं-

'अर्थ खोजते हो जीवन का? लड़ी कार्य-कारण की
बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे अँधियाले में।
चलो जहां तक भी, अतीत गह्वर में, चरण-चरण पर,
मात्र प्रतीक्षा-निरत प्रश्न मग में मिलते जायेंगे।'[8]

5. प्रकृति और पुरुष- उर्वशी में प्रकृति और पुरुष का विवेचन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इनके स्वरूप को समझ लिया जाये।

प्रकृति और पुरुष की विशद व्याख्या सांख्यदर्शन में मिलती है। सांख्यदर्शन में तीन तत्त्वों पर विचार किया गया है-व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। व्यक्त के तेईस भेद हैं और ये कार्य-कारण की परम्परा में मूलाप्रकृति के परिणाम है। अव्यक्त को मूलाप्रकृति कहते हैं। ज्ञ का पुरुष कहते हैं। सांख्य के अनुसार मूलाप्रकृति जड़ और पुरुष चेतन है। पुरुष निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लिप्त है।

मूलाप्रकृति में तीनो गुणों की अवस्थिति होती है इसीलिए इसे तीनों गुणों की 'साम्यावस्था' माना गया है; अर्थात् अव्यक्तावस्था में 'सत्त्व' सत्त्व रूप में, 'रजस्' रजोरूप में तथा 'तमस्' तमोरूप में परिणत होते ही रहते हैं। इसमें कोई वैषम्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रकृति के सात्त्विक अंश से 'महत् तत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है जिसे 'बुद्धितत्त्व' भी कहते हैं। महत् में भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुण अन्तर्निहित होते हैं, किन्तु प्रधानता सत्त्व गुण की होती है। बुद्धितत्त्व का धर्म है किसी कार्य के करने का निश्चय करना। इसके दो प्रकार के रूप होते है-सात्त्विक, जैसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य आदि; और तामसिक, जैसे अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य आदि। जीवात्मा के योग का प्रधान साधन बुद्धि है और यही बुद्धि पुनः प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को अभिव्यक्त करती है; अर्थात् बुद्धि ही के द्वारा योग तथा मुक्ति भी होती है। प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण बुद्धितत्त्व से परिणाम के द्वारा 'अहंकार' तत्त्व बन जाता है।

अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और इनके विषय हैं -रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श।

सांख्य के अनुसार ज्ञ अर्थात् पुरुष त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। वह एक है, किन्तु जब ज्ञ पर अविद्या आदि का प्रभाव पड़ जाता है तो वह बद्धपुरुष कहलाता है। बद्धपुरुष सुख, दुःख एवं मोह रूप योग्य वस्तुओं का भोग करने वाला होता है और अपनी मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों पर विचार किया गया है-

1. निर्लिप्त पुरुष
2. बद्धपुरुष
3. मुक्त पुरुष

यदि इस विवेचन की छाया में देखा जाए तो (उर्वशी प्रकृति का स्वरूप है और पुरूरवा पुरुष का) उर्वशीकार ने इस मत को इन शब्दों में स्वीकार किया है-

'उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है; पुरूरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।'[9]

उर्वशीकार का विश्वास है कि प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से ही परम तत्त्व की प्राप्ति होती है। जो लोग

इन्हें प्रथक्-प्रथक् मानते हैं। वे कभी भी परम सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकते-

'किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों
साथ नहीं रहते; जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से;
और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है,
उसे और जो मिले, किन्तु परमेश्वर नहीं मिलेगा?'[10]

अतः कहा जा सकता है कि अपने काव्य-सौन्दर्य की गरिमा की भांति ही उर्वशी का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त सूक्ष्म और काव्यमय है। काव्यमयी शैली के द्वारा कवि ने दर्शन की गूढ़ सूक्ष्मताओं को बहुत ही सरस बना दिया है। कवि और दार्शनिक में यही तो मूल भेद है।

एसोसिएट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, रामलाल आनंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि; विशम्भर नाथ उपाध्याय-साहित्य रत्न भण्डार आगरा
2. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
3. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
4. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
5. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
6. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
7. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
8. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर
9. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर भूमिका
10. उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर

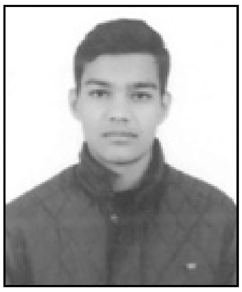

गाहड़वालों का इतिहास-लेखन एवं उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन

आशिद खान

यद्यपि गाहड़वालों से सम्बन्धित प्राथमिक स्रोत अभिलेखिक एवं साहित्यिक दोनों प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं परंतु जब हम इन पर द्वितीयक स्रोतों की तलाश करते हैं तो अधिक कुछ नहीं मिल पाता। इसी समय के अन्य राजवंशों पर काफी कुछ लिखा गया है परंतु गाहड़वालों पर उतना अधिक प्रत्यक्ष कार्य नहीं हुआ है और जो थोड़ा-बहुत हुआ भी है तो उसमें केवल राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पक्ष पर अधिक लिखा गया है। ग्रामीण समाजों एवं अधिवासों से सम्बन्धित पक्ष पर अभी भी काफी शोध की आवश्यकता है। इस लेख के माध्यम से गाहड़वालों के इन्हीं पक्षों पर ध्यान देना हमारा उद्देश्य रहेगा। बी.ए. स्मिथ द्वारा लिखित 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में केवल कुछ पृष्ठों में ही गाहड़वालों का उल्लेख किया गया है जो प्रशंसनीय ही कहा जायेगा क्योंकि औपनिवेशिक मानसिकता को ध्यान में रखकर लिखी गई इस पुस्तक में अधिकांशत: सिकन्दर तथा उसके आक्रमणों की ही चर्चा की गई है। स्मिथ अपनी पुस्तक में 'गाहरवारों' (वह गाहड़वालों को इसी नाम से लिखता है) के कुछ रोचक तथ्य हमें बताता है जिनमें वह इन्हें जोधपुर के राठौड़ों से सम्बन्धित बताता है। वह अपने इन बिन्दुओं पर बात करते हुए मुख्य रूप से कामिल-ए-तवारीख पर निर्भर रहता है। 'कैम्ब्रिज़ हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में हमें गाहड़वालों का बस कुछ ही संदर्भ मिलता है जो इसके तीसरे भाग के पृष्ठ नं. 42 एवं 512 पर आया है। कर्नल टॉड[1] भी स्मिथ के मत से सहमत होते हुए गाहड़वालों का साम्य राठौड़ों से मिलाता है।

इलियट के अनुसार गाहरवारों का शासन गंगा-यमुना दोआब तथा मध्य भारत में था। इलियट[2] गाहरवारों की रूचियों तथा अभिरूचियों का वर्णन ऐसे करता है जैसे वे कोई दुर्लभ प्रजाति रही हो परंतु फिर भी इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गाहड़वालों की शक्ति उस क्षेत्र में कितनी सुदृढ़ रही होगी।

औपनिवेशिक मानसिकता से लिखे गए इन ग्रंथों के बाद अब हम कुछ भारतीयों द्वारा लिखित पुस्तकों पर दृष्टिपात् करेंगे। भारतीयों द्वारा इतिहास-लेखन की शुरुआत अपने प्राचीन अतीत की भव्यता को तलाशने के लिए की गई। इसी कारण आरम्भिक इतिहास लेखनों में प्राचीन शक्तिशाली साम्राज्यों पर अधिक ध्यान दिया गया था परंतु फिर भी हमें यहाँ-वहाँ अन्य राजवंशों का राजनीतिक इतिहास भी मिल जाता है। यहाँ पर पहला उल्लेख चिंतामणि विनायक वैद्य (सी.वी. वैद्य) का किया जा सकता है जिन्होंने 'ए हिस्ट्री ऑफ मिडिवल हिन्दु इण्डिया' तीन खण्डों में प्रकाशित की थी। इसके तीसरे खण्ड में ही पूर्व मध्यकालीन राजवंशों पर लिखित सामग्री मिलती है। यद्यपि वैद्य गाहड़वालों पर काफी विस्तृत वर्णन प्रदान करते हैं परन्तु सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके द्वारा गाहड़वालों पर उपलब्ध सभी स्रोतों का उपयोग नहीं किया गया है। इसका कारण कदाचित उनके समय में गाहड़वालों पर प्रकाशित सामग्री की कमी का होना भी रहा होगा। एच.सी.राय, अपनी पी.एचडी. उपाधि हेतु लिखित शोध निबंध 'डायनिस्टिक हिस्ट्री ऑफ नर्दर्न इण्डिया' में अलग से एक अध्याय गाहड़वाल वंश को समर्पित करते हैं। अपने इसी अध्याय में वो इस वंश से संबंधित राजनीतिक पक्षों, युद्धों तथा उत्तराधिकार पर अपने

समयानुरूप विशेष ध्यन देते हैं। आर. एस. त्रिपाठी[3], कन्नौज पर अपने श्रमसाध्य लेखन में गाहड़वालों से सम्बंधित स्रोतों की कमी पर शोक प्रकट करते हैं। अपनी पुस्तक के तीसरे संस्करण में गाहड़वालों पर उन्होंने अध्याय 12, 13 एवं 14 में विस्तृत रूप में लिखा है। त्रिपाठी गाहड़वालों को 'परम माहेश्वर' घोषित करते हैं एवं मदनपाल के सिक्कों पर वृषभ-प्रतीक को वह इसके कारण के रूप में देखते हैं। त्रिपाठी ने यद्यपि राजनीतिक इतिहास पर ही अधिक ध्यान दिया है परंतु फिर भी उनके द्वारा वर्णित राजस्व के विभिन्न स्रोत, धार्मिक प्रवृत्ति इत्यादि से हमें काफी सहायता मिलती है। उनके द्वारा वर्णित स्रोतों में हमें गाहड़वालों के कुल 73 अभिलेखों का पता चलता है इससे स्पष्ट है कि उन्होंने संपूर्ण अभिलेखिक स्रोतों का अध्ययन नहीं किया।

अनंत सदाशिव अल्तेकर (ए.एस. अल्तेकर) ने बनारस का इतिहास लिखा एवं गाहड़वालों के विषय में भी वर्णन किया। उनके द्वारा काफी महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए जैसे, गाहड़वालों के अभिलेखों में दशाश्वमेध का उल्लेख न होना, काशी विश्वनाथ की कोई स्पष्ट नित्य स्तुति का न होना एवं भैरव का भी गाहड़वालों द्वारा भूमिदान-निर्गत करने के समय उल्लेख न करना महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। यद्यपि अल्तेकर महोदय का प्रमुख उद्देश्य बनारस का इतिहास लिखना था परंतु उनके यह प्रश्न इस विषय में शोध की आवश्यकता पर बल देते हैं। यू. एन. घोषाल गाहड़वाल भूमिदानों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि गाहड़वालों द्वारा अपने शासन क्षेत्र की पारंपरिक राजस्व व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए थे। उनके द्वारा यह भी सुझाव दिया गया है कि भूमि दानों में कुछ नए राजस्व अधिकारियों का भी वर्णन मिलता है। बी.पी. मजूमदार अपने प्रतिष्ठित कार्य में समाज के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं जिसमें यहाँ-वहाँ गाहड़वालों के भी संदर्भ हमें मिलते हैं[4], डी.सी. सरकार ने अपनी पुस्तक 'द कान्यकुब्ज-गौड़ स्ट्रगल' (छठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक) जिसे एशियाटिक सोसायटी द्वारा 1985 में प्रकाशित किया गया में गाहड़वालों के अध्ययन में एक नया आयाम जोड़ा। उन्होंने अपनी पुस्तक में पाल-सेन-गाहड़वाल सम्बन्धों पर बल दिया। लेकिन उनकी पुस्तक में हमें समाज एवं अर्थव्यवस्था पर लगभग कुछ नहीं मिलता। फिर भी सरकार द्वारा अभिलेखशास्त्र (इपीग्राफी) पर किया गया कार्य सराहनीय है जिससे भूमिदानों से सम्बन्धित हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है। इनके द्वारा काफी संख्या में ताम्रलेख पत्रों का संपादन किया गया जो इपीग्राफीया इण्डिका एवं इण्डियन एण्टिक्वेरी के विभिन्न संस्करणों में प्रकाशित होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त गाहड़वाल एवं उनके अभिलेख (भूमि-दान पत्र) अन्य अनेक विद्वानों के लेखनों में उल्लिखित होते रहे हैं। यद्यपि इन विद्वानों ने इन अभिलेखों का उपयोग उस समय की ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं ग्रामीण समाज के पुनर्निर्माण में नहीं किया है परन्तु फिर भी यह गाहड़वालों से सम्बन्धित इतिहास-लेखन का एक भाग हैं। इनमें से कुछ के नाम राजेन्द्र लाल मित्र नीरद बंधु सान्याल, अतुल कृष्ण सूर, ए.सी. बन्दोपाध्याय, डी.सी. गांगुली, राजबली पाण्डेल, एन.आर. राय, पुष्पा नियोगी, आर.सी. मजूमदार, एस.के. मैती, आर.एस.शर्मा, ज़हूर अली खान, मोतीचन्द्र, प्रशांत कश्यप और नीलकंठ शास्त्री। गाहड़वालों पर किए गए कार्यों में रोमा नियोगी का नाम सर्वप्रमुख है। गाहड़वालों पर उपलब्ध सभी लेखनों का वर्णन रोमा नियोगी के नाम के उल्लेख बिना अपूर्ण है। उन्होंने गाहड़वाल तथा उनके ज्ञात अभिलेखों का प्रथम बार विस्तृत विवरण उपलब्ध कराया। यद्यपि काफी अधिक विद्वानों ने गाहड़वालों द्वारा निर्गत किए गए भूमि-दान पत्रों के विषय में लिखा परंतु पहला पूर्णतया समर्पित शोध-प्रबंध लिखने का श्रेय रोमा नियोगी को ही है। उनकी पुस्तक में गाहड़वालों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है परंतु जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से ही स्पष्ट होता है इसमें राजवंश की राजनीतिक उपलब्धियों को समाज की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति से अधिक दर्शाया गया है। परंतु लगता है कदाचित लेखिका पर यह दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि उनका अध्ययन उस समय की इतिहास-लेखन परंपरा के ही अनुरूप प्रतीत होता है। अपनी पुस्तक के अतिरिक्त रोमा नियोगी ने भारतीय इतिहास कांग्रेस के विभिन्न अधिवेशनों में विषय से सम्बन्धित शोध पत्र प्रस्तुत किए जो वार्षिक अधिवेशनों की कार्यवाही पुस्तिकाओं में उपलब्ध हैं। अपनी पुस्तक में उन्होंने 83 अभिलेखों को सम्मिलित करके गाहड़वालों पर आगामी समय में होने वाले शोध को प्रोत्साहित किया। रोमा नियोगी के बाद लल्लनजी गोपाल एवं बी.एन.एस. यादव[5] ने गाहड़वाल ताम्रपत्र लेखों में वर्णित विभिन्न करों (राजस्व संबंधी शब्दावली) का अध्ययन करके आर्थिक इतिहास-लेखन

में महत्वपूर्ण योगदान दिया। दशकों के एक लम्बे अंतराल के बाद ठाकुर प्रसाद वर्मा एवं ए.के. सिंह द्वारा गाहड़वाल अभिलेखों पर एक विस्तृत विवरण मई 2011 में दो खण्डों में प्रकाशित किया गया।[6] विद्वान लेखकों द्वारा किया गया यह कार्य विषय से सम्बन्धित काफी पक्षों पर नवीन विश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार प्रकाश डालता है परंतु इसमें ग्रामीण समाज एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सीमित दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। जैसाकि शीर्षक से विदित होता है कि इसमें लेखकों ने गाहड़वालों एवं उनके अधीन राजवंशों और सामंतों द्वारा निर्गत अभिलेखों का विवरण दिया है। अपने विवरण में उन्होंने कुल 109 अभिलेखों को सम्मिलित किया है जिसमें से 83 स्वयं गाहड़वाल राजाओं द्वारा निर्गत किए गए थे। उसी वर्ष गाहड़वालों पर एक और लघु शोध सामने आया जिसमें आशीष कुमार दूबे[7] ने अभिलेखिक साक्ष्यों के माध्यम से गाहड़वालों के सांस्कृतिक पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयास किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस राजवंश द्वारा शासित क्षेत्र पर सामाजिक एवं आर्थिक पक्षों को ध्यान में रखकर लिखे गए द्वितीयक स्रोतों की भारी कमी है। हम अपने लेख में गाहड़वाल अभिलेख एवं अन्य स्रोतों की सहायता से उस समय के ग्रामीण अधिवास एवं उनके प्रतिरूपों की जांच-पड़ताल करने का एक लघु प्रयास करेंगे।

पीएच.डी. शोधार्थी
इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. कर्नल जे. टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टीक्वीटिज़ ऑफ राजस्थान (क्रूक्स)-1, पृ. सं. 139
2. इलियट, मेमोरीज़ ऑफ रेसेज़ ऑफ एनडब्यूएफपीआइ (NWFPI), खण्ड 1, पृ. सं. 121
3. आर.एस. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज टु द मोस्लम कनक्वेस्ट, प्रथम संस्करण, दिल्ली, 1937
4. बी.पी. मजूमदार, सोशियो-इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ नर्दर्न इण्डिया (1030-1194 ए.डी.), कलकत्ता, 1960
5. बी.एन.एस. यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नर्दर्न इण्डिया इन द टवेल्फथ सेंचुरी, इलाहाबाद, 1973, पृ. 290-91।
6. टी.पी. वर्मा एवं ए. के. सिंह, इन्सक्रिप्शन्स ऑफ द गाहाड़वालास एण्ड देअर टाइम्स, खण्ड 1 एवं 2, आर्यन बुक्स इण्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2011
7. आशीष कुमार दूबे, कल्चर अंडर द गाहड़वालास : इन इपीग्राफिकल स्टडी, दिल्ली, 2011

उत्तम कुमार

'लहरों के राजहंस' की प्रतीकात्मकता

हिंदी के नवनाट्य लेखन परंपरा को एक व्यापक सृजनात्मक एवं बृहत आंदोलन के रूप में स्थापित करने का श्रेय मोहन राकेश को है। साधारणत: मोहन राकेश को प्रसाद की परंपरा का नाटककार कहा जाता है। उनके नाटकों में ऐतिहासिकता, नारी पात्रों की प्रधानता, भावुकता, काव्यात्मकता मौजूद है। फिर भी मोहन राकेश ने इस परंपरा का नया रूप विकसित किया है एवं प्रसाद की परंपरा से अलग आधुनिक भाव बोध के नाटक लिखे हैं। उन्होंने आधुनिक संवेदनाओं, आधुनिक मानव के दर्द को पकड़ना चाहा है। उनके नाटकों में पात्रों की भीड़-भाड़ नहीं है बल्कि संवाद एवं रंग कौशल का सामंजस्य है।

हिंदी नाट्य साहित्य में भारतेंदु और प्रसाद के बाद यदि लीक से हटकर कोई और नाम उभरता है तो वह मोहन राकेश का। उन्होंने हिंदी नाटक को अंधेरे बंद कमरे से बाहर निकालने का काम किया। साथ ही उसे एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया। उन्होंने हिंदी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया बल्कि विश्व नाटक के सामान्य धारा की ओर भी उन्मुख किया। उनके द्वारा लिखे नाटक निम्न हैं-

1. आषाढ़ का एक दिन (1958)
2. लहरों के राजहंस (1966)
3. आधे अधूरे (1969)
4. पैर तले की जमीन (1973)- मरणोपरांत प्रकाशित
5. अंडे के छिलके : अन्य एकांकी तथा बीजनाटक (1973)-मरणोपरांत

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा नाटक है। इस नाटक में भी 'आषाढ़ का एक दिन' की तरह इतिहास और कल्पना का समन्वय है। उनका मानना है कि इतिहास या ऐतिहासिक चरित्र का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता है। इतिहास तथ्यों का संकलन कर उनको एक समय तालिका में संयोजित करता है। दूसरी ओर साहित्य इतिहास के समय से नहीं है बल्कि समय में इतिहास का विस्तार कर देता है।

नाटक में इतिहास और कल्पना के समन्वय के प्रसंग में राकेश कहते हैं-

''जिस अर्थ में 'आसाढ़ का एक दिन' नाटक का आधार ऐतिहासिक है, उसी अर्थ में 'लहरों के राजहंस' नाटक की पृष्ठभूमि अश्वघोष के 'सौन्दरानंद' काव्य पर आधारित होते हुए भी काल्पनिक है। वास्तव में अश्वघोष का काव्य भी 'धम्मपद' की टीका पर आधारित होते हुए भी काल्पनिक है। उसमें नंद और सुंदरी के जीवन से संबंधित तथ्य ऐतिहासिक तथ्यों से भिन्न हैं। इसलिए राकेश ने भी थोड़ी स्वतंत्रता अपने नाटक में ली है।''[1]

मोहन राकेश के शुरुआत के दोनों नाटक का प्रसंग संस्कृत वाङ्गमय से लिया गया है। यह प्रवृत्ति प्रसाद के बाद राकेश के यहां ही दिखती है। विषय चयन की गंभीरता उनके साहित्यिक ईमानदारी का भी परिचायक है। प्राचीन साहित्य से विषय चुनकर उन्हें आधुनिक संदर्भों में ढाल कर प्रस्तुत करना उनकी अपनी विशेषता है। उनके इस नव प्रयोग से हिंदी साहित्य का नाट्य विधान और परिपक्व और पुष्ट हुआ है। इस संबंध में आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं-

''संस्कृत वाङ्गमय से प्रचलित घटना प्रसंग लेकर उन्हें नये नाट्य विधान में गुंफित करना राकेश की नाट्य क्षमता को प्रमाणित करता है।''[2]

'लहरों के राजहंस' मूलत: एक प्रतीकात्मक नाटक है। इस नाटक की प्रतीकात्मकता पर विचार करते हुए हमें उक्त नाटक में घटित कुछ घटनाओं एवं पात्रों के खास संवाद को दिखाना आवश्यक होगा, जिससे यह स्पष्टत: लक्षित हो सके कि लेखक की मंशा पाठक या दर्शक को किस वैचारिक स्तर पर पहुँचाने की है। इस नाटक के प्रमुख घटनाएं हैं–

1. कामोत्सव का आयोजन– सुंदरी की मनोदशा
2. श्यामांग की भूमिका– सरोवर में पत्थर फेंकना
   – राजहंस का चला जाना
   – श्यामांग का ज्वर-प्रलाप
   – नेपथ्य की ध्वनि
3. नंद का अस्थिर चरित्र– दर्पण का टूटना
   – श्यामांग से उसकी सहृदयता, आदि।

नाटक के आरंभ में ही नेपथ्य से स्वर–

''धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुध्दं शरणं गच्छामि।''[3]

का सुनाई देना, इस बात की स्पष्ट कर देता है कि समूचा नाटक बुद्ध के विचारों के आकर्षण एवं विकर्षण के मध्य विचरण करेगा। आगे कामोत्सव के आयोजन के जो प्रसंग है वह सुंदरी की विलासप्रियता का प्रतीक तो है ही। साथ ही, नंद की नारीगत आकर्षण का भी द्योतक है। कामोत्सव के दौरान सुंदरी का अल्का के साथ वार्तालाप, उसकी रूपगर्विता को पूरी तरह उद्घाटित कर देता है;

''नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।''[4]

''उन्होंने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है! परंतु मैं जानना चाहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है।''[5]

उपरोक्त संवाद से यह पता चलता है कि जीवन के प्रति सुंदरी का दृष्टिकोण नितांत भोगवादी है। वह बुद्धत्व की कामना को भी सामान्य काम-वासना के समकक्ष रख कर सही तुलना करना चाहती है। कैवल्य के प्रति सुंदरी यह समझ उसके चरम भौतिकवादी चरित्र को उजागर करता है। वासना और मोक्ष का द्वंद्व हर युग में चलता है। मानव मन का यह शाश्वत द्वंद्व है। आज के आधुनिक मानव मन की नियति भी यही है।

इस विषय में मोहन राकेश स्वयं कहते हैं–

''लहरों के राजहंस ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से आधुनिक जीवन के कुछ ज्वलंत प्रश्नों को उठता है। इसमें पुरुष और नारी के परस्पर संबंधों का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है।''[6]

आयोजन (कामोत्सव) में केवल मैत्रेय का आना नाटक की पहली ऐसी घटना है जब सुंदरी के अभिमान को ठेस पहुंचती है। नगर के लगभग सभी लोग यशोधरा के दीक्षित होने की घटना को ज्यादा महत्व दे रहे थे। सुंदरी ने इसे कामोत्सव को विफल करने के षड्यंत्र के रूप में देखा। हम इसे कपिलवस्तु में तथागत के फैलते सद्विचार का परिणाम भी मान सकते हैं, जहां कामना को त्याज्य समझ गया है।

जहां तक प्रतीकात्मकता का सवाल है इस मायने में श्यामांग भी नाटक का एक महत्वपूर्ण चरित्र है। श्यामांग एक पात्र है जिसकी भूमिका तो अधिकतर नेपथ्य में रही है किंतु अपने संवाद एवं प्रलाप से वह कथा को सांकेतिक रूप से सबसे अधिक संवेदित करता है। सरोवर में पत्थर फेंकने की दृष्टता का कारण जब सुंदरी पूछती है तो श्यामांग का कथन–

''...वहां से देखा तो ताल की लहरों परवाह छाया उतर रही है। कमलताल, कमलपत्र सब उसमें खोए जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया उन सबको लील जायगी-ताल में तैरते राजहंसों के जोड़े को भी। मुझे डर लगा। मैं छाया पर पत्थर फेंकने लगा।''[7]

उपर्युक्त कथन में श्यामांग ने राजहंसों का जिक्र किया है जो मेरी समझ से दाम्पत्य का प्रतीक तो है, साथ ही इस माध्यम से वह सुंदरी और नंद की ओर भी संकेत करता है। और जहां तक 'छाया' की बात है तो वह श्यामांग की अज्ञानता एवं अपूर्णता को प्रदर्शित कर रहा है जो उसके मन की उद्विग्नता का कारण है।

आगे कथा में नेपथ्य से श्यामांग का ज्वर-प्रलाप एवं ध्वनि कुछ ऐसी सूक्ष्म एवं गहन विचार पाठक के मानस में उत्पन्न करता है जिस पर विचार करना जरूरी है। जैसे–

''इन लहरों पर से...लहरों पर से यह छाया हटा दो.

....मुझसे....यह छाया नहीं ओढ़ी जाती।''[8]

''यह छाया मेरे ऊपर से हटा दो?....एक किरण.... कोई एक किरण...''[9]

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है 'छाया', 'लहर', 'किरण' आदि जो ध्वनि नेपथ्य से आती है वह केवल श्यामांग ही नहीं, बल्कि पूरे मानव समाज को अर्थ, काम, मोह से मुक्ति के लिए याचक रूप में दिखाता है। जहाँ तक 'किरण' के प्रतीक का प्रश्न है तो उसका संबंध तथागत के तेजोमय ज्ञान से ही होना चाहिए।

श्यामांग की मनोदशा से ही कुछ द्वंद्व नंद के भीतर भी है। नंद भगवान बुद्ध का सौतेला भाई, कथा का नायक एवं सुंदरी के सौंदर्यगत प्रेम का आश्रय भी है। लहरों पर डोलनेवाले राजहंस के समान ही नंद का मन चंचल है। वह न तो सुंदरी के रूपपाश से ही मुक्त हो पा रहा है और न सच्चे निर्विकार मन से भगवान बुद्ध की शरण में जा पा रहा है। नंद के द्वंद्व की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इस प्रकार है-

''...मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ इसका मन को उतना खेद नहीं जितना इसका कि जब थककर लौटने का निश्चय किया, तो वही मृग रास्ते में थोड़ी दूर आगे मरा हुआ दिखाई दे गया।''[10]

अपनी ही क्लांति से मरे मृग की बात बार-बार सोचना और अपराध बोध होना, नंद की दुविधाग्रस्त मनोदशा की ओर संकेत करता है। नायक के मन का यह संस्कार और उसको पोषित करनेवाली बाह्य परिस्थितियां ही की नाटक के द्वंद्व का आधार हैं। नंद घर से लौटे हुए उपेक्षित बुद्ध से क्षमा-याचना के लिए विकल हो जाता है। जिस समय वह हाथ में दर्पण लिए सुंदरी के श्रृंगार में लीन रहता है, उसी समय 'धम्मं शरणं गच्छामि' का स्वर उठता है और सहसा उसके हाथ से दर्पण गिरकर टूट जाता है। दर्पण का टूटना और कमलताल में डोलती हुई बुद्ध की कल्पित छाया ऐसे ही प्रतीक हैं जो नंद की अस्थिर मनोदशा को प्रदर्शित करते हैं।

आगे नंद को अनायास और अनिच्छा से ही भिक्षु बना दिया जाता है, और वह भिक्षु वेश में घर लौटकर सुंदरी से कहता है-

''जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।''[11]

नंद की उक्ति यह दिखलाती है कि भले ही उसे भिक्षु बना दिया गया, किंतु सुंदरी के रूप की आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाया है। और वह अपने मुंडित केशों को लाने के लिए चला जाता है। हालांकि, राजहंसों के जोड़े का सरोवर से चला जाना पहले से ही भावी स्थिति की ओर संकेत कर रहा था जिसकी परिणति नंद के भिक्षु रूप में होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुंदरी पृथ्वी के प्रतीक में, पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बांधे रखना चाहती है-पुरुष बंधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना और एक अपार्थिव जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूंढना चाहता है। यह एक शाश्वत द्वंद्व है जो आदिम युग से मानव मन को उद्वेलित करता रहा है।

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि तमाम वैचारिक द्वंद्व के बावजूद नंद अंततः पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता है, किंतु नाटक के समापन के दृश्यों को देखने के बाद शायद ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ की अपेक्षा अंत में बुद्ध की ओर उसका चित्र ज्यादा झुका हुआ है। यहां यह फिर कह देना उचित होगा कि नंद का मानसिक संघर्ष केवल व्यक्ति विशेष के संदर्भ में नहीं बल्कि सामाजिक संदर्भ में भी है ठीक उसी प्रकार बुद्ध के चरित्र का आकर्षण भी।

'लहरों के राजहंस' एक प्रतीकात्मक नाटक है। इस संबंध में नाट्य आलोचक जयदेव तनेजा कहते हैं-

'''लहरों के राजहंस' राकेश का प्रतीक बहुल नाटक है। आरंभ से अंत तक नाटककार इतने प्रतीकों और प्रतीक संकेत देता चलता है कि पाठक-दर्शक आश्चर्यचकित रह जाता है। प्रत्येक घटना, स्थिति, मनःस्थिति के समय या उससे पहले संकेतात्मक रूप में लेखक एक न एक प्रतीक प्रस्तुत कर देता है। नामकरण से लेकर चरित्र-सृष्टि, कथा अभिप्राय, दृश्यांकन, संवाद-योजना और मूल संवेदना तक प्रतीकात्मक है।''[12]

इस नाटक में सुंदरी जीवन के भोग-पक्ष या प्रवृत्ति की प्रतीक है और गौतम बुद्ध योग पक्ष यानी निवृत्ति के प्रतीक हैं। और जहां तक नंद की स्थिति की बात है तो वह प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो विपरीत ध्रुवों के बीच निरंतर पिसती हुई द्वंद्वग्रस्त मानव-चेतना का प्रतीक है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. मोहन राकेश का नाट्य साहित्य- डॉ. अनिता, पृष्ठ-91, प्रथम संस्करण-2017, नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
2. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ- 256, 25वां संस्करण-2011, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001
3. लहरों के राजहंस-मोहन राकेश, पृष्ठ-29, संस्करण-2012, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002
4. वही, पृष्ठ-37
5. वही, पृष्ठ-37
6. आजकल पत्रिका- पृष्ठ-26, जनवरी-1979
7. लहरों के राजहंस- मोहन राकेश, पृष्ठ- 40, संस्करण-2013, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002
8. वही, पृष्ठ-59
9. वही, पृष्ठ-60
10. वही, पृष्ठ-46
11. वही, पृष्ठ-102
12. लहरों के राजहंस : विविध आयाम-जयदेव तनेजा, पृष्ठ-70, द्वितीय संस्करण-1977, तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

भावना

21वीं शताब्दी में महिलाएं : अवसर के साथ नई चुनौतियाँ

(Women in 21st Century : Opportunity with New Challenges)

सार

आधुनिकता प्रत्येक समुदाय को अपने अधिकारों के लिए दावा पेश करने का अवसर देती है। मुख्यधारा से अलग रहने वाले अन्य समुदाय जैसे: अश्वेत नस्ल, आदिवासी, किसान, अथवा दलित समुदाय की तरह ही महिलाएं भी अपने आधुनिक अधिकार जैसे: स्वतंत्र, समानता, न्याय के लिए प्रखर दावा पेश करती हैं और परिणामस्वरूप अपने लिए अवसर की नई परिस्थितियों का निर्माण किया है। प्रस्तुत लेख इन्हीं नए अवसरों की प्रकृति तथा इसमें निहित चुनौतियों के अध्ययन पर केन्द्रित होगा। यह समझने का प्रयास किया जायेगा कि वर्तमान (21वीं शताब्दी) में एक तरफ घरेलू और सार्वजानिक क्षेत्र में महिलाओं को अवसर तो उपलब्ध हुए हैं परन्तु, दूसरी तरफ उसी के साथ-साथ अलग-अलग रूप में चुनौतियों का भी सामना करना पड़ा है। परम्परागत पितृसत्तात्मक संरचना आधारित समाज में सामाजिक मूल्यों व नैतिकता के ऐसे मापदंड रहे हैं जिमसे महिलाओं को शोषण का शिकार होना पड़ा है उदाहरण के लिए बाल विवाह, बहुविवाह, सती प्रथा, देवदासी प्रथा इत्यादि ऐसी अनेक सामाजिक मान्यताएं रही हैं। हालांकि आज इन परम्परागत मान्यताओं में बदलाव हुआ है लेकिन महिलाओं के शोषण के अनेक नये तरीकों का इजात किया गया है। जैसे-यौन उत्पीड़न, कार्यस्थल पर शोषण और बलात्कार का मनोवैज्ञानिक भय इत्यादि।

भूमिका

भारतीय परम्परागत समाज अनेक दोषपूर्ण सामाजिक मूल्यों के द्वारा महिलाओं के विरुद्ध शोषण की वैधता को स्थापित करता रहा है। सती प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह, देवदासी प्रथा जैसी अनेक मान्यताएं महिलाओं के विरुद्ध होती रही है। परन्तु, आधुनिकता के आगमन ने इन परम्पराओं को बड़े स्तर पर बदला है। गौरतलब है कि 15वीं-16वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के तहत अनेक वैज्ञानिक खोजों और तार्किक बहस की शुरुआत होती है। इसी क्रम में 18वीं-19वीं शताब्दी के दौरान भारत में भी परम्परागत सामाजिक मान्यताओं पर सवाल खड़े किए जाते हैं परिणामस्वरूप कई आधुनिक मूल्यों और मान्यताओं का जन्म होता है। इन आधुनिक मूल्यों के अनेकों दार्शनिक आधार रहे हैं। व्यक्ति की पहचान उसके सामाजिक समूह के बजाय एक व्यक्ति के रूप में की जाये ऐसी 'व्यक्तिवादी' विचारधारा का जन्म होता है। जिसको माइकल फूको के इस दावे से वैधता प्राप्त होती है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक अस्तित्व है वह केवल एक वैधानिक और कानूनी व्यक्ति ही नहीं होता बल्कि नैतिक व्यक्ति भी होता है।[1] इसी तरह इसाई धर्म की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अंतर आत्मा होती है और उसको अपनी अंतर आत्मा के अनुसार कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए। इसी तरह से जे. एस. मिल. का स्त्री पुरुष समानता का विचार आधुनिकता का आधार बना है। इन तमाम आधुनिक मूल्यों से प्रभावित होकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तथा भारत में भी उपाश्रित समझे जाने वाले समूहों ने अपने आधुनिक अधिकार जैसे: स्वतन्त्रता, समानता, न्याय के लिए अनेक आन्दोलन शुरू किए। इसी क्रम में

महिला आन्दोलन भी अनेक दौर से गुजरते हुए आज महिलाओं के हितों की पूर्ति हेतु मांग करती है।[2] यद्यपि आज महिला आन्दोलन की अनेक विभाजित धाराएँ दिखाई देती हैं लेकिन इनके सामूहिक प्रयासों ने महिला हितों के लिए तमाम सकारात्मक परिस्थितियों को जन्म दिया है। आज महिलाएं न केवल घरेलू कार्यों में बल्कि शिक्षा शोध के क्षेत्र में तथा निजी व सार्वजनिक उद्यमों में भी बड़े पैमाने पर अपनी उपस्थिति दर्ज करती हैं।

पुरातन सामाजिक मान्यताएं एवं महिलाएं

जैसा कि हम उपर चर्चा कर चुके हैं कि भारत में ऐसे तमाम सामाजिक मूल्य व मान्यताएं रही हैं जो महिलाओं के साथ भेदभाव व शोषण का आधार बने हैं। मनु के अनुसार महिला पत्नी एवं माता की भूमिका ही निभाती है। माता होने के कारण, उसका उत्तरदायित्व है कि बच्चे के पालन पोषण एवं विकास के लिए आवश्यक कार्य करे एवं पत्नी होने के कारण, उसकी आवश्यकतानुसार जो जो उत्तरदायित्व है वह उनका पालन करे। विधवाओं के लिए कोई आदर सम्मान नहीं था। उनको सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों से वंचित किया जाता था। यह भी माना जाता था कि विधवा लक्ष्य एवं उद्देश्य पूर्ति करने में एक अवरोध का कार्य करती हैं। वहीं, विधुर के ऊपर ऐसी कोई बंदिशें नहीं थीं। इस्लाम में भी महिला पुजारी नहीं हो सकती थी वहाँ भी महिलाओं को धार्मिक संगठनों में भागीदारी की अनुमति नहीं थी। बौद्ध धर्म में भी, महिला नन की तुलना में पुरुष मोंक का स्तर उच्च होता था।[3] ''ऊमा चक्रवर्ती'' लिखती है कि महिलाओं के शोषण के लिए ब्राह्मणवादी पुरुष सत्ता प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार है और इस सत्ता को हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए मनुस्मृति में ऐसे प्रावधानों पर चर्चा की गयी है जो महिलाओं के विरुद्ध है। कई वैदिक ग्रन्थों और पुराणों में भी ऐसा वर्णन मिलता है। रामचरितमानस में लिखा हुआ यह कथन

''शुद्र गवांर ढोल पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी''

तत्कालीन समय में महिलाओं की स्थिति को दर्शाता है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि पुरातन भारतीय समाज में महिलाओं की दशा हमेशा एक जैसी ही रही है बल्कि समय-समय के साथ यह परिवर्तित होती रही है उदाहरण के लिए–

''यत्य नारेस्य पूज्यते रमन्तेरु तत्र देवता''

अर्थात् जहाँ स्त्रियों को पूजा जाता है वहां देवताओं का वास होता है। जैसे श्लोक महिलाओं की सकारात्मक स्थिति को नही दर्शाते हैं। सती प्रथा एक ऐसी प्रथा रही है जिसमें पति की मृत्यु के बाद हर पत्नी स्वयं को जिन्दा जला लेती थी। बाल विवाह के प्रचलन के परिणामस्वरूप छोटी उम्र से ही महिलाएं शोषण के ऐसे दुष्चक्र में फंसती थी जिससे निकल पाना असम्भव था। महिलाओं को समाज में बराबरी का स्थान प्राप्त नहीं था, उन्हें सदैव एक प्रयोग करने की वस्तु माना जाता था। उन्हें समाज के किसी भी सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक स्तर पर समानता प्राप्त नहीं थी, उन्हें निम्न बलशाली के रूप में ही देखा जाता रहा है। एक तरफ राजा राम मोहन राय ब्रह्म समाज की स्थापना के द्वारा 1828 में पश्चिमी बंगाल के कोलकाता में की गयी। इनके द्वारा जिस आन्दोलन की शुरुआत की गयी उसके कारण समाज में महिलाओं के लिए कई सुधार किये गये जैसे: सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया। इनके द्वारा बाल विवाह की रोकथाम की गयी एवं विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया एवं महिला स्वतंत्रता के लिए कार्य किये गए।[4] दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना 1875 में की गयी। इस समाज के द्वारा जिन आंदोलनों की शुरुआत की गयी उसमे महिलाओं के लिए आवाज उठाई गयी, इनके द्वारा स्त्री शिक्षा पर बल दिया गया तथा बाल विवाह पर रोक लगायी गयी इनके द्वारा महिलाओं के लिए विवाह की आयु 16 से 17 वर्ष निर्धारित की गयी एवं विधवा पुनर्विवाह का भी इनके द्वारा समर्थन किया गया।[5] इन दोनों के द्वारा चलाये गए सामाजिक सुधार आंदोलनों ने तथा दूसरी तरफ औपनिवेशिक शासन के हस्तक्षेप ने इन तमाम सामाजिक बुराइयों को खत्म करने की कोशिश की है।

वर्तमान में शोषण के तरीके

आधुनिकता ने भेदभावकारी उन परम्परागत मूल्यों को बड़े पैमाने पर बदला है जिनका शिकार महिलाएं हुआ करती थीं। चूँकि आज भी सामाजिक मनोविज्ञान में बदलाव नहीं हो पाया है अत: प्रत्येक सामाजिक संस्थाओं की संरचना में पुरुषों के प्रभुत्व एवं महिला की दोयम स्थिति देखी जा रही है। चाहे समाज व परिवार हो अथवा बाजार, प्रत्येक संस्थाओं ने महिलाओं के विरुद्ध कई नए तरीके

इजात किए हैं। आज भी समाज पुरुष को श्रेष्ठ व महिला को कमजोर मानता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक परिवार यह कोशिश करता है कि पैदा होने वाला लड़का हो ना कि लड़की। लड़की होती है तो उसे मरने का पहला प्रयास होगा भ्रूण हत्या, और ऐसा करने हेतु वैज्ञानिक तकनीक का भरपूर प्रयोग किया जाता है।[6]

बाजार ने महिलाओं को सार्वजानिक स्थल में जाने एवं नौकरी करने के तमाम अवसर उत्पन्न किए हैं परन्तु, उसमें निहित अनेक चुनौतियों का भी उद्गम हुआ है। बाजार सिर्फ अवसर की समानता ही उपलब्ध नहीं करता बल्कि भेदभाव भी करता है। उदाहरण के लिए एयर होस्टेस, रिसेप्शनिस्ट डेस्क इत्यादि के लिए केवल उन्हीं महिलाओं का चयन किया जाता है जो शारीरिक रूप से फिट व खूबसूरत होती है तथा फिल्म जगत एवं टेलीविजन विज्ञापनों में भी महिलाओं के शारीरिक अंगों का वस्तुकरण कर दिखाया जाता है। एवं रात के समय की नौकरी करने का चयन नहीं करने दिया जाता साथ ही कुछ कार्य ऐसे होते है जिनमें महिलाओं को पुरुषों से कम वेतन दिया जाता है जैसे मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर में पुरुष औसतन 256.6 रुपये कमाते हैं, जबकि महिलाओं की कमाई सिर्फ 179.8 रुपये है। 29.9% का लैंगिक अंतर देखने को मिलता है।[7] महिलाओं को इन भेदभावों के साथ-साथ अन्य भेदभावों का भी सामना करना पड़ता है। कार्यस्थल पर छेड़छाड़ एवं फिल्म जगत, मीडिया, अथवा उच्च शिक्षा संस्थानों में पद निरन्तरता के एवज में यौन हिंसा की अनेक शिकायतें देखने को मिलती हैं। इन सभी परिस्थितियों ने महिलाओं के लिए सार्वजनिक स्थल पर बलात्कार के मनौवैज्ञानिक भय को उत्पन्न किया है।

इसी तरह महिलाओं को अपमानित करने के लिए नई शब्दावलियों का प्रयोग किया जाता है जैसे वेश्या, रखैल, कुल्टा, तिरिया चरित्र, माल इत्यादि शब्दों का इजाद हुआ है। नई शब्दावलियों के साथ नई क्रियाओं व नए व्यवहारों की भी शुरुआत हुई है जो महिलाओं के लिए घातक है: एसिड अटैक जो कि सामान्यत: युवा पीढ़ी के द्वारा एक तरफ प्यार होने पर उसको हासिल न कर पाने पर उसको नुकसान पहुँचाने के लिए किया जाता है। सामूहिक बलात्कार, अपहरण, हत्या, हिंसा, छेड़छाड़, शोषण इत्यादि ऐसे नए कार्यो का प्रचलन महिलाओं के खिलाफ बढ़ा है।

पितृसत्तात्मकता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव कई सरे क्रियाकलापों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए कोई भी आन्दोलन हो चाहे नक्सलवादी हो, अधिकारों की मांग को लेकर हो, आरक्षण की मांग को लेकर हो, चाहे दंगे व अन्य कोई भी घटना हो उसका सबसे ज्यादा नकारात्मक प्रभाव महिलाओं पर ही होता है जैसे:

- छत्तीसगढ़ में सलवा जुडूम ऑपरेशन के दौरान तमाम मामलों को लेकर दायर की गई एक जनहित याचिका के मुताबिक सलवा जुडूम के सदस्यों ने उस दौरान 99 आदिवासी महिलाओं के साथ बलात्कार किया।
- 29 दिसम्बर 2006 को महाराष्ट्र के खैरलांजी में सुरेख भोत्मारे को गाँव की अंगड़ी जाति के लोगों ने बुरी तरह यौन प्रताड़ना के बाद उनके दो बेटों और बेटियों सहित मार दिया।
- उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर में 26-27 अगस्त 2013 की साम्प्रदायिक हिंसा में महिलाओं का बलात्कार किया गया।[8]

राज्य प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष तरीकों से पितृसत्तात्मक संरचना का अनुसरण करता है क्योंकि ऐसा कई व्यवहार में दिखाई पड़ता है। आज कई क्षेत्रों में देश की आधी आबादी का प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है जैसे: संसद में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की संख्या का कम होना, सेना में महिलाओं की भागीदारी न के बराबर होना एवं निर्णय निर्माण में महिलाओं को न पूछना महिला आरक्षण बिल लागू न कर पाना।

लोकतंत्र में राज्य एक महत्वपूर्ण संस्था होती है। जो कि अपने राज्यों के नागरिकों की सुरक्षा के लिए हर सम्भव प्रयास करती है परन्तु महिलाओं के सन्दर्भ में यह एक मिथ्या के रूप में नजर आता है। एक तरफ परिवार महिलाओं को घर से बाहर जाने की इजाजत नहीं देता दूसरी तरफ खाप पंचायत जैसी संस्थाएं महिलाओं के खिलाफ अनेक फतवे जारी करती है लेकिन राज्य इनके खिलाफ कोई ठोस कार्यवाही नहीं कर पाता है। इन सभी क्रियाकलापों को देखते हुए यह सामने आता है कि या तो राज्य इन सबको चुपचाप देख रहा है या फिर दबे मन से इन सभी परिस्थितियों को बढ़ावा दे रहा है। ऐसे ही अनेक कारण है जिससे हम यह कह सकते हैं कि राज्य की प्रकृति पितृसत्तात्मक है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण से हम यह पाते हैं कि आज भारतीय

समाज में सती प्रथा, बाल विवाह, बहू विवाह जैसे परम्परागत तरीके खत्म हुए हैं लेकिन महिलाओं के शोषण के नये तरीकों का भी इजाद हुआ है दरअसल गौर से देखा जाये तो यह राज्य, समाज और बाजार की मिली-जुली साजिश है जो महिलाओं को समान हैसियत व सम्मान देने के लिए तैयार नहीं है। आज आजादी के 70 साल बाद भी महिलाएं हर क्षेत्र में स्वयं को बंधी हुई पाती हैं। ऐसा माना जाता है कि तार्किकता और विज्ञान प्रत्येक समस्या का हल है लेकिन महिलाओं के खिलाफ यह वैज्ञानिकता अभिशाप बनती है। आज महिलाएं अपनी यौनिक स्वतन्त्रता के लिए पुरुषों की इच्छा एवं उनकी सुविधा पर निर्भर है। उदाहरण के लिए पुरुषों के यौन सुख के लिए आज महिलाओं के विरुद्ध वैज्ञानिक तकनीकों का इजात हुआ है जैसे: यौनिक सर्जरी (hymenoplasty) इसका अच्छा उदाहरण देखने को मिलता है।

PhD Research scholar
Department of Political Science
University of Delhi, Delhi

संदर्भ सूची

1. Foucault, Michel. *Discipline and punish: The birth of the prison.* New York: Vintage Book, 1995.
2. मिल, जॉन स्टुअर्ट. स्त्रियों की पराधीनता, राजकमल, 2002.
3. वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ भारतीय नारी की समस्याओं का विवेचन, साधना सदन प्रयाग, 1944.
4. Mrs. Reddi. S. Muthulakshmi, *Emancipation of women,* The Hindu, 2015, pp12.
5. (https://www.thearyasamaj-org/articles\¾902_Arya_Samaj_and_Women:E2%80%99s_Education%_Kanya_Mahavidyalaya]_ Jalandhar% E2%80%9D n-d-)
6. Chakravarti, Uma. *Conceptualizing Brahmanical Patriarchy in Early India: Gender, Caste, Class and State,* 2013.
7. Gender pay in Indias manufacturing sector touches 30% . 18 Jul, 2017.
8. मनोरमा देवी की याद में, यौन हिंसा और राजकीय दमन के खिलाफ महिलाएं, 2014.

अन्य संदर्भ

- Azad, Rajiv, Gender Discrimination and Indian Perspective- Atlantic, 2014.
- Basile K C, Saltzman L E. "Sexual violence surveillance: uniform definitions and recommended data elements- Atlanta: National Center for Injury Prevention and Control, Centers for Disease Control and Prevention" 2002.
- Chakravart, Uma, and Ujjawal Kumar Singh- Archiving Disquiet: Feminist Praxis and the Nation State- New Delhi: Sage, 2009.
- Foucault, Michel. History of sexuality: An Introduction. New York: Vintage Book, 1990.
- Geetha, V. Patriarchy- Stree, 2007.
- "https://www-thearyasamaj-org/articles\¾902_Arya_Samaj_and_Women%E2%80% 99s_Education%_Kanya_Mahavidyalaya]_ Jalandhar%E2%80%9D."
- Menon, Nivedita. Recovering Subversion, feminist politics beyond the law. Oxford: Permanent Black, 2014.
- Pickul, Francine, Suzanne William, and Coroline Sweetman. *Ending violence against women A challenge for development and humanitarian works.* Oxfam GB, 2001.
- Sarkara, Tanika, and Urvashi Butaliya. *Women and The Hindu Right A Collection Of Essays*. New Delhi: Kali For Women, 1995.
- Wollstonecraft, Mary. *A vindication of the rights of the women.* New York: Penguin, 1792.
- *Women Against Sexual Violence and State Repression] In the Eye of Storm: Women in Jharkhand Facing Opration Greenhut*. India: WSS, 2011.
- मिल, जॉन स्टुअर्ट, स्त्रियों की पराधीनता. राजकमल, 2002.
- वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ भारतीय नारी की समस्याओं का विवेचन, साधना सदन प्रयाग, 1944.

डॉ. योगेश रस्तोगी

हिन्दी रंगमंच और पृथ्वी थिएटर

पृथ्वी थिएटर का इतिहास साठ वर्षों का है। इसमें नाट्य दल का इतिहास लगभग सोलह वर्षों (1944-60) का है। इन सोलह वर्षों में पृथ्वी थिएटर ने भारतीय रंग-परिदृश्य में सक्रिय भागीदारी निभाई है। बावजूद इसके दल की रंग-गतिविधियों और सक्रियता का अध्ययन रंगमंच के इतिहास और विकास के परिप्रेक्ष्य में नहीं किया गया है। आधुनिक हिन्दी रंगमंच के विकास और इतिहास के विभिन्न पड़ावों में पृथ्वी मील का पत्थर है जिसको अनदेखा कर हिन्दी रंगमंच के इतिहास व इसकी विकास यात्रा को सही से जाना व समझा नहीं जा सकता। चूंकि पृथ्वी थिएटर एक व्यक्ति का उद्यम था रंगमंच के लिए किए गए ये प्रयास व्यक्तिगत थे और पृथ्वीराज इस समय जितनी सफलता से रंगमंच का उद्यम संभाले हुए थे वहीं, इसी काल खंड में उतनी ही सफलतापूर्वक सिनेमा में अभिनय कर रहे थे। वे भारतीय सिनेमा के लोकप्रिय अभिनेता थे। रंगमंच के लिए किए गए उनके प्रयासों को फिल्मों से अलग करके देखा जाना चाहिए था लेकिन पृथ्वी थिएटर की रंग-गतिविधियों पर जब भी चर्चा हुई तब उसमें पृथ्वी थिएटर से पहले पृथ्वीराज कपूर का विश्लेषण किया गया और वो भी सिनेमा के अभिनेता के परिप्रेक्ष्य में। अत: वो विश्लेषण तटस्थ न होकर उनकी फिल्मी छवियों से आक्रांत दिखाई देता है। इसी संदर्भ में कुछ विद्वानों ने पृथ्वी थिएटर की स्थापना के कारणों की पड़ताल करने प्रयास भी किया है और उसके अलग-अलग प्रत्यक्ष व परोक्ष कारण गिनाएं हैं। उन कारणों का परीक्षण करके पृथ्वी थिएटर के बनने या इसकी स्थापना के पीछे पृथ्वीराज का क्या उद्देश्य था? उनकी महत्वाकांक्षा ने इसे बनाया या पूर्व निर्धारित योजना का साकार रूप है। इसका विश्लेषण भी किया जाना चाहिए।

कुछ विद्वानों का कहना है कि पृथ्वीराज बचपन से रंगमंच पर सक्रिय थे और वे अपना एक थियेटर बनाना चाहते थे - ''थियेटर का शौक तो बचपन से ही उनके मन में जाग उठा था, जब उन्होंने लड़कपन में ही पारसी थियेटर का एक नाटक देखा था। वह नाटक उनको कदापि अच्छा नहीं लगा। इस घटना ने थियेटर से नहीं बल्कि थियेटर करने के ढंग के विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह उत्पन्न कर दिया। पृथ्वीराज कपूर ने निर्णय कर लिया कि वो थियेटर अवश्य करेंगे जो जीवन से निकट से निकटतम हो, जो प्रत्येक दर्शक को अपने गिरेबान में झांकने पर मजबूर करे। मौजूदा समाज को आईना दिखाये, उसे अपनी त्रुटियाँ सुधारने का अवसर दे। सिर्फ दर्शकों की दिलजोई के लिए थियेटर नहीं करेंगे।''[1]

जबकि कुछ लोगों ने यह तर्क दिया है कि उन्होंने अपने सगे-संबंधियों, परिवार के लोगों व अपने बेटों को फिल्मों में लाने के लिए थियेटर बनाया था - ''थिएटर के संबंध में पृथ्वीराज से एक शिकायत यह भी की जाती थी कि उन्होंने अपने सगे-संबंधियों को जमा कर रखा था। बहुत हद तक उनके बड़े सुपुत्र राज कपूर अपनी स्कूली शिक्षा में बुरी तरह असफल हो रहे थे। उनके लिए फिल्मों में जगह बनाने के लिए उन्होंने थियेटर खोल दिया था।''[2] परन्तु वास्तविकता क्या है? क्या सही में वे नाट्य दल बनाने के इच्छुक थे? क्या पारसी थिएटर के विरोध में

उन्होने ऐसा किया? या परिवार के लोगों को फिल्मों में काम दिलाने के लिए उन्होंने नाट्य दल बनाया था, या कोई और कारण था ये अनसुलझे सवाल हैं। इन सवालों के सही जवाब पृथ्वीराज कपूर से मिल सकते थे। इन प्रश्नों का हल ढूंढते हुए उनका एक भाषण मिला। जहां उन्होंने थिएटर बनने के कारणों का उल्लेख किया है। हालांकि ये बेतरतीब अंश हैं, लेकिन फिर भी इससे क्यों? किसलिए? जैसे सवालों का जवाब खोजने व उनसुलझी गुत्थियों सुलझाने का मार्ग मिल सकता है। साथ ही दल के बनने में कारण व परिस्थितियों का भी सही-सही अंदाजा लगाया जा सकता है।

''यह बात तो यूं चली थी कि जो समस्याएं हैं प्रोड्यूसर की उनपे कुछ विचार किया जाए। तो मैं स्टेज का प्रोड्यूसर नहीं हूँ अब। और जब था, तब भी नहीं था यह बड़ी विचित्र बात है मेरे बारे में बड़ी गलत फहमियाँ हैं वो एक शेर है फैज का कि -

'वो बात जिसका फसाने में कोई जिक्र नहीं
वो बात उनको बहुत नागवार गुजरी।'

भारती जी ने कल कहा था कि पृथ्वी के लिए वो 'पृथ्वी थियेटर्स' बड़ी विचित्र बात है वो नहीं था। मैं तो पकड़ के कान से जिस तरह यहाँ खड़ा कर दिया। मैंने कहा अभी शंभू जी पूछ रहे थे पापा जी कुछ बोलेंगे - मैंने कहा नहीं, तो कान पकड़ के खड़ा कर दिया और अब बोल रहा हूँ थियेटर में भी ऐसे ही हुआ। ...ये चीज वो कल की जरा एक छोटी-सी उनकी गलतफहमी दूर कर देता हूँ, कर देना चाहता हूँ कि थियेटर का आरंभ हुआ कि एक विद्वान था तो... उनका अपमान हुआ तो यूं पृथ्वी थियेटर्स पैदा हो गया, तो बताता हूँ क्यों?

'... 'विक्रम बाई मिलेनियम' वालों ने कहा हमें 'विक्रम कला मंदिर' बनाना है। 'विक्रम कला मंदिर' में हमने पहले शकुंतला खेलना है 'शकुंतला'। मेरे पास पहुंचे कि तुम इसे डॉयरेक्ट करोगे।

...और शायद दुष्यंत का रोल भी करोगे फ्री हमारे लिए, मुफ्त, हो गई बात, जब उन्होंने बहुत जिद की तो हो गई।

...पंडित नारायण प्रसाद 'बेताब' लिखेंगे। वही लोग मुझे उनके पास ले के गए।

पंडित जी ने कहा - कि मैं एक शर्त पे लिखूंगा कि जो लिखा हुआ है। वो तो है और उसके अनुवाद भी बहुत हैं। अगर कहीं नई शैली में नए ढंग में करना चाहते हैं तो कोई बात हो? किस रूप में करना चाहते हो? क्या हिस्सा उसका करना चाहते हो?

बाद में संस्था ने तय किया कि ... तो हम उनके पास agreement से बनवाएंगे, ऐसा agreement उनके पास भिजवाया।

... वो थे बड़े उदार और बड़े स्वतंत्र बिल्कुल यानि वो सत्तर बरस की उम्र हो चुकी थी।

..तो उन्होंने, मैं जब गया उनके पास, ये Agreement जा चुका था। लाल लकीरें मारी हुई थीं उन्होंने, तो कहने लगे कि कोई भिखारी भी नहीं लिखेगा इन terms पे, जो terms इन्होंने लिखीं हैं कि ये डॉयलाग सुनेंगे, ये पास करेंगे। इनकी कमेटी कहकर... मैं इनके लिए नहीं लिखूंगा। उठा के यूं पटक दिया। कहने लगे पृथ्वी मुझे बड़ा अफसोस है, मैं तुम्हें बहुत प्यार करता हूँ लेकिन ये नहीं, ये ले जाओ। उनका भी एक आदमी साथ गया था। अब समस्या खड़ी हो गई मुझे आके कहने लगे 'हम किसी और से लिखवा लेंगे।

'... यूं मैंने कहा अच्छा फिर ये इसे काल के गर्भ में दे दीजिए, बात जो उत्पन्न हो उसमें। मैंने कहा कल बात करेंगे। वो रात मैं घूमता रहा वो जनवरी 14 की रात थी और घूमता रहा मेरी बीवी ने मुझे कहा भी, क्या है? मैंने कहा - कुछ नहीं मैं बाहर घर से चला गया नंगे पाँव गली में निकल गया ऊपर एक मैदान-सा है कुछ Garden है घूमता हुआ दो बजे रात आया तो उसने मुझे कहा कि क्या हुआ? मैंने कहा कि थियेटर निकला उस गर्भ में से, मैं अपना करूंगा फिर बेताब जी लिखेंगे शो।

उनको दूंगा जो इनके पैसे।''[3] श्री पृथ्वीराज कपूर ने इस भाषण में बताया है कि उन्होंने परिस्थितिवश थियेटर बनाया था। पारसी थिएटर के विरोध वाली बात और परिवार के लोगों को फिल्मों में सेट करने वाला तर्क यहाँ खारिज हो जाता है। नाट्य दल बनाने की उनकी अपनी न कोई योजना थी और न इच्छा। उन्होंने भाषण में साफ-साफ कहा है कि जैसे इस सभा में उनके मना करने के बावजूद या इच्छा न होते हुए भी लोगों के आग्रह पर या जबरदस्ती उन्हें मंच पर भाषण के लिए आना पड़ा, ऐसे ही थियेटर करने के लिए भी वे अपनी मर्जी से नहीं बल्कि उन्हें लोगों के आग्रह पर तैयार होना पड़ा था अन्यथा वे तो फिल्मों में खुश थे। पृथ्वीराज कपूर के इस भाषण में

नाटड दल बनाने का कारण स्पष्ट हो गया है कि 1944 में रंगमंच पर वापस लौटने का कारण विक्रम बाई मिलेनियम था। उनके आग्रह पर वे इसमें पहले केवल बतौर निर्देशक शामिल थे बाद में मुख्य पात्र का अभिनय भी करने वाले थे।

आयोजक संस्था और बेताब जी के बीच पैसे लेन-देन से उत्पन्न हुए विवाद ने इस नाटक की प्रस्तुति की संभावना को अब पूर्ण विराम लगा दिया था ये सब सत्य और स्पष्ट है। लेकिन नाट्य दल के गठन के पीछे जो अदृश्य कारण रहे उनकी भी पड़ताल की जा सकती है। इसमें पहला कारण पृथ्वीराज कपूर के स्कूल, कॉलेज में रंग-अभिनय की अविस्मरणीय अनुभव थे। दूसरा सिनेमा में अभिनय के बाद पृथ्वीराज रंगमंच जैसे जीवंत कला माध्यम व सिनेमा के अपने व्यापक अनुभवों से इन दोनों माध्यमों के कलात्मक अंतर, सीमा और क्षमता को करीब से जानने समझने लगे थे। अत: उनके रंगमंच के अभिनय की जीवंत, अनूठी व प्राणवान सुखद अनुभूतियों की मधुर स्मृतियाँ ने संभवत: इस निमंत्रण में एक अवसर दिखा। संस्था के प्रस्ताव ने इस अनुभव को फिर जीने का अनुकूल अवसर दिया।

अगर ऐसा न होता तो उस समय उनके पास फिल्मों के बहुत से प्रोजेक्ट्स थे वे उन्हें पूरा करते। लेकिन वे इस नाटक की प्रस्तुति को टालकर निर्देशन व अभिनय के दायित्वों से मुक्त होने के बजाय नाट्य दल बना लेते हैं और 'शकुंतला' की प्रस्तुति के लिए तत्परता से काम करते हैं। उनकी रंगमंच के प्रति यह प्रतिबद्धता, तत्परता आद्यंत बनी रही। रंगमंच के प्रति मोह उनमें था लेकिन नाट्य दल बनाने की योजना नहीं दिखाई दी। इसके प्रमाण हमारे सामने हैं। जब हम उन्हें पहली बार सन् 1932 में फिल्मों को अलविदा कर थियेटर करने के लिए एंडर्सन के साथ जाते हुए देखते हैं। और दोबारा सन् 1944-60 सोलह वर्षों तक पृथ्वी थिएटर में सक्रियता के साथ-साथ वे फिल्मों में भी व्यस्त हैं। राज्यसभा के दो बार मनोनीत सदस्य का कार्यकाल पूरा कर रहे हैं वहाँ अधिवेशनों व बहस-मुबाहिसों में शिरकत कर रहे हैं। आवाज साथ नहीं दे रही, डॉयलाग बोलने में तो परेशानी थी ही, बातचीत करना भी दुभर हो रहा था। ऐसे में गिरते स्वास्थ्य के बावजूद 'लोगों के आग्रह पर शुरू किए थियेटर को चलाया' में विरोधाभास नजर आता है। क्योंकि वे केवल शकुंतला 1945 नाटक करके नाट्य दल को बंद कर सकते थे। लेकिन गिरते स्वास्थ्य, इतनी व्यस्तता, आर्थिक क्षति, कर्ज का बढ़ता बोझ सहते हुए कोई व्यक्ति बिना अपनी इच्छा के किसी काम को इतने लंबे समय तक नहीं करता या कर सकता है। इसमें पक्का उनकी अपनी इच्छा भी शामिल थी।

पृथ्वीराज को ऐसा महसूस होने लगा था कि रंगमंच में जन सम्बोधन की अपार क्षमता तो है ही, साथ ही अपने समय व समाज को आईना दिखाने की अद्‌भुत शक्ति भी है। यह कला माध्यम न केवल बहुत थोड़े समय में दृश्यों के माध्यम से किसी समस्या विशेष को उठाकर उसके कारण और समाधन सुझा सकता है, बल्कि समाज को अपनी गलतियों को सुधारने के लिए प्रेरित करने की असीम संभावनाएं भी इस विधा में है। इस सबको अच्छे से जानने, समझने और अपने अंदर के कलाकार की आंतरिक छटपटाहट को शांत करने के लिए पृथ्वीराज कपूर बार-बार रंगमंच की ओर लौटते हैं। अत: सिर्फ दर्शकों के मनोरंजन के लिए उन्होंने थियेटर जैसे सशक्त माध्यम को नहीं अपनाया। उन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों में इतने कष्ट सहते हुए पृथ्वी थियेटर्स को चलाया। इसमें उनकी महत्वाकांक्षा या कोई पूर्व निर्धारित योजना न होकर केवल अच्छा रंगमंच करने व बनाने की इच्छा रही है। अत: जो आक्षेप या तर्क इस दल के निर्माण के संबंध में लोगों ने दिये हैं उन्हें खारिज करने की जरूरत है।

इनके दल द्वारा किए गए प्रयासों का आधुनिक हिन्दी रंग-परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि 1944 में जब नाट्य दल बना तब तक आधुनिक भारतीय रंग-परिदृश्य पर पिछले सात दशकों से एकछत्र काबिज रही व्यावसायिक पारसी थिएटर कंपनियों का अवसान हो चुका था। पहला यदि रंगमंच की परंपरा का अन्वेषन करें तो हम पाते हैं कि भारत में इस रंगमंच की पृष्ठभूमि में सबसे प्राचीन संस्कृत रंगमंच की समृद्ध परंपरा और विविध धार्मिक लोक नाट्य रूप की एक शृंखला मिलती है। लेकिन पारसी रंगमंच जन्म व जीवन के लिए संस्कृत व लोक पर निर्भर नहीं था। बल्कि इसके बनने व फलने-फूलने में अंग्रेजों का ही प्रभाव थ। जैसे अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद उनके साहित्य के प्रचार-प्रसार ने आधुनिक भारतीय साहित्य में नई विधाओं के अनेक विकल्प पैदा किए। वैसे ही जब अपनी रूचि

के अनुरूप मनोरंजन के साधनों का यहाँ प्रबंधन उन्होंने शुरू किया, तो रंगमंच स्थापित हुआ। उन्होंने सबसे पहले कलकत्ता में रंगमंच की शुरुआत की। और जैसे-जैसे भारत में उनका वर्चस्व बढ़ा, वैसे-वैसे उनका रंगमंच भी विस्तार पाने लगा। केवल इनके प्रभाव से हिन्दी में व्यावसायिक पारसी रंगमंच की शुरुआत हुई। शुरू-शुरू में पारसियों ने शौकिया तौर पर अंग्रेजी नाटकों को खेला था बाद में यहाँ गुजराती, उर्दू नाटक भी खेले जाने लगे। कालान्तर में इन उर्दू नाटकों का स्थान हिन्दी नाटकों ने ले लिया और ऐसे शौकिया तौर पर शुरू किए गए उद्यम ने धीरे-धीरे व्यवसाय का रूप ले लिया। ऐसा सिलसिला शुरू हुआ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में सैंकड़ों व्यावसायिक रंगमंडलियों के बनने और मिटने का।

व्यावसायिक पारसी रंगमंच की शुरुआत के विषय में डॉ. विद्यावती लक्ष्मणराव नम्र ने लिखा है कि- ''अपने युवकों की बिगड़ती तंदुरुस्ती सुधारने के लिए पारसियों ने एक 'व्याख्यामशाला मण्डली' बनायी। आर्थिक दृष्टि से इसे मजूबत बनाने के लिए कुछ नाटक भी खेले। सन् 1862 से 1867 तक इस मण्डली ने व्यायामशाला की देख-रेख की। सन् 1867 ने 'कैखशरू काबराजी' इस मण्डली के मुखिया नियुक्त हुए। कावराजी ने अन्य नाटक टोलियों के सहकार से इसी सन् में व्यायामशाला के लाभार्थ 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' अभिनीत किया। दो नाटक होने पर प्रश्न पैदा हुआ कि मण्डली चालू रखी जाए या बन्द कर दी जाए। 'फरामजी गुस्तादजी दलाल उर्फ फलुघुस का मण्डली चालू रखने का आग्रह था, क्योंकि उनकी 'जेन्टलमैन्स एमेच्युअर्स' तभी बन्द हुई थी' काबरा जी मण्डली का अस्तित्व चाहते थे। इस समय बम्बई में कम्पनियों की बड़ी आवश्यकता थी अतएव काबरा जी की सम्मति को सभी ने मान दिया और वे योजना में पूरी तरह से तल्लीन हो गए। अब यह व्यायामशाला मण्डली एमेच्युअर न रहकर एक व्यावसायिक मण्डली के रूप में जनता के सामने आई।''[4] पहली व्यावसायिक पारसी मण्डली से हिन्दुस्तानी व्यवसायिक रंगमंच की शुरुआत हुई। बाद में भारत के अनेक राज्यों और नगरों में इस मण्डली ने अपने नाटक प्रदर्शित किए। यही वह प्रस्थान बिन्दु था जिससे पारसी व्यावसायिक रंगमंच सकार होकर आकार लेने लगा।

पारसी थिएटर कंपनियों के मालिक पारसी थे। वे थे तो भारतीयय मगर व्यापारी थे। तो उन्हें थिएटर में भी व्यवसाय, व्यापार का विकल्प दिखाई देने लगा। उन्हें व्यवसाय को सफल बनाने के लिए ऐसे नाटकों की आवश्यकता महसूस होने लगी थी जो अधिक से अधिक दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। ऐसा करने के लिए इन्होंने ऐसे नाटकों का चुनाव किया। जिनमें गीत-संगीत, नृत्य-प्रहसन, तड़क-भड़क, शोखी-शरारत, छेड़-छाड़, बाजारू प्रेम, साहसिक कार्यों, षड्यन्त्रों, दैव घटनाओं तथा संयोगों का फार्मूला सामान्य था। ये ऐसे विषय थे जो सामान्य दर्शक की पहली पसंद थे। श्रीकृष्ण दास ने लिखा है कि - ''नाटक को चुनने में उनका ध्यान सदैव यही रहता था कि अमुक नाटक जानता में लोकप्रिय होकर अधिक से अधिक धनोपार्जन करा सकेगा या नहीं और उनके नाटक में अन्य कम्पनियों की अपेक्षा कोई ऐसा चमत्कार है या नहीं जिसके कारण जनता उसकी ओर अधिक आकर्षित हो। इस चमत्कार में भी एक विचित्र मनोवांछा रहती। चमत्कार उन्हें नाटक के प्लॉट, उसकी भाषा अथवा रस भावना के सम्बन्ध में भी अभीष्ट नहीं थी उनका अभिप्राय चमत्कार से दृश्य-दृश्यान्तर, रंगमंच की ऊपरी चटक-मटक और वेशभूषा की नवीनता में ही सन्निहित रहता था साधारण पर्दे के साथ कटे परदे या टूटने वाले पर्दे और टेबल इसी का परिणाम थे उन्हें इस बात को देखने की इच्छा नहीं थी कि दृश्य-दृश्यान्तर गति, समय और स्थान, समन्वय के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। उन्हें तो केवल अपनी दर्शक मण्डली में आश्चर्य उत्पन्न करने और इस प्रकार उन्हें अपना ग्राहक बनाए रखने की धुन सवार थी।''[5] इस चमत्कारिकता ने दर्शकों का हुजूम इकट्ठा किया। व्यापार सफल हुआ, व्यापारी सफल हुआ। मगर इसमें जो असफल हो रहा था वो था रंगमच। यानि इस पूरे उद्यम में, इस पूरे क्रिया-व्यापार में रंगमंच ही अनदेखा हो गया था या यो कहें कि इरादतन अनदेखा कर दिया गया था।

पारसियों को थिएटर बनाने का विचार अंग्रेजों के प्रभाव से आया। इसके बावजूद इन पर भारतीय रंग-परंपरा (संस्कृत व लोक नाट्य) का प्रभाव दिखाई देता है। प्रसिद्ध रंगकर्मी हबीब तनवीर इस प्रभाव को विस्तार से बताते हैं - ''यह विभिन्न परस्पर विरोधी प्रभाव का नतीजा है जैसे रंगी हुई सीनरी और पर्दों की विशेष शैली

का उपयोग विक्टोरिया के जमाने के अंग्रेजी रंगमंच की देन है। नाटकों के शुरू में शास्त्रीय संगीत की धुन पर कोरस के गाने संस्कृत रंगमंच से आये हैं। अतिनाटक के साथ प्रहसन का एक अलग कथानक चलाना लोकनाट्य का ढंग है। इस तरह पारसी थियेटर में संस्कृत नाटक, नौटंकी, फ्रांस का ऑपेरा और इंग्लैंड का पुराना रंगमंच सबकी झलक पायी जाती है।''[6] पारसी थियेटर शुद्ध व्यावसायिक थियेटर था उसकी शैली बहुत से अलग-अलग प्रभावों से निर्मित हुई थी इसमें अंग्रेजी ड्रामा कम था लेकिन भारत का लोकरंग और दर्शक जुटाने वाले तत्व प्रमुखता से विद्यमान था अत: हिन्दी का अपना शुरुआती रंगमंच केवल व्यवसाय था। ऐसा व्यवसाय जिसमें स्पर्धा थी दर्शक को टिकट खिड़की तक खींच लाने की, पैसा बनाने की। उन्हें रंगमंच, साहित्य और यहां तक कि समाज से भी कोई सरोकार नहीं था। जिसके चलते इन्होंने एकदम सतही विषयों का चुनाव कर उन्हें छिछले स्तर पर प्रदर्शित किया। वे यहाँ फारसी प्रेमकथा, अंग्रेजी रोमांचकारी नाटकों के अनुवाद खेले रहे थे बाद में पुराण, महाभारत, रामायण जैसे धार्मिक विषयों पर नाटक होने लगे। इन्होंने शहर-शहर घूमकर नाटक प्रस्तुत किए।

पारसी थिएटर अपने अवसान (1940 के आस-पास) तक ऐसा ही कर रहा था। पृथ्वी थिएटर की पृष्ठभूमि में मुख्य रूप से यही रंगमंच था। इसके अलावा अव्यवसायिक रंगमंच, पारसी रंगमंच के विरोध में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के प्रयासो से आकार लेने लगा था परंतु उनके असमय देहांत ने रंगमंच में दिखाई दे रही संभावनाओं पर विराम लगा दिया। तो आधुनिक हिन्दी रंगमंच के नाम पर पृथ्वी थिएटर से पहले पारसी थिएटर ही सक्रिय था। और पारसी थिएटर कैसा था? ये भी यहाँ स्पष्ट हुआ है।

पृथ्वी थिएटर के अपने जीवन काल (1944-60) में ही सरकारी व गैर सरकारी स्तर पर संस्कृति, साहित्य व कला माध्यम के उद्धार के प्रयास आजादी के बाद शुरू हो चुके थे। संगीत नाटक अकादमी (1953), साहित्य अकादमी, ललित कला अकादमी (1954) केंद्र सरकार की पहल का परिणाम थीं। राज्य सरकारों ने भी राज्य स्तर पर ये कार्य शुरू किए। अकादमियों ने साहित्य, संगीत, नाटक तथा अन्य सभी कला माध्यमों के संरक्षण, संवर्धन के लिए योजनाबद्ध, चरणबद्ध तरीके से कार्य शुरू किए। इनकी योजनाएँ फलीभूत हुई हैं। पिछले छह दशक में इन क्षेत्रों में हुआ कार्य इसका प्रमाण है। आजादी के बाद की इस पहल से पहले और पारसी रंगमंच के अवसान के बीच के दशक में रंगमंच की सक्रियता का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि पूरे भारत में पृथ्वी थियेटर ही एकमात्र नाट्य दल था जो पूरे मनोयोग से यह कार्य कर रहा था। केवल बंबई में नहीं पूरे भारत में, अपने पूरे दल के साथ नाटकों की प्रस्तुति कर रहा था। उसके लिए चुनौतीपूर्ण था एक तो उसे पारसी थिएटर के नाटकों को देखने के अभ्यस्त दर्शकों को रंगमंच से जोड़ना था दूसरा उसका दो दशकों से दर्शकों के लिए कौतूहल व आकर्षण का केंद्र बने सिनेमा से भी मुकाबला होने वाला था। क्योंकि सिनेमा ही पारसी थिएटर के धूमिल होने का एकमात्र कारण था। जब इतने लोकप्रिय पारसी थिएटर का अस्तित्व सिनेमा के आगे नहीं बच पाया। तो नए दल को बनाने और उसे बचाए रखने में जोखिम कम नहीं था। इस जोखिम के साथ पृथ्वी थिएटर ने न केवल अपने अस्तित्व की रक्षा की वरन भारत के 112 स्थानों पर जाकर रंग-अभियान चलाया। अपनी एक अलग पहचान बनाई। इससे भी महत्वपूर्ण कार्य उसने पारसी के बंद होने और अकादमियों के प्रयास से शुरू हुए रंग-कार्य के बीच की अवधि में रंगमंच पर छाए सन्नाटे में उत्सव-सी स्थितियाँ बनाने के रूप में किया है। जो एक व्यक्ति का अपने दल के साथ रंगमंच के लिए किया गया अभूतपूर्व कार्य है। और हिन्दी रंगमंच के विकास में किया गया महत्वपूर्ण योगदान।

सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
लेडी श्री राम कॉलेज फॉर वुमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, योगराज टंडन, पृ. 74-75
2. वही, पृ. 74-75
3. भाषण श्री पृथ्वीराज कपूर
4. हिन्दी रंगमंच और प. नारायण प्रसाद बेताब, डॉ. विद्यावाती लक्ष्मणराव नम्र, पृ. 43
5. हमारी नाट्य परंपरा, श्रीकृष्णदास, पारसी रंगमंच, पृ. 33
6. नटरंग, अंक-9, पारसी थिएटर के नाटक: आज के वातावरण में, हबीब तनवीर, पृ. 9

संगीता

जम्मू-कश्मीर : साझा संस्कृति और विरासत

सुरम्य स्थली कश्मीर, धरती पर प्रकृति का संपूर्ण सौंदर्य स्वर्ग समान है, इसके लिए जितनी उपमाएँ, अलंकार तराशे जाये कम ही पड़ेंगे। कश्मीर सदियों से विद्या का केन्द्र तथा संस्कृत वाङ्मय के अनेक विद्वानों की जन्मस्थली व कार्यस्थली रहा है, जिसके कारण कश्मीर को भारत का सिरमौर कहा जाता है। यह पुण्य धरा है, यह देव स्थली है, तप और साधना की धरती है। विद्या, कला, साहित्य, संस्कृति की अनमोल धरोहर को यह सदियों से अपने आँचल में संजोए हुए है। गगन से बात करती गगनमुखी हिममंडित शैल शिखाएँ हैं। गले का हार बनकर अमृत बहाने वाली नदियाँ, सुन्दर झीलें और सरोवर, विशाल हरे-भरे खेत खलिहान, मैदान इसकी प्राकृतिक संपदा का गौरवगान करते हैं। फारसी का एक मशहूर शेर लालकिले के दीवाने खास में कश्मीर की कल्पना करके लिखा गया और इसकी नकल हरिपुर (हज़ारा), पाकिस्तान के किले के मुख्य द्वार पर आज भी अंकित है – "अगर फिरदौस बरुए जमीनस्त, हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त"।[1]

अर्थात् – अगर इस धरा पर कहीं स्वर्ग है तो यही है, यही है, यही है।

भारतवर्ष विभिन्न संस्कृति तथा धर्म को मानने वाला देश है। यहाँ की बोली, भाषा, खान-पान, रीति-परंपरायें, रहन-सहन, पहनावा आदि सदा ही अन्य देशों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कश्मीर क्षेत्र अपनी कुछ अलग ही सांस्कृतिक विशेषताओं से सुसज्जित है। इसका मुख्य कारण इसकी भौगोलिक स्थिति है। यह पृथ्वी तल से लगभग 10 हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित पहाड़ों से घिरा घाटियों वाला कश्मीर, एक ठंडा प्रदेश है। कश्मीर अपने प्राकृतिक सुषमा के कारण सदैव सम्पूर्ण विश्व के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। कश्मीर एक अहिन्दी भाषी राज्य है जिसके कारण वहाँ का कश्मीरी पहली जुबान में कह देता है कि क्या आप हिन्दुस्तानी हैं। पुरानी पीढ़ी का कश्मीरी प्रत्येक भारतीय को कश्मीर से अलग समझता है। आज के समय में थोड़ी बहुत हिन्दी प्रत्येक कश्मीरी जानता व समझता है। कश्मीर की सांस्कृतिक ख्याति उतनी ही समृद्ध है, जितनी उसकी प्राकृतिक सुषमा।

कश्मीर के प्राचीन इतिहास को जानने का मुख्य स्रोत कल्हण की महाकाव्यात्मक ऐतिहासिक इतिवृत्त 'राजतरंगिणी' है। इसकी रचना सन् 1148-50 में हुई। जहाँ एक ओर कश्मीर के सम्पूर्ण प्राचीन काल पर प्रकाश डालती है, वहीं दूसरी ओर यह आठवीं सदी से लेकर बाद की अवधि तक की घटनाओं तथा सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का सटीक और व्यापक विवरण प्रस्तुत करती है। कथा सतीसर तथा नील पुराण में भी कश्मीर का व्यापक वर्णन है। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में अर्जुन के प्रपौत्र और महाराजा परीक्षित के पुत्र हरनदेव को यहाँ का शासक बताया है। मौर्यकाल में यह अपनी अद्भुत छटा को निखारता हुआ विश्वप्रसिद्ध स्थल बन गया, देवस्थल बन गया। हजारों भवन बनवाये गये, सैकड़ों विहार, स्तूपों का निर्माण हुआ। यहीं से बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार, लद्दाख, तिब्बत और अफगानिस्तान तक जा पहुँचा। श्रीनगरी के

नाम से राजधानी की स्थापना हुई जो बाद में महाराज प्रवरसेन के नाम से पहले और बाद में श्रीनगर नाम से विख्यात हो गया।

कश्मीर की वितस्ता नदी नाग संस्कृति की वाहिनी है जो कि शिव तथा पार्वती का सूक्ष्म रूप धारण करके कश्मीर की समृद्धि को बढ़ाती है। इस नदी के गर्भ में असंख्य इतिहास गुप्त रूप से पड़े हैं। इसी के तट पर कश्मीर के लोकजीवन की अनेक संस्कृतियाँ प्रतिबिम्बत होती है। भारतीय संस्कृति में नदियों की पवित्रता का विशेष महत्त्व है। 'सप्त सिंधु' यानि सात नदियों का क्षेत्र। ये सात नदियाँ जिस पूरे क्षेत्र को निर्मित करती हैं, उसे ही कश्मीर मंडल के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके केन्द्र में वितस्ता है। एक तरफ सरस्वती, तो दूसरी तरफ सिंधु है। सिंधु और सरस्वती के बीच के क्षेत्र को भारत में ज्ञान परंपरा और सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इरावती को रावी, वितस्ता को झेलम, विपाशा को व्यास, देविका जो रावी की एक सहायक नदी है, कुहु यानि काबुल नदी, गोमती जिसे कहीं-कहीं गोमेल और कहीं 'गोमती' कहा जाता है, शतद्रू जो आज सतलुज, चन्द्रभागा जिसे आज चिनाब के रूप में जानते हैं और सरस्वती जिसे लुप्त नदी के रूप में जाना जाता है, का जिक्र कश्मीर के साहित्य में मिलता है। वितस्ता नदी अपनी प्राचीनता और पवित्रता के लिए भारतवर्ष में जानी जाती है। नीलमत पुराण में 60 नदियों के वर्णन में सर्वप्रथम वितस्ता नदी क वर्णन आया है तथा नीलनाग की पुत्री होने के कारण यह नीलजा नाम से भी विख्यात है। इसकी चर्चा कल्हण ने भी की है -

उद्द्धैतस्तीनः स्यन्दण्ड कुण्डातपत्रिणा।
यत सर्वनागाधीश नीलेनपरिपाल्यते॥[2]

प्राकृतिक रचनाओं में जब देवता को देखने की बात होती है, तो कश्मीर का सांस्कृतिक केन्द्र, मध्यमान बिन्दु 'वितस्ता नदी' की ही चर्चा दिखाई देती है।

कश्मीर के समस्त तीर्थ-स्थानों में संस्कृत और संस्कृति की प्राचीन झलक देखने को मिलती है। अमरनाथ, वैरीनाग, अवंतीपुर, अनंतनाग, कुक्कड़नाग, मटन (मार्तंड) इच्छाबल, गंधरबल, खीरभवानी आदि कश्मीर के कण-कण में हिन्दू संस्कृति की गौरवमयी अभिव्यक्ति और जीवन दर्शन के प्रभाव को व्यापक स्तर पर देखा जा सकता है। वितस्ता के तट पर बने तीर्थस्थानों, मंदिरों से यह अनुमान लगता है कि कश्मीर वर्णन वास्तव में पृथ्वी का स्वर्ग था। कश्मीर का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो तीर्थ न कहा जा सके -

तिलांशोऽपि न यत्रास्ति पृथव्यास्तीर्थेवहियकृतेः।[3]

कश्मीर के प्रत्येक छोर पर हिन्दू, बौद्ध और आर्य संस्कृति की अनुपम छटा रही है। समूचे जम्मू-कश्मीर, लद्दाख के प्रत्येक भू-भाग पर भव्य मंदिर, देवस्थान, स्तूप व विहार दिखाई देते हैं। कृष्ण, राम-सीता, लक्ष्मी-नारायण, महावीर, गणेश, बुद्ध आदि की गाथाएँ सर्वत्र गाई जाती हैं। हिन्दू संस्कृति का व्यापक प्रभाव सर्वत्र जीवन की मान्यताओं और विचारों पर रहा। पर्वत श्रृंखलाएँ हरमुख, हरमहेश, कृष्णगिरी, शंकराचार्य, हरिपर्वत, श्रीनाग, भैरवघाटी, अमरनाथ, शारदा की पहाड़ियाँ कश्मीरी संस्कृति का व्यापक परिचय देती है।

जम्मू-कश्मीर की पावन धरा पर अनेकानेक संत, पीर, फकीर तथा आध्यात्मिक शक्तियों का उद्भव हुआ। लालदैत के अलौकिक आध्यात्मिकता से ओतप्रोत काव्य ने अपने आप में अद्वितीय योगदान द्वारा कश्मीरी मानस के चिंतन के स्तर को निखारा, उनकी रचनाएँ साहित्य की श्रेष्ठ कोटि में आती है। हब्बा खातून का काव्य तो जन-जन का काव्य है। उनके काव्य में सौंदर्यबोध, संवेदनाएँ, बाहर का उल्लास तथा भीतर की पीड़ा को गहराई से उकेरा है -

हिम मंडित शैल शिखर है, हर उपवन हरा-भरा है,
जिसकी सरिताओं जलाशयों में सर्वत्र अमृत ही भरा है।
सुन्दर रंग निखारे नित्य शोभा जिस तस्वीर की,
प्रेम भक्ति के गीत सुनाएँ पवनें यहाँ कश्मीर की।[4]

कश्मीर में चाय की सबसे भिन्न प्रथा है। कश्मीरी चाय को 'काशिर चाय', 'आसाम चाय' और 'कहवा' कहा जाता है। यह सुबह की नमाज के बाद सभी पीते हैं। कश्मीर का मुख्य भोजन मांस और चावल है। इसका मुख्य कारण ठण्डा प्रदेश होना है। कश्मीर का 'बाणवान' विश्व में प्रसिद्ध है, यहाँ मुख्यतः कश्मीरी भेड़ें और बकरे का सेवन अधिक होता है। मांस के साथ सब्जियाँ भी प्रयोग में लायी जाती हैं, जिसमें 'गांठ गोभी' विशेष है जो हर मौसम में उपलब्ध हो जाती है। कश्मीरी वेशभूषा अरब देशों से मिलती-जुलती है जो कि भारत के अन्य राज्यों से बिल्कुल अलग है। महिलायें सलवार-सूट के ऊपर बुर्का पहनती हैं। पुरुष पठानी सूट तथा सिर पर टोपी पहनते हैं

व सभी दाढ़ी रखते हैं। कांगड़ी कश्मीर की लोककला का सुन्दर नमूना है। डल झील की सिवार घास से चटाइयाँ, टोकरियाँ, कुर्सियाँ आदि वस्तुएँ बनाई जाती हैं, जो कश्मीर की कला का सुन्दरतम रूप है। शाल, कम्बल, फिरन के गले आदि पर चाँदी के धागे से बने फूल बार्डर आदि कश्मीरी कला के नमूने हैं।

कश्मीर के सौंदर्य को निखारने और पर्यटन को और अधिक प्रोत्साहित करने में मुगल बादशाहों के कला-प्रेम और उनके प्रयासों की प्रशंसा सभी इतिहासकारों ने मुक्त कंठ से की है। नूरजहाँ, जहाँगीर तथा शाहजहाँ आदि मुगल शासकों ने शालीमार, निशातबाग, नूरीछंब, चश्मे शाही जैसे सुन्दर स्थानों के मनोहारी निर्माण के द्वारा, यहाँ के सौंदर्य को निखारा, स्थापत्य कला, मूर्तिशिल्प आदि क्षेत्रों में विलक्षण विकास हुए। कश्मीर की प्राचीनकला का एक सुन्दर नमूना चरखा है इसमें लोइयाँ बनाई जाती हैं। यहाँ के मकान बहुत ही शानदार व आलीशान बनाये जाते हैं। अधिकांश मकान दो मंजिला होते हैं, इसमें लकड़ी का प्रयोग अधिक होता है। कश्मीर में प्राचीन संस्कृति के परिचायक तांगे हैं जो अभी भी दिखाई दे जाते हैं। घाटी में मांझियों का जीवन सबसे अलग है। डूंग/किश्ती ही उनके जीवन का सहारा है। कश्मीर में लोकगीत अत्यधिक प्रचलित है। लोकगीत गाते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे वेदपाठी ब्राह्मण यजुर्वेद का पाठ कर रहा हो। ये लोकगीत धार्मिक कार्यक्रमों, त्योहारों पर गाये जाते हैं। कश्मीरी पंडितों में यज्ञोपवीत संस्कार जो कि प्राचीन काल से चला आ रहा है, उसे बड़े धूम-धाम से वैदिक पद्धति से मनाया जाता है।

प्रत्याभिज्ञा दर्शन कश्मीर का दर्शन माना जाता है। इसे शैव दर्शन तथा त्रिक दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। कश्मीर का क्षेत्र होने के कारण कश्मीरी शैव दर्शन भी कहा जाता है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार शैव धर्म का प्रचार कश्मीर के सम्राट अशोक से पूर्व था और आगे चलकर विभिन्न राजाओं के संरक्षण में यह पुष्पित और पल्लवित हुआ। आज इस समय अद्वैत शैव दर्शन का प्रचार कश्मीर में है जो कि प्राचीन काल से पाशुपत शैव धर्म पर आधारित था। अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में इसका विस्तृत वर्णन किया है।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने 'संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास' नामक अपनी पुस्तक में प्राचीन कवियों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "प्रकृति के रमणीक अंचल में बसा हुआ कश्मीर देश की सांस्कृतिक गतिविधियों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देता रहा है। कश्मीर विशेष रूप से ज्ञान-विज्ञान के संवर्धन तथा संरक्षण का केन्द्र रहा है। प्राचीन कवियों चिंतकों तथा दार्शनिकों द्वारा कश्मीर को विद्या का केन्द्र कहा गया है। राजा अवन्तिवर्मन, ललितादित्य तथा हर्षवर्द्धन ने कश्मीर में कला और साहित्य को बढ़ावा देते हुए कश्मीर का मान बढ़ाया। काव्यशास्त्र तथा शैव दर्शन को कश्मीर का अद्वितीय योगदान मिला। कश्मीर में वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्मन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट जैसे संस्कृत के अप्रतिम काव्यशास्त्री उत्पन्न हुए।"[5] कालक्रम के प्रभाव से आज कश्मीर वह कश्मीर नहीं रहा, तीर्थ-स्थानों को तोड़-फोड़ दिया। आज जो शेष है उनमें से अधिकांश बंद रहते हैं, खुले मंदिर सेना की देखरेख में है। कश्मीर की पूर्व संस्कृति और आज की संस्कृति में जमीन-आसमान का अंतर है। आज कश्मीर के अधिकांश लोग मुस्लिम धर्मानुयायी हो गये हैं, शेष हिन्दू धर्मावलम्बी आंतकवाद के डर से घाटी छोड़कर अन्य स्थानों पर चले गये। 1707-08 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद, मुगल दरबार में आंतरिक कलह ने कलुषित रूप धारण कर लिया। मुगल सरदारों की विलासिता, अनाचार और षड्यंत्रों ने अराजकता और अस्थिरता उत्पन्न की। ऐसे ही अवसर का लाभ उठाकर अफगानी पठानों ने अहमदशाह दुर्रानी के नेतृत्व में कश्मीर पर आधिपत्य स्थापित किया। यहाँ ही संस्कृति और धार्मिक आस्थाओं के भवन और प्रतीक नष्ट किए गये। हर प्रकार का अत्याचार व दुराचार किया गया। 60 वर्षों के शासनकाल में पठानों ने बलात् धर्मांतरण करवाये, जिन हिन्दुओं ने मना किया उन्हें बोरों में बंद करके डल झील में फिकवा दिया गया या फांसी पर चढ़वा दिया गया। वे हथियारों से काट दिये गये। डल झील के पास आज भी कश्मीरी पंडितों की बट्-मज्जार है। जहाँ बोरों में भरकर उन्हें डल झील में फेंक दिया जाता था।

कश्मीर के इतिहास को यदि भारत के इतिहास के साथ-साथ देखा गया होता तो आर्यो के आक्रमण के सिद्धांत के लिए कोई जगह नहीं बचती, क्योंकि मानव जाति के इतिहास के प्रारंभ से ही कश्मीर में पूरी दुनिया से मनुष्यों के आने-जाने का इतिहास मिलता है। अब

सिंधु न होती तो हिन्दू न होता, सिंधु न होती तो हिन्दुस्तान न होता। इस सिंधु नदी की उद्गम भूमि कश्मीर है। वस्तुतः कश्मीर की संस्कृति भारत की संस्कृति है।

कश्मीर की अद्वितीय प्राकृतिक छटा में निहित नैसर्गिक सामंजस्य का विदेशी तत्त्वों पर काफी प्रभाव पड़ा। जिससे वे कश्मीर के समृद्ध सांस्कृतिक परिवेश में समाहित हो गये और उसी तरह कश्मीरी विचारक तथा लेखक फ़ारसी साहित्य में आकृष्ट होकर उसी भाषा में लिखने लगे, कश्मीरी व्यवहारिक रूप से बोलचाल की भाषा रह गई और शारदा लिपि का प्रचलन धीरे-धीरे कम हो गया। कश्मीरी एक संगीतात्मक भाषा है क्योंकि इसमें स्वर की मात्राएँ अधिक होती हैं और कठोर व्यंजनों के अविकसित होने के बावजूद भाषा की मधुरता शुरू से ही कम है। गीतप्रेमी लोगों के द्वारा याद्दाश्त में दर्ज कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाते हुए कविताओं को संरक्षित किया गया। अपने आप में अनियमित और असंतुलित होने के बावजूद कश्मीरी भाषा के विकास को आने वाले पृष्ठों में मध्ययुग से आप तक कवि एवं लेखक अपनी रचनाओं में लेकर आये।

"कश्मीर की संस्कृति अर्थात् भारत की संस्कृति। हिन्दू धर्म की वैदिक परंपरा में ही नहीं, अपितु भारतीय धर्म साधना की बौद्ध एवं जैन धर्म की जो समानांतर भारतीय धाराएँ हैं, उनमें कश्मीर का विशेष महत्त्व है। चीनी यात्री ह्वेनसांग, जिसने कश्मीर की पूरी यात्रा की थी और जिसने नालंदा के साथ-साथ कश्मीर में भी अध्ययन किया था, जिस काल में वह लिख रहा था, उसका कहना है कि उस समय 500 से अधिक बौद्ध विद्वान कश्मीर में थे, जिन्हें पूरी दुनिया ने बौद्ध अध्येताओं के रूप में जाना।"[6]

निष्कर्ष

संस्कृति, सभ्यता, राजनीति, इतिहास, कृषि, चिकित्सा, विज्ञान और तकनीक - यानी सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान परंपरा में जम्मू-कश्मीर का अवदान अमूल्य है। अपनी इन विशेषताओं के आधार पर जम्मू-कश्मीर अनादिकाल से लेकर आज तक भारत माँ के शीश के रूप में जाना जाता रहा है। कश्मीर की यह पावन तथा अनुपम प्राकृतिक छटा बिखेरने वाली धरती आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक उपलब्धियों की गरिमा के कारण प्राचीन काल से लेकर इस युग तक आज भी कवियों की कल्पना और इतिहासकारों की लेखनी का विषय बनती रही है। इस प्रकार कश्मीर भूमि के संस्कृत आचार्यों की रचनाएँ, एक विश्व शांति का संदेश देने वाली रचनाएँ हैं। यह ज्ञान हम सभी को होना चाहिए। जड़ता की सभ्यता के विरुद्ध ज्ञानात्मक समाज एवं मूल्यात्मक विज्ञान की प्रतिपण है। भारत की महान स्थापत्य-वास्तु-शास्त्रीय परंपरा का प्रारंभ होता हुआ कहीं से दिखाई देता है तो वह जम्मू-कश्मीर है।

शोधार्थी, पीएच.डी.
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल- sangeetathaku369@gmail.com

संदर्भ सूची

1. कश्मीर की आचार्य परंपरा और शैव दर्शन - डॉ. रीता तिवारी, प्रथम संस्करण-2016, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-110007, पृष्ठ-10.
2. वही, पृष्ठ 11.
3. वही, पृष्ठ 13.
4. खोया हुआ कश्मीर (इतिहास के दर्पण में) - विजय गुप्त, प्रथम संस्करण-2008, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-110092, पृष्ठ 34.
5. वही, पृष्ठ 35.
6. जम्मू-कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध - रजनीश कुमार शुक्ल, बहुवचन पत्रिका, प्रभात प्रकाशन, अंक-64-65-66, जनवरी-सितम्बर-2020, पृष्ठ 9.

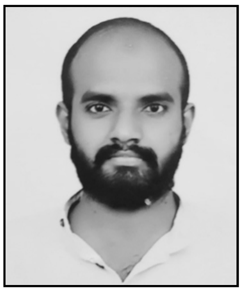

अमन सिंह

सामाजिक सरोकारों के परिप्रेक्ष्य में सुलगता हुआ शहर की कविताएँ

''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है।'' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की निम्न पंक्तियों की प्रासंगिकता का अनुभव हमें समय-समय पर देखने को मिल जाता है। सतीश खनगवाल के कविता संग्रह ''सुलगता हुआ शहर'' को पढ़ते समय यह पंक्तियां और अधिक प्रासंगिक हो जाती है। चार खण्डों में विभक्त इस कविता संग्रह से हमें पता चलता है कि कवि के सामाजिक सरोकार बहुत गहरे और गंभीर है। कवि अपने देश, समाज, सभ्यता और संस्कृति से बहुत प्यार करता हैं। जब वह देखता है कि उसका देश और समाज विसंगतियों में जी रहा है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर पर असमानताएँ बढ़ती जा रही हैं। विसंगतियाँ और असमानताएँ विभिन्न समस्याओं को जन्म दे रही है, तो कवि में रोष उत्पन्न होता है। कवि का यह रोष केवल कवि का रोष नहीं है अपितु यह प्रत्येक आम आदमी का रोष है। कवि को लगता है कि इस देश का हर व्यक्ति अंदर ही अंदर सुलग रहा है। इसलिए कवि ने संग्रह का शीर्षक ही ''सुलगता हुआ शहर'' रखा है।

सर्वप्रथम तो संग्रह का शीर्षक ही ध्यानाकर्षण करता है। शीर्षक से ही संग्रह के प्रति जिज्ञासा बहुत अधिक बढ़ जाती है। आखिर कौनसा शहर सुलग रहा है? क्यों सुलग रहा है? इस शहर को किसने सुलगाया? आदि-आदि प्रश्न पाठक के मन में उभरते हैं। जब पाठक संग्रह की कविताओं से रूबरू होना शुरू होता है तो उसे अपने सवालों का जवाब मिलता जाता है। कवि की दृष्टि समाज के हर पहलू पर बहुत पैनी है। कवि अतीत से वर्तमान तक जिन परिस्थितियों को देखते हुए आए हैं, उन सभी दृश्यों एवं उनसे जुड़े भावों तथा संवेदनाओं को कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। आधुनिक समाज और साहित्य जिन विमर्शों पर टिका हुआ है। यह कविता संग्रह उन विमर्शों को एक नई चेतना से भरने वाला है।

सम्पूर्ण संग्रह का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि नारी के प्रति कवि की संवेदनाएँ बहुत गहरी हैं। वह उनके अधिकारों और संघर्षों के प्रति बहुत सचेत है। इसलिए संग्रह के पहले खण्ड का नाम उन्होंने 'स्त्री-चेतना' रखा है। इस छोटे खण्ड में केवल पाँच कविताएँ क्रमशः हे द्रोपदी, कन्या भ्रूण की इच्छा, बेटी को शिक्षा, ओ मेरी नन्ही परी और पत्नी संकलित है, जो स्त्री-विमर्श के सशक्तिकरण पर बल देती है। इन कविताओं में पौराणिक संदर्भो से लेकर वर्तमान के अनेक चित्रों के माध्यम से कवि ने नारी को जागृत करने और समाज को एक दिशा देने का प्रयास किया है। मैथिली शरण गुप्त की इतिहास प्रसिद्ध पंक्तियों 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आंचल में है दूध और आंखों में है पानी' से कवि बिल्कुल असहमत है। वह नारी को अबला या विवश नहीं मानता। कवि सम्पूर्ण नारी जाति को अपने अधिकारों के प्रति संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति सचेत करता है।

जब-जब नारी अपने सशक्त रूप में सामने आती है पुरुष प्रधान समाज द्वारा उसका दमन किया जाता है।

भारतीय इतिहास भी ऐसे घटनाक्रमों से भरा पड़ा है और वर्तमान भी। आजकल जिस तरह से स्त्रियों के प्रति अपराध बढ़ रहे हैं और कदम-कदम पर स्त्रियां पितृसत्तात्मक अत्याचारों का शिकार हो रही हैं, उन अपराधों और अत्याचारों का प्रतिकार करती हुई कविता है 'हे द्रोपदी', जिसमें महाभारत की द्रोपदी को प्रतीक बनाकर कवि स्त्रियों को अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए संघर्ष करने का आह्वान करता है...

''करनी होगी तुझे
तेरी रक्षा स्वयं
प्रश्न है तेरे अस्तित्व का
प्रश्न है तेरी अस्मिता का
गरज उठो
सिहंनी की तरह
टूट पड़ो
बिजली की तरह।''[1]

कितनी विचित्र बात है कि हमारे देश में स्त्री को देवी का दर्जा प्राप्त है और उसे शक्ति का प्रतीक माना जाता है किंतु जैसे ही पता चलता है कि गर्भ में बेटी पल रही है तो उसे गर्भ में ही समाप्त करने के उपक्रम किये जाते हैं। इतिहास से लेकर वर्तमान तक यह प्रवृत्ति जारी है। बल्कि पढ़े-लिखे सभ्य समाज में यह प्रवृत्ति अधिक दिखाई दे रही है। जिस देश के प्रधानमंत्री को 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' का आह्वान करना पड़े, उस देश में नारी की सामाजिक स्थिति का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। जिस कन्या भ्रूण की हत्या कर दी जाती है शायद उसकी भी कुछ इच्छा होती होगी। 'कन्या भ्रूण की इच्छा' कविता ऐसे ही कुछ मार्मिक मनोभावों को समेटती कविता है, जो स्त्री को स्वयं जागृत होने और स्वयं मजबूत बनने की प्रेरणा देती है। कविता समाज की उस रूढ़िवादी सोच पर चोट करती हैं जो आज भी लड़कियों को जन्म लेने तक का अधिकार नहीं दे पाये है। 'बेटी को शिक्षा' कविता हर उस मां-बाप की चिंता को उजागर करती है जो अपनी बेटी के घर से बाहर निकलने पर उसके घर आ जाने तक गंभीर चिंता मे डूबे रहते हैं। एक ही कविता की दो परिस्थितियां देखिए। पहली परिस्थिति में कवि जहां बेटियों को धैर्य और आत्मविश्वास बनाए रखने की शिक्षा देता है वहीं दूसरी परिस्थिति में संकट के समय आतताई पर टूट पड़ने की बात भी करता है -

''कुछ इशारे
देखने पड़ सकते हैं तुम्हें
कुछ बदजुबानियां
सुननी पड़ सकती है तुम्हें
किंतु नजर अंदाज कर देना
सब कुछ
चलते जाना अपने मार्ग पर
बढ़ते जाना अपने मार्ग पर''[2]

* * * * *

''किंतु कोई दुराचारी
कोई अत्याचारी
प्रयत्न करे
इससे आगे बढ़ने का
तो
'बन कर टूट पड़ना
बिजली
तुम्हारी गर्जना से
काँप जानी चाहिए
चारों दिशाएं।''3

'ओ मेरी नन्ही परी' कविता बेटी के जन्म पर पिता की खुशी और बेटी के पहले स्पर्श से हुई अनुभूति को उजागर करती है। कविता की विशेषता यह है कि जहां समाज में सब बेटे की इच्छा रखते हैं वहीं कवि बेटी की इच्छा रखता है। कवि बताता है कि वह बेटी के जन्म से पहले ही उसका नामकरण भी कर चुका है।

इस खंड की अंतिम कविता 'पत्नी' दाम्पत्य जीवन की उष्णता और मधुरता से भरी हुई है। मोहनदास नैमिशराय ने इस पुस्तक की भूमिका में 'पत्नी' कविता के लिए लिखा है कि 'इस कविता में बिम्ब भी है और प्रतीक भी। शब्दों के भीतर काव्यात्मक सौंदर्य उभरता है, जो युवा कवि को वरिष्ठ कवियों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देता है। पत्नी के प्रति अगाध प्रेम और सम्मान की पंक्तियां दृष्टव्य है -

''रात्रिकाल
देख गंभीर मुझे
कहती है
चिंता मत करो
हो जाएगा सब ठीक
और फिर

फैलाकर बाहुपाश
समेट लेती है
अपने सीने में मुझे।''[4]

इस खंड की कविताओं को देखने पर पता चल जाता है कि कवि स्त्री की अस्मिता, अस्तित्व और अधिकारों के संघर्ष में स्त्रियों के पक्ष में तथा पितृसत्तात्मक समाज के खिलाफ खड़ा है। कवि प्रतीकों के माध्यम से स्त्रियों में एक नए उत्साह का संचार करता है। संघर्ष के लिए उनका आह्वान करता दिखाई देता है, जिसको हम निम्न पंक्तियों के माध्यम से समझ सकते हैं-

''अब छू ना पाए
कोई दुशासन केश तेरे
कर दो दुर्योधन के
मंसूबों को तार तार
अब समय नहीं है
प्रतीक्षा करने का
यह समय है हुंकार भरने का।''[5]

कविता संग्रह का द्वितीय खंड 'सामाजिक यथार्थ' हमें सामाजिक सरोकारों से जोड़ने का कार्य करता है। वर्तमान समय में सम्पूर्ण भारतीय समाज जिन परिस्थितियों से जूझ रहा है उसकी अनुगूंज हमें इस कविता संग्रह में देखने को मिलती है। कवि की दृष्टि यथार्थवादी है और कवि समाज के हर पहलू पर खुल कर बात करता है। इस खंड की प्रत्येक कविता समाज के किसी ना किसी पहलू को चित्रित करती है और विसंगतियों पर प्रश्न करती है। कवि शहर की आपाधापी से लेकर ग्रामीण आंचल में हुए परिवर्तन, जीवन में हुए परिवर्तन, गरीबी, भुखमरी, भ्रष्टाचार, सामाजिक रूढ़ियों तथा आडम्बरों पर बात करते हुए दिखाई देता है और शीर्षक कविता 'सुलगता हुआ शहर' इन सबका प्रतिनिधित्व करती है। इस कविता के माध्यम से कवि सामाजिक सरोकारों से जुड़े उन सभी प्रश्नों को उठाने का प्रयास करता है जिससे सम्पूर्ण समाज ग्रसित हैं। निम्न पंक्तियां आम आदमी के जीवन संघर्ष को पूरी तरह परिभाषित करती हुई दिखाई देती है -

''आज जल रहा था
आम आदमी
गंदी राजनीति
मंहगाई और भ्रष्टाचार
भू-माफिया और प्रशासन
के विरुद्ध''[6]

गैर-बराबरी भारतीय समाज व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी है। अन्य देशों में जहां यह अमीर-गरीब के रूप में मिलती है। वहीं भारत में अमीर-गरीब के अलावा यह धार्मिक स्तर पर, जातीय स्तर पर, लैंगिक स्तर पर है। आखिर इस व्यवस्था को बनाए रखने वाले धूर्त कौन है? इसके पीछे उनका निहित उद्देश्य क्या है? सुलगता हुआ संग्रह की कविताएँ इसकी केवल पड़ताल ही नहीं करती अपितु इस सामाजिक व्यवस्था का विध्वंस करना चाहती है। गैर-बराबरी का एक भयावह दृश्य निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है -

''एक गंदी कच्ची बस्ती
और उसके वे भूखे नंगे
आदमी, औरतें और बच्चे
गलियों से निकलकर आते हैं
और फिर उस
नगर निगम के कूड़ेदान पर
होता है महाभारत
और इस महाभारत में शामिल होते हैं
इंसानों के साथ कुत्तें, सुअर
और अन्य जानवर भी।''[7]

वर्तमान समय में जहां चारों ओर समस्याओं का अम्बार लगा है और लोग इनके बोझ तले मरते जा रहे हैं वहीं लोगों का मौन कवि को चुभता है। कवि हैरान है कि लोग प्रश्न क्यों नहीं उठाते। कवि को समाज मुर्दा नजर आता है इसीलिए 'एक प्रश्न' कविता में मुर्दा ही प्रश्न उठाता है -

''बीच सड़क पर पड़ा
उसका मुर्दा शरीर
एक प्रश्न करता है
क्या इस शहर में
कोई इंसान बसता है?''[8]

कहा जाता है कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है। सुलगता हुआ शहर का कवि जितना शहरी है उतना ही ग्रामीण भी। अपने गांव के माध्यम वह ग्रामीण जन-जीवन में आ रहे परिवर्तनों को बहुत बारीकी से चित्रित करता है। कवि परिवर्तन को अनिवार्य मानता है परंतु जहाँ सकारात्मक परिवर्तन का पक्षधर है वही वह विनाश की ओर ले जाने वाले परिवर्तन का विरोध भी करता है। जिस प्रकार से

आजकल गांवों में विकास की इबारत लिखी जा रही है उससे कवि असंतुष्ट दिखाई देता है। क्योंकि इस प्रकार से गांव अपनी पहचान खत्म करके शहरों के पिछलग्गू होते जा रहे हैं। गांवों के प्रति कवि के भाव सराहनीय है–

''दस वर्ष में हुआ
गांव का
विकास भरपूर
शरीर सारा चमक गया
परंतु आत्मा
चूर-चूर।''[9]

अक्सर माना जाता है कि साहित्यकार आम व्यक्ति से कुछ हटकर होता है। परंतु कवि का मानना है कि आम व्यक्ति और कवि में कोई विशेष फर्क नहीं होता। 'कवि और आम व्यक्ति' में कवि ने यही बताने का प्रयास किया है कि जो दुख, दर्द और जीवन–संघर्ष एक आम व्यक्ति का होता है वही अनुभूति कवि की भी होती है। इस खण्ड की कविताओं में कवि प्रकृति के लिए भी चिंतित दिखाई देता है। वह नकारात्मक बदलावों के प्रति चेतावनी देता है अधिकाधिक पेड़ लगाने पर बल देता है। 'पेड़' कविता बड़ी ही भावनात्मक है जिसमें स्वयं पेड़ यह संदेश देते हुए है प्रार्थना करता है कि पेड़ है तो मनुष्य है अतः पेड़ों को नहीं काटना चाहिए। इस संदर्भ में बुजुर्ग एक मार्मिक अभिव्यक्ति है जिसमें पेड़ और बुजुर्ग दोनों की साम्यता, त्याग और समर्पण को चित्रित किया है। पंक्तियाँ दृष्टव्य है–

''माना, नहीं दे सकते
अब तुम्हें
फल, फूल और रस
किंतु अभी भी
हमारी छाल
शायद आ जाए
तुम्हारे कुछ काम।''[10]

कविता संग्रह का यह खंड कई मायनों में समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि समाज में फैले नकारात्मक परिवेश में सकारात्मकता को खोजने का प्रयास कवि के व्यापक दृष्टिकोण को दिखलाता है। कवि ने बड़ी ही कुशलता के साथ अपनी सभ्यता, संस्कृति के प्रति अपनत्व को दर्शाया है। कवि इन कविताओं के माध्यम से समाज के प्रत्येक वर्ग को सकारात्मक दिशा और दशा देने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं।

साहित्य का कार्य सत्ता को बदलना नहीं होता है अपितु उसके चरित्र को बदलना है। कवि सत्ता और समाज को रूढ़ियों और आडम्बर से मुक्त कर उसमें राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करना चाहता हैं क्योंकि कवि को राष्ट्रीय अस्मिता की चिंता है। स्वाधीनता के पूर्व कवियों ने समाज में राष्ट्रीय चेतना का प्रचार प्रसार किया किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् कवियों की दृष्टि इस मूल चेतना से हट गई और कवि केवल सामाजिक सरोकारों से ही जुड़े किंतु यह कविता संग्रह हमें राष्ट्रीय सरोकारों से भी जोड़ता है। कविता संग्रह का तृतीय खण्ड ''राष्ट्रीयता का स्वर'' और चतुर्थ खण्ड ''राजनीतिक व्यंग्य'' समाज में राष्ट्रीय चेतना का प्रचार प्रसार करने वाला है। पहचान कौन? कविता के माध्यम से कवि भारतीय लोकतंत्र की खो चुकी अस्मिता को दर्शाते हैं। स्वतंत्रता से पूर्व हम जिन भावों, विचारों, सपनों को संजोए हुए थे और गांधी के सपनों का भारत का सपना देख रहे थे किंतु वर्तमान समय में वह सपना कहीं खो गया है तथा हम पहचान नहीं पा रहे हैं कि हम क्या थे, क्या है और क्या होंगे। किस तरह हमारे देश के लोकतांत्रिक संरचना का परिवर्तन हो रहा है इसका उदाहरण निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है –

''धीरे-धीरे हुआ परिवर्तन
और मेरे देश का
लोकतंत्र
बदल रहा है
राजतंत्र में।''[11]

वर्तमान समय में राष्ट्र जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है और जिन चुनौतियों का उसे सामना करना पड़ रहा है कवि उन परिस्थितियों व चुनौतियों से भली–भांति परिचित हैं। आज देश जातिवाद, आतंकवाद, महंगाई, गरीबी, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता से ग्रसित है इन सब बातों की ओर कवि इशारा करते हुए कहते हैं–

''नक्सली राष्ट्र
तोड़ रहे हैं
अंधेरे की ओर
मोड़ रहे हैं
विदेशियों से तार
जोड़ रहे हैं
मेरे देश में।''[12]

साहित्य ने सदा ही राजनीति को दिशा दिखाने का कार्य किया है और राजनीति को एक व्यापक दृष्टिकोण दिया है। इस कविता संग्रह में भी कवि ने अपने व्यंग्यात्मक शैली से सत्ता और समाज को एक नई दिशा दी है। इनके व्यंग्य बहुत तीखे हैं जो सीधे उस भ्रष्टाचारी तंत्र पर हमला करते हैं जिससे समाज में सकारात्मकता आ सके। वर्तमान समय में हम मीडिया के ऊपर तमाम आरोप प्रत्यारोप सुनते हैं कवि ने बड़ी ही कुशलता से मीडिया को समझाने का प्रयास किया है और उसकी वास्तविक को निम्न पंक्तियां के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है...

''मीडिया का तंत्र
न जाने कैसा मंत्र
हर कदम षड्यंत्र
विवश हैं लोकतंत्र।''[13]

इस प्रकार चार खण्डों में संकलित 35 कविताओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि देश और समाज की प्रत्येक परिस्थितियों एवं समस्याओं पर कवि ने अपनी धारधार कलम चलाई है। कविताओं में कवि का सामाजिक चिंतन और दर्शन पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। सुलगता हुआ शहर कविता संग्रह सामाजिक सरोकारों से परिपूर्ण है। कवि समाज में उपेक्षित, शोषित एवं वंचित वर्ग के प्रति संवेदनशील तथा अंत्योदय की चेतना से प्रभावित है। वह समाज को रूढ़ियों से मुक्त कर उसे नई दिशा देने का प्रयास करते हैं। और समाज में राष्ट्रीय चेतना का प्रचार प्रसार करते हैं। इस कविता संग्रह की भाषा बहुत सरल सहज एवं प्रभावशाली है। कवि बड़ी आसानी से अपनी बात करते हुए दिखाई देते हैं किन्तु कवि के व्यंग्य बहुत तीखे हैं और वह सत्ता और समाज के ठेकेदारों को चुभने वाले हैं। यह कविता संग्रह वर्तमान समय में समाज में एक उत्साह भरने वाला है और उसकी दशा और दिशा को बदलने वाला है। संग्रह को पढ़ते हुए अनायास ही नागार्जुन की कविताएं चेतन में उभरने लगती है।

शोधार्थी (पीएच.डी.), हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
Email : amansingh86856@gmail.com

संदर्भ सूची

1. सुलगता हुआ शहर, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 15
2. वही, पृष्ठ संख्या 20
3. वही, पृष्ठ संख्या 21
4. वही, पृष्ठ संख्या 27
5. वही, पृष्ठ संख्या 16
6. वही, पृष्ठ संख्या 40
7. वही, पृष्ठ संख्या 30
8. वही, पृष्ठ संख्या 34
9. वही, पृष्ठ संख्या 27
10. वही, पृष्ठ संख्या 53
11. वही, पृष्ठ संख्या 76
12. वही, पृष्ठ संख्या 81
13. वही, पृष्ठ संख्या 13

शोध-पत्र

आंवा : भारतीय नारीवादी युगबोध का दस्तावेज

कुमारी रंजना

भारतीय जनजागरण काल से ही स्त्री दशा-सुधार के आंदोलनों ने जोर पकड़ा और भारतीय साहित्य में स्त्री पक्षधरता संबंधी साहित्य की पर्याप्त मात्रा में रचना हुई। स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में भी नारी-जागृति पर बड़ा बल रहा, जिसकी छाया साहित्य में स्पष्टतः देखी जा सकती है। भारतीय साहित्य में नारी को उसको अपने पूरे वजूद में, पूरी तरह से स्त्री के स्वाभाविक रूप में, अपने अस्तित्व के पूरे अहसास के साथ प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास प्रगतिशील आंदोलन के आरंभिक वर्षों में ही 'इस्मत चुगताई' की 'अंगारे' में प्रकाशित प्रख्यात उर्दू कहानी 'लिहाफ़' के द्वारा हुआ जो स्त्री को अपनी कामनाओं के साथ जीने, अपनी स्वतंत्रता को पूरी तरह से हासिल करने की हसरत को पूरा करने का साक्ष्य बनकर प्रस्तुत होती है। इसी क्रम में कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी', मृदुला गर्ग का 'चित्तकोबरा', अमृता प्रीतम का 'रसीदी टिकट' प्रमुख पड़ाव साबित हुए। उसका सरावगी, अनामिका, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया, गीतांजली श्री आदि लेखिकाओं ने नारीवादी दृष्टि से हिन्दी कथा साहित्य को संपन्न बनाने का कार्य किया। चित्रा मुद्गल का 'आंवा' उपन्यास इसी भारतीय नारीवादी दृष्टि को सशक्त बनाता प्रमुख दस्तावेज है।[1]

हमारे देश में स्त्री को राष्ट्र के आजाद नागरिक के रूप में देखने की जगह पितृसत्ता के पारिवारिक ढाँचे में देखने की दृष्टि अधिक छायी रही है। हिन्दी पट्टी में पितृसत्ता का दबदबा ज्यादा है, क्योंकि यहाँ सुधारवाद का अक्षर बहुत कम रहा। इसीलिए महादेवी वर्मा का 'सीमन द बुआ' के 'The Second Sex' (1951) के पहले शृंखला की कड़ियाँ (1942) लिखना एक गहरा अर्थ रखता है। उन्होंने आजादी के साथ-साथ लैंगिक समानता की वकालत की। यह काम उन्होंने उपनवेशवाद और धार्मिक-सांस्कृतिक वर्जनाओं से टकराते हुए किया। इसी कारण आजादी के साथ-साथ स्त्री-मुक्ति के विचार को साहित्य में प्रमुखता मिलती गई।[2]

स्त्री जब उपन्यास लिखती है, उपन्यास में स्त्री की आवाज होती है। वह अपनी नजर से राष्ट्र, आधुनिकता और बुद्धिवाद को देखती है। स्त्री के उपन्यास में बाहरी दुनिया के अलावा स्त्री का अपना खास परिवेश और अनुभव होता है। स्त्री के सामने पितृसत्ता के अलावा उपनिवेशवाद से जन्मी समस्याएं भी हैं। यह भी सोचने की बात है कि महादेवी वर्मा के बाद जितनी बड़ी कतार स्त्री साहित्यकारों की खड़ी होनी चाहिए थी, नहीं हो सकी। पितृसत्ता स्त्री के लिए सामने खड़े सिर्फ पति या पिता का नाम नहीं है, यह काफी बड़ा धार्मिक, सांस्कृतिक और बाजारवादी नेटवर्क है। यह केवल देह की स्वतंत्रता और स्वच्छन्द जीवन इच्छाओं से जुड़ा मामला नहीं है।

अमेरिका में स्त्री अध्ययन का पहला केन्द्र 1970 के दशक में खुला था, भारत में 21वीं सदी में। यह केन्द्र अब भारत के हर बड़े नगर तक पहुँचा है। स्त्रियाँ अब इतिहास, शाश्वत मूल्य, परिवार के पितृसत्तात्मक ढाँचे से विद्रोह करके दरअसल एक बुनियादी सवाल उठा रही हैं—इतिहास, संस्कृति और समाज में हमारी जगह कहाँ है? मोहक स्मृतियों, शहरी चकाचौंध, आधुनिकतावादी दुविधाओं

से बाहर निकलकर स्त्री लेखिकाएँ स्त्री-स्वाधीनता से आगे स्त्री अधिकारों के मुद्दे उठाने लगी हैं। यह स्त्रियों का ही संघर्ष था जिसके दबाव में संयुक्त राष्ट्र संघ ने वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था की 'प्रतीक सेवा' के रूप में 1975 को 'अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष' घोषित किया था। 'प्रतीक सेवा' का अर्थ है मुख्य धारा के सीमान्त पर रहने वाले समुदायों की पीड़ा की ओर ध्यानाकर्षण। इसी तरह 8 मार्च का अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस धीरे-धीरे स्त्रियों के आत्मविश्वास, स्वाभिमान और जागरण का पर्व हो गया।[3]

वर्तमान स्थितियों में उपन्यास न परम्परागत किस्म के यथार्थवादी चरित्रों का चित्र बन सकता है और न स्त्री के अकेलेपन की दार्शनिक बिम्बमाला। खासकर स्त्री रचनाकारों की जो नयी कतार वैश्वीकरण के दौर में आई है, उसने अपनी उपस्थिति का पहली बार गहरा अहसास कराया है। उसके इरादे भिन्न हैं। औपन्यासिक तकनीक भिन्न है, भाषा भिन्न है। स्त्री की भाषा न तो अब मौन और संकेतों की भाषा है, न ही सुरक्षात्मक। वह स्त्री प्रतीक सेवाओं से संतुष्ट नहीं है। यह स्वाभाविक है कि साहित्यिक भाषा जब विमर्श की भाषा होगी तो उसमें स्थानीयता होगी, उत्तेजना होगी और भाषिक स्खलन भी होंगे। निश्चय ही विमर्श की भाषा से यह उम्मीद करना कि यह एक सुसंगठित साहित्यिक आंदोलन की भाषा की तरह नपी-तुली हो या आधुनिक साहित्यिक रचनाकारों की भाषा की तरह संभ्रान्त हो, गलत है। इसका कारण यह है कि वर्तमान वैश्वीकरण के समय में स्त्री के बल पर ही उपभोक्ता संसार का इतना विशाल स्वरूप खड़ा किया गया है कि स्त्री स्वतंत्रता के नाम पर स्त्री-शोषण आरम्भ हो गया है। फैशन और कामुकता और स्त्री-आत्मनिर्भरता की बात आज पुरुष वर्चस्व के ही रूप नजर आते हैं। व्यावसायिक दुनिया में सत्ता, शिक्षा, व्यापार, कूटनीति और अन्तरराष्ट्रीय संबंधों में स्त्री देह का इस्तेमाल हमें सोचने पर विवश कर रहा है।[4]

नारीवाद का भारतीय रूप तो यह होगा कि स्त्री को उसकी सम्पूर्ण गरिमा, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता के साथ शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक आत्मनिर्भरता, इच्छित जीवन की व्यवस्था हो। समाज, संस्कृति और राजनीतिक व्यवस्था में समान भागीदारी हो। परिवार, व्यवसाय, संबंधों और चयन में स्त्री के प्रति हीनताबोध या नकारात्मकता की समाप्ति हो। स्वतंत्रता के साथ गरिमापूर्ण जीवन और सुरक्षात्मक परिस्थितियों की व्यवस्था हो। खासकर पुरुषवादी नजरिए में बदलाव हो जो स्त्री को केवल उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है। यदि प्राचीन समय के अतिशय वर्जनाओं के कारण आज स्त्री मुक्ति की बात हो रही है तो वर्तमान समय के स्वच्छन्दतावादी शोषण से भी स्त्री मुक्ति की बात होनी चाहिए। चित्रा मुद्गल का 'आंवा' उपन्यास इसी भारतीय नारीवादी दृष्टि को पुष्ट करता है।

ऊपरी तौर पर यह उपन्यास श्रमिक राजनीति पर लिखा गया उपन्यास लगता है लेकिन गहराई में जाएँ तो हर जगह स्त्री विमर्श की छाया मंडराती नजर आती है। 'आंवा' की नायिका नमिता पांडे कामगार अघाड़ी में ट्रेड यूनियन का काम करने वाले मजदूर नेता देवीशंकर पाण्डे की बेटी है जो एक श्रमिक आंदोलन में हुए जानलेवा हमले में बच तो गए, लेकिन पक्षाघात के शिकार हो गए। उनकी पत्नी क्रूर और कर्कश है, जो उन्हें ही नहीं, अपनी बड़ी बेटी नमिता को भी हमेशा जली-कटी सुनाती रहती है। माँ-बेटी पापड़ बेलने का काम करके किसी तरह गृहस्थी की गाड़ी को चलाने की कोशिश करती हैं। फिर अन्ना साहब उसे अपने पिता की जगह कामगार अघाड़ी की नौकरी दे देते हैं। बेटी कहते-कहते अन्ना साहब एक दिन उसका यौन-शोषण करने का प्रयास करते हैं। नमिता का मोहभंग हो जाता है और वह कामगार अघाड़ी की नौकरी छोड़कर कहीं और नौकरी खोजती है। फिर मैडम अंजना बासवानी उसे संजय कनोई जैसे धनपति के स्वर्णिम जाल में फँसा देती है। उसके बाद एक दलित श्रमिक नेता पवार नमिता से विवाह करके खुद अन्ना साहब के समानांतर बड़ा नेता बनने का सपना पालने लगता है। नमिता पवार को पसंद भी करती है लेकिन जातिवादी जाल में फँसना नहीं चाहती। संजय कनोई का जाल बहुत बड़ा है, वह तब समझती है जब वह संजय कनोई की औलाद की बिनब्याही माँ बनने जा रही है। अन्ना साहब की हत्या का समाचार पाकर वह सन्न रह जाती है और उसका गर्भपात हो जाता है। संजय कनोई नमिता से कहता है कि "जानती हो बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया, उस मामूली औरत अंजना वासवानी की क्या औकात कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके। उसका जिम्मा सिर्फ इतना भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे। सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए।"[5]

उपन्यास में दो बातें उभरकर सामने आई हैं। एक तो यह कि कभी वर्ग-हीन समाज रचने के महान उद्देश्य को सामने रखकर संघर्ष करने वाली ट्रेड यूनियनें आज स्वयं सत्ताकांक्षियों की कठपुतली बन गई हैं और उनका संघर्ष लक्ष्य भ्रष्ट हो चुका है। दूसरी यह कि समाज का कोई वर्ग क्यों न हो, आज भी सर्वत्र पुरुष-प्रधान समाज में नारी ही उत्पीड़ित होने के लिए अभिशप्त है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय संवेदना को कुंठित कर दिया है और स्त्री भी बिकाऊ माल बन गई है। खरीद-फरोख्त के मामले इतने संदिग्ध हो गए हैं कि एक बार उनमें फँस जाने के बाद मुक्ति का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। मजदूरों के लिए आजीवन संघर्ष करने वाले पक्षाघात से पीड़ित पाण्डेय जी की अत्यंत संवेदनशील पुत्री नमिता को यह समझाया जाता है कि ''मत भूलो औरत के अस्तित्व का तिलिस्म उसकी देह से ही उपजता है।''[6] प्रश्न उठता है कि 'आंवा' की आग की तरह झुलसाने वाली आज की इस मानवीय नियति का विकल्प क्या है? नमिता का मोहभंग और उसका अपनी सौतेली माँ किशोरीबाई के पास लौटना दिखाकर लेखिका ने एक विकल्प की ओर संकेत किया है। किशोरीबाई एक मजदूर माँ भी है। उसके पास लौटने का अर्थ है-संघर्ष की मूल नैतिक भूमि की ओर वापसी।

समूचे उपन्यास में स्त्री का देह उसकी आंतरिक स्वतंत्रता और गरिमापूर्ण जीवन के साथ ही आर्थिक-सामाजिक आत्मनिर्भरता के लिए बाधक बनता है। नमिता का एक संघर्ष इसी देह को लेकर भी है। बचपन में वह अपने सगे मौसा के बलात्कार का शिकार होती है। युवा होने पर मजदूर संघ के सबसे बड़े नेता के बलात्कार का। संजय का अनचाहा गर्भ धारण करती है। इन सबकी परिणति उसके अपने पैरों पर खड़े होने के संकल्प में होती है। उपन्यास में पृष्ठभूमि के रूप में 'कामगार अघाड़ी' मजदूर संघों के कार्यकलापों, उनके पूंजीपतियों और उद्योगपतियों से मजदूरों के अधिकार दिलाने के निमित्त किए गए संघर्षों तथा उनकी आंतरिक राजनीति, उठापटक आदि का चित्रण किया गया है। उपन्यास में मजदूर संघों की शक्ति, संभावनाओं और कमजोरियों को पूरी तटस्थता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस परिवेश में उभरती नारी शक्ति को अंकित करने की भी कोशिश उपन्यासकार ने की है। ममता, गौतमी और स्मिता जैसे पात्रों के माध्यम से साहसी नारीवादी चरित्रों का अंकन किया गया है। ये परम्परागत नारी संहिता की जड़ता को तोड़ते हुए अपना जीवन जीती हैं। एक मजदूर नेता के पारिवारिक जीवन का चित्रण भी उपन्यास में किया गया है जिसकी पत्नी पुरानी पीढ़ियों की रुढ़ियों से जकड़ी, कुटिल, स्वार्थी स्त्री है। पर इतने सारे विषयों और एक बड़े फलक के बावजूद यह उपन्यास भारतीय नारीवादी आंदोलन का सशक्त दस्तावेज बन पड़ा है।[7]

अस्वाभाविक नहीं कि स्त्री विमर्श के बैनर तले स्त्रियों का जो लेखन इधर आया है, वह पुरुष बुद्धिजीवियों को विचलित कर देता है। वे कथाकार जो स्त्री, दलित या लोकवादी नहीं हैं, किसी वाद से बंधे हैं, वे अवश्य चिंतित हो सकते हैं। यह सही है कि आधुनिकतावादी और प्रगतिशील साहित्य, दोनों में लैंगिक मामले और जाति को लेकर अलग से गहरी चिंता नहीं थी। आधुनिकतावादी साहित्य में आधुनिकीकरण का संकट झेलते हुए भी उसके प्रति एक गहरा सम्मोहन था। उसमें व्यक्ति की सच्चाइयाँ ही सब कुछ हो गईं। प्रगतिशील साहित्य का यथार्थवाद वर्ग की सच्चाइयों के भीतर जाकर जेंडर, जाति-पाँति और स्थानीयता की सच्चाइयों को अपने दायरे में नहीं ला पाया। इसलिए भी इस भारतीय नारीवादी दृष्टि का विकास हुआ।[8]

मध्यवर्ग के विकास के साथ ही उपन्यास का विकास हुआ था और मध्यवर्गीय जीवन में परिवर्तन स्वाभाविक रूप से राजनीतिक, सामाजिक, नारीवादी आंदोलनों की देन था। नारीवाद की उपज का एक प्रमुख कारण संवैधानिक लोकतंत्रों का विकास भी है। नमिता की चेतना केवल सामाजिक चेतना नहीं है। लेखिका ने भी जो आधुनिक व्यैक्तिक मूल्य ग्रहण किए हैं, वे भी संवैधानिक चेतना से ओत-प्रोत है क्योंकि अधिकार जब तक सुरक्षात्मक न हों तो दावों का कोई खास मतलब नहीं रह जाता। हाँ, संघर्ष तो फिर भी करना ही पड़ता है। 'पाश' की यह कविता नारीवादी आंदोलन और इस उपन्यास की नायिका नमिता पर खूब बैठती है-

हम लड़ेंगे, जब तक दुनिया में
लड़ने की जरूरत बाकी है।
हम लड़ेंगे कि लड़े बगैर
कुछ नहीं मिलता।[9]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी के

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

नारीवादी आंदोलन और वर्तमान समय में एक मजदूर की बेटी के मोहभंग, पलायन और वापसी के माध्यम से उपभोक्तावादी समाज को विभिन्न स्तरों पर अनुसंधानित करता है। यह उपन्यास अपने गहरे संवेदनात्मक कौशल और शिल्प से नारीवादी दृष्टि को उद्घाटित करता है, वह साहित्यिकों के साथ ही सभी वर्गों को चेतनासंपन्न बनाती है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
जयप्रकाश विश्वविद्यालय,
छपरा, बिहार

संदर्भ सूची–

1. 21वीं शती का हिंदी उपन्यास–पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ–164
2. हिंदी उपन्यास : राष्ट्र और हाशिया–शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ–284
3. वही, पृष्ठ–286
4. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ–392
5. हिन्दी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृष्ठ–269
6. आँवा (उपन्यास), चित्रा मुद्गल, पृष्ठ–75
7. हिन्दी उपन्यास का विकास - मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ–210
8. उपन्यास का काव्यशास्त्र - बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ–76
9. हिन्दी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृष्ठ–269

सम्बन्धसमुद्देश में सम्बन्ध का स्वरूप विमर्श

युवराज भट्टाराई

शब्दार्थ-सम्बन्धविवेचन

शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है या नहीं यह एक स्वाभाविक प्रश्न सभी भाषा एवं व्याकरण के अध्येताओं तथा जन सामान्यों के मन में भी समुदित होता है। शब्द प्रयोग में आते ही अर्थ प्रदान करने लगते हैं और अर्थ को देखते हुए ही उसके वाचक शब्द की स्मृति हो आती है। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि शब्द के साथ अर्थ का कोई ना कोई संबंध अवश्य है। शब्दार्थ समशीलता का विश्वास अतिशय प्राचीन है। मनुष्य की यह धारणा शताब्दियों के इतिहास में पोषित है कि शब्द अर्थ का प्रतीक ना होकर उसका अभिन्न रूप ही है और इसीलिए शब्दों में अर्थ तक पहुंचाने की अद्‌भुत शक्ति है। कविकुलगुरु महाकवि कालिदास ने तो अपने रघुवंश महाकाव्य के मंगलाचरण में-

वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थाप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

यह कहकर शब्द और अर्थ को संसार के माता पिता प्रतिपादित किया है। कालिदास के अनुसार वाक् माता पार्वतीरूपा हैं तो अर्थ शिवस्वरूप हैं। अर्थात् जिस प्रकार शिव पार्वती का स्वरूप सर्वदा संश्लिष्ट अर्धनारीश्वर के रूप में है ठीक उसी प्रकार शब्दार्थ भी नित्यसंश्लिष्ट है यही मूर्धन्य मनीषी कालिदास का भी अभिमत प्रतीत होता है। शब्दार्थ संबंध की महत्ता अनेक शास्त्रों में स्वीकार की गई है। इस संबंध का जैसा स्वरूप होता है; शब्द भी अपने अर्थ का वैसा ही उद्‌घाटन करता है। संबंध की स्थिति में ही शब्द का अर्थ हो सकता है। संबंध के अभाव में शब्द की अर्थव्यवस्था की कल्पना भी दुष्कर है संबंध ही शब्द में अर्थ प्रदान करने की शक्ति उत्पन्न करता है। इसी के संकोच या विकास से अर्थ का भी संकोच या विकास होता है अभिव्यक्ति के क्षणों में कभी-कभी ऐसी अनुभूति होती है कि इस शब्द से मन का भाव ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो रहा है कभी ऐसा लगता है कि यह सब यहां ठीक अर्थ नहीं दे पा रहा है इसका कारण यही है कि उस शब्द का पहले के अर्थ के साथ जो संबंध था वह अब नहीं रह गया है संबंध के संकोच या विकास से अर्थ की परिधि संकुचित अथवा विस्तृत होती है। इसी के कारण शब्द अपने अर्थों के कितने ही आयाम उद्‌घाटित करते हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द का प्रयोजन है अर्थप्रत्यायकता। परन्तु सभी शब्दों से सभी अर्थों का बोध नहीं होता, वरन् सामान्यतः नियत शब्दों से नियत अर्थों का बोध होता है। शब्द को व्यवहार का कारण मानने वाले सभी दार्शनिक इस वस्तु स्थिति को स्वीकार करते हैं।[1] प्रायः बाह्यार्थवाद सभी दार्शनिक-सम्प्रदाय शब्द और अर्थ के मध्य किसी सम्बन्ध का अनुसन्धान करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि सभी अर्थ सब पदों से वाच्य नहीं होते क्योंकि यह सम्बन्ध निश्चित पद और निश्चित अर्थ के मध्य होता है।

अतः यह स्वीकार किया जाता है कि जो अर्थ जिस पद से सम्बद्ध होता है, उस अर्थ का बोध उसी पद से होता है; अन्य असम्बद्ध अर्थ का बोध कथमपि नहीं होता। किन्तु शब्द और तद्वाच्य अर्थ के मध्य स्थित सम्बन्ध के

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

स्वरूप के विषय में विचारकों के मध्य बहुत मतभेद हैं। शब्द और अर्थ के मध्य संयोग सम्बन्ध उपपन्न नहीं है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध केवल मूर्त द्रव्यों में ही हो सकता है, जैसे कुण्ड और बेर का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध समवाय नहीं हो सकता क्योंकि तन्तु और पट के मध्य का जैसा कोई सम्बन्ध शब्द और अर्थ के मध्य प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं होता। संयोग और समवाय सम्बन्धों पर आश्रित अन्य कोई सम्बन्ध भी नहीं हो सकते; क्योंकि संयोग और समवाय सम्बन्धों में दोनों सम्बन्धी एक ही देश में उपलब्ध होते हैं। जबकि शब्द मुख में उपलब्ध होता है और अर्थ भूमि में उपलब्ध होता है। क्षुर, मोदक आदि शब्दों के उच्चारण द्वारा मुख में पाटन या पूरण जैसा कोई कर्म रूप अर्थ उपलब्ध नहीं होता,अतः शब्द का अर्थ से सम्बन्ध अनुमेय भी नहीं है। शब्दोच्चारण में स्थान, करण और प्रयत्न जो शब्दोच्चारण के कारण होते हैं, घटादि अर्थ के देश, भूमि आदि में उपलब्ध नहीं होते। अतः शब्द और अर्थ की एकत्र उपलब्धि असम्भव है।[2]

शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध बीज और अङ्कुर के मध्य वर्तमान कार्यकारण सम्बन्ध, तन्तुवाय और पट के मध्य वर्तमान निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध या कुण्ड और बेर के मध्य वर्तमान आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।[3] साथ ही ऐसा भी नहीं है कि शब्द और अर्थ के मध्य कोई सम्बन्ध ही न हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में शब्द से अर्थ की व्यवस्था न रह जायेगी, जबकि शब्द में अर्थ की व्यवस्था तो देखी ही जाती है।[4] तब शब्द और अर्थ के मध्य कौन सा सम्बन्ध है? इस प्रश्न पर वैयाकरणों, आलङ्कारिकों, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने अपने-अपने प्रस्थान पर आधृत समाधान प्रस्तुत किया है। वैयाकरणों ने पद और पदार्थ के सम्बन्ध की समस्या पर विस्तार से विचार किया है। व्याडि से लेकर नागेश तक के सभी वैयाकरणों ने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। वैयाकरणों में भी आचार्य भर्तृहरि शब्द और अर्थ के दार्शनिक विश्लेषण के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रौढ़ विचार प्रस्तुत करते हैं। इन्होंने शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में अनेकत्व होते हुए भी एकत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वे शब्द और अर्थ के मध्य अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इनके मत में अर्थ शब्द से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है। जो अर्थ जिस शब्द से भिन्नाभिन्नात्मक होता है, उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है। सब अर्थ सब शब्दों से भिन्नाभिन्नात्मक नहीं हो सकते, अर्थात् सब अर्थों और शब्दों के मध्य तादात्म्य नहीं होता, अतः सब शब्दों से सब अर्थों का बोध नहीं होता। अद्वैत वेदान्त को अभिमत कार्यकारण सिद्धान्त विवर्त्तवाद को वैयाकरणों ने शब्द द्वारा अर्थ प्रत्यय का आधार मान लिया है।[5] वैयाकरणों के इस मत को आलङ्कारिकों ने भी स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के आदि में वाणी और अर्थ के मध्य वर्तमान इसी तादात्म्य सम्बन्ध की ओर इंगित किया है।[6] शब्द और अर्थ की चूंकि अलग उपलब्धि होती है। अतः इनके मध्य कभी भी किसी प्रकार एकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

सम्बन्ध प्रयोजन

शब्द अर्थवान होता है अर्थात् शब्द के गर्भ में नित्य रूप से अर्थ विद्यमान रहता है। शब्द के उच्चारण होते ही अर्थ प्रस्फुटित हो उठता है। अतएव भाष्यकार ने कहा है– नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।[7] हरि के अनुसार सम्पूर्ण अर्थात्मक ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित तथा अविनाभाव सम्बन्ध से उपस्थित होते हैं। शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है तथा अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। शब्द और अर्थ के इस साहचर्य के कारण ही भाष्यकार ने- 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' कात्यायन के इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध तथा उसकी नित्यता का प्रतिपादन किया।

''अस्तु, शब्द और अर्थ के इस सहभाव को देखते हुए उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा का होना आवश्यक है कि क्या शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध है? यदि सम्बन्ध है तो उसका स्वरूप क्या है तथा वह सम्बन्ध स्वाभाविक (नित्य) है या कृत्रिम (सांकेतिक) है। शब्द से अव्यभिचरित रूप से अर्थज्ञान होने के कारण अथवा एक ही आत्मा के दो भेद-शब्द और अर्थ होने के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है।

सम्बन्ध दो वस्तुओं में होता है और उन दोनों में भेद विवक्षा होती है-- ''द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्'' पाणिनि ने षष्ठी शेषे[8] सूत्र से शेष (सम्बन्ध) में षष्ठी का विधान किया है। लोक-व्यवहार नियमन के लिए ''अस्य शब्दास्यायमर्थः'' तथा ''अयमर्थः अस्य शब्दस्य उद्वा अस्यार्थस्य वाचकोऽयम् शब्दः'' के रूप में शब्द और

अर्थ दोनों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है–सम्बन्ध। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि को शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना अभीष्ट था। षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की सत्ता भर्तृहरि भी मानते हैं–

''अस्यायं वाचको वाच्यः इति षष्ठ्या प्रतीयते।
योगः शब्दार्थयोस्तत्वमित्यतो व्यपदिश्यते।''[9]

शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध है, इसकी सिद्धि भाष्यकार ने लोकव्यवहार से बताई है–''कथं ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति, लोकतः।''[10] शब्द से पृथक् अर्थ की सत्ता मानने पर उक्त तर्क के अनुसार सम्बन्ध अभिप्रेत है। अम्बाकर्त्रीटीकाकार ने भी इसी बात को पूर्ण रूप से पोषित किया है[11] शब्दाभिन्न अर्थ–''एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।'' मानने पर भी सम्बन्ध की कल्पना होती है–'मम अयं हस्तः', 'राहोः शिरः' आदि की तरह।

इस प्रकार दोनों स्थितियों में शब्दार्थ सम्बन्ध मानना उचित है। शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध मानने का एक मूल कारण यह है कि यदि सम्बन्ध न माना जाये तो 'घट' पद से घट का ही बोध न होकर पट का भी बोध हो सकता है। अतः अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही बोध हो, अन्य का नहीं। इस नियमन के लिये सम्बन्ध मानना आवश्यक है। अतएव भर्तृहरि ने कहा है–''सम्बन्धस्याविशिष्टत्वान्न चात्र नियमो भवेत्।''[12] शब्द और अर्थ दोनों ही एक ही वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रति कारण हैं तथापि भाषा–वैज्ञानिक–दृष्टया उनमें भेद की कल्पना आवश्यक है, क्योंकि बौद्ध शब्दार्थ से बाह्य अर्थ की प्रतीति होती है।

अतः शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध तत्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है–

''ज्ञानं प्रयोक्तुरर्थस्य स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः॥''[13]

अस्तु शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध वैयाकरण तथा अन्य दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं। आधुनिक भाषा–वैज्ञानिक भी शब्दार्थ–सम्बन्ध को मानते हैं। यह दूसरी बात है कि सम्बन्ध का स्वरूप किसे मानते हैं? इसका विवेचन आगे किया जायेगा। नैयायिक और वैशेषिक शब्द और अर्थ के बीच किसी नियत सम्बन्ध को नहीं मानते हैं, किन्तु उन्हें भी संकेत रूप सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है। पण्डित रघुनाथ शर्मा यहां पर कारिका की व्याख्या में विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं कि प्रयोक्ता के द्वारा प्रयुक्त शब्द के संबंध प्रयोक्ता का ज्ञान, बाह्य अर्थ और शब्द का स्वरूप ये तीनों ही हैं।[14]

आचार्य भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध को एक अन्य आधार पर सिद्ध मानने वाले एक अभिमत का भी उल्लेख किया है। जिसमें यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि शब्द के द्वारा अर्थ (वस्तु) में दृष्ट अथवा अदृष्ट फल को उत्पन्न करने में समर्थ विशेषता अर्थात् संस्कार का आधान किया जाता देखा जाता है। इस वैशिष्ट्य का आधान तब तक उपपन्न नहीं होता जब तक कि उस शब्द का अर्थ यानी वस्तु के साथ कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न हो।[15]

पण्डित रघुनाथ शर्मा ने इस दृष्टादृष्ट प्रयोजन का आशय स्पष्ट करते हुए अंबाकर्त्री टीका में कहा है कि यद्यपि इनका अपना वाच्य अर्थ कुछ नहीं होता किन्तु शाबर मंत्रादि विद्या के रूप से लोक में सर्प बिच्छू आदि विषैले जंतुओं के विष के अपनोदन के लिए किए गए संस्कार प्रत्यक्षतः कारगर दिखाई देते हैं। अतः स्पष्ट है कि यह मंत्रगत विषापनोदन का प्रभाव शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध न होने की स्थिति में सम्पन्न नहीं हो सकता है अतः शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नितान्त आवश्यक मानना होगा।[16] इस प्रकार जब अनर्थक शब्दों का भी अर्थ अर्थात् वस्तु के साथ सम्बन्ध सिद्ध दिखलाई पड़ता है, तो सार्थक शब्दों का तो कहना ही क्या? इत्थं सामान्य रूप से भी सभी शब्दों का तत् तत् अर्थों के साथ वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध होता है। किन्तु भर्तृहरि ने सम्बन्ध के समर्थन में प्रस्तुत उक्त मत को अस्वीकृत कर दिया है क्योंकि व्याकरण का सम्बन्ध दैनन्दिन व्यवहार भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से है। अतः भाषा में प्रयुक्त होने वाले घट, पट आदि शब्द द्वारा अपने अभिधेय वस्तुओं में उक्त प्रकार का दृष्ट और अदृष्ट कोई भी प्रयोजन सिद्ध करने वाला कोई संस्कार आहित नहीं होता। अतः ऐसी स्थिति में उक्त मत के अनुसार घट पट आदि पदों में सम्बन्ध का अभाव होगा, जबकि उपर्युक्त शब्दों के नियमित अर्थ बोध देखा जाता है।[17]

अतः यह सम्बन्ध का संसूचक है। आचार्य रघुनाथ शर्मा ने भी इस कारिका के व्याख्यान के वक्त उक्त बातों को स्पष्ट करते हुए पुनराख्यायित किया है।[18]

सम्बन्ध स्वरूप

सम्बन्ध कोई मूर्त वस्तु नहीं है जिसे अंगुल्या निर्देश के द्वारा इंगित किया जा सके और न ही सम्बन्ध अमूर्त कोई तत्त्व ही है जिसका लक्षण किया जा सके। कहा जा चुका है कि सम्बन्ध एक वस्तु नहीं, अपितु दो में स्थित होता हुआ एक विशेष स्थिति का सूचक तत्त्व है। अतः सम्बन्ध के लिए ईदृश् या तादृश् पद का कथन नहीं किया जा सकता। उसका स्वयं का कोई धर्म नहीं होता जिसके आधार पर उसका वर्णन किया जा सके। वह अत्यन्त परतन्त्र होता है।[19] सम्यक् बन्धः, सम्बन्धः "सम्बन्ध एक ऐसा तत्त्व है जो दो मूर्त या अमूर्त वस्तुओं को किसी न किसी प्रकार से जोड़ता है। एक को दूसरे से जोड़ने की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए भाष्यकार ने सम्बन्ध को असंख्येय बताते हुये लिखा है कि सम्बन्धों की संख्या एक सौ है अथवा और भी हो सकती है। लोक में बहुत से सम्बन्ध हैं - अर्थार्थी भाव सम्बन्ध, स्वस्वामिभाव सम्बन्ध, विद्या-सम्बन्ध, यज्ञीय-सम्बन्ध आदि। 'एक शतं षष्ठ्यर्थाः, यावन्तो वा सन्ति?' लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्थाः, यौनाः, गौरवाः स्रौवाश्चेति।[20]

सम्बन्ध की नित्य परतन्त्रता

यह तो विदित ही है कि सम्बन्ध सदैव सम्बन्धी के परतन्त्र रहता है। ऐसी परतन्त्रता तो गुण क्रिया आदि का भी होता है। ये भी हमेशा द्रव्यादि एवं अपने आश्रय के अधीन रहते हैं। भर्तृहरि का मंतव्य है कि दो पदार्थों के बीच पाए जाने वाले उपकार को देखकर उनमें विद्यमान संबंध का बोध होता है। क्योंकि सम्बन्ध के बगैर परस्पर उपकार सिद्ध नहीं हो सकता।[21] यहां पर अंबाकर्त्रीटीकाकार अपनी व्याख्या में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यहां पदार्थों का स्वरूप पहले अपनी प्रधानता के कारण स्व-शब्द से ही अवधार्य होते हैं। तब उसके अनुगत शब्द निवेश से उसके असाधारण धर्म रूप का लक्षण किया जाता है। इसीलिए सम्बन्ध के अपने असाधारण धर्म से स्वभावभूत उपलक्षित प्रत्यायक षष्ठी व्यतिरिक्त अन्य कोई अभिधान नहीं है। जैसे शुक्ल, कृष्ण, पीत, इत्यादि गुण द्रव्यों के अधीन रहते हैं किन्तु शुक्लादि शब्दों का प्राधान्य होने से शुक्ल रूप ऐसा प्रयोग किया जाता है।[22] अतः इस सम्बन्ध का स्वप्रधानरूप किसी भी शब्द से कही पर भी स्पष्ट रूप से नहीं कहने में हेतु है अत्यंत परतंत्रता। सर्वदा सम्बन्धिद्वय के पराधीन ही षष्ठी का निर्देश किया गया है, अतः यह सर्वदा धर्मरूप ही होगी, अतः इससे असाधारण-धर्मरूप लक्षण का किसी भी शब्द से निर्देश नहीं किया जा सकता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किस प्रकार का है? इस विषय में पर्याप्त मत-भेद हैं। वैयाकरण तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, नैयायिक संकेत सम्बन्ध तथा मीमांसक योग्यता सम्बन्ध मानते हैं। वैयाकरणों में कुछ आचार्य कार्य-कारण सम्बन्ध तथा कुछ वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध मानते हैं। इन सम्बन्धों का स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत है। 'मीमांसक बोध्यबोधक भाव' सम्बन्ध तथा नैयायिक संकेत रूप सम्बन्ध मानते हैं। सांख्य तथा वेदान्ती भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। सांख्यमतानुयायी भेद को व्यावहारिक और अभेद को आध्यात्मिक मानते हैं। वेदान्ती भेद को आध्यासिक तथा अभेद को पारमार्थिक मानते हैं। वैयाकरण एवं आलंकारिक तादात्म्य-सम्बन्ध ही मानते हैं। प्राचीन वैयाकरण उसे बोध्य-बोधक और नवीन वाच्य-वाचक के रूप में मानते हैं। सम्बन्ध के विषय में दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्बन्ध को स्वाभाविक (सिद्ध) मानता है और दूसरे सम्बन्ध को असिद्ध (सांकेतिक) मानते हैं।

सम्बन्ध का शक्ति रूप निराकरण

शब्द और अर्थ के बीच अवस्थित सम्बन्ध को नैयायिकों ने शक्तिरूप स्वीकारा है आचार्य विश्वनाथ ने न्याय सिद्धान्त मुक्तावली के शब्द परिच्छेद में पद के साथ पदार्थ के संबंध को शक्तिरूप में अभिस्वीकृत किया है।[23] जबकि वैयाकरण पद-पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति रूप में स्वीकृत नहीं करते। इसका कारण यह है कि शक्ति न केवल धर्म के रूप में ही अभिहित होती है, अपितु धर्मी के रूप में भी उसका अभिधान होता है। यद्यपि शक्ति शक्त के पराधीन होते हुए भी गुण आदि के समान स्वतन्त्र रूप में भी विवक्षित होती है, अतः वह धर्म मात्र नहीं, धर्मी है। इसी भाव को ध्यान में रखते हुए आचार्य भर्तृहरि ने सम्बन्ध को शक्तियों का भी शक्ति और गुणों का भी गुण कहा है।[24] उपर्युक्त कथन से ही भर्तृहरि ने सम्बन्ध और शक्ति में वैभिन्न्य स्पष्ट किया है।

अम्बाकर्त्रीकार पण्डित रघुनाथ शर्मा ने इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यही सम्बन्ध ही शक्तियों के आधारिक पराधीनता में और नियत कार्यजनन में नियामक

है इसीलिए पृथक् शक्ति की कोई शक्तिमत्ता या औचित्य नहीं है।[25]

संयोग समवाय के संबंधत्व का निरसन

आचार्य भर्तृहरि ने षष्ठी के अन्यथा अनुपपत्ति के आधार पर शब्द और अर्थ में नैसर्गिक सम्बन्ध की स्वीकृति अपरिवार्य माना है। और ''अस्यायं वाचक:'' के आधार पर ही उसे वाच्य वाचक भाव रूप कहा है।[26] जिसको न्याय वैशेषिक शास्त्रों में संयोग तथा सामवाय नामक सम्बन्ध के रूप में स्वीकारा गया है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि ने सम्बन्ध को एक धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है। अम्बाकर्त्रीकार के अनुसार धर्म का तात्पर्य सम्बन्ध का नित्य परतंत्र होना है।[27]

यही नित्य परतंत्रभूत धर्म-मात्र सम्बंध वहां दिखलाई पड़ता है जहां पर किन्हीं दो पदार्थों में परस्पर उपकार लक्षित होता है। परस्पर संबंध के बगैर परस्पर उपकार भी नहीं हो सकता।[28] इसी नित्य परतंत्रता को देखते हुए आचार्य ने संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं माना है।

उपर्युक्त विवेचन से अवगत होता है कि सम्बन्ध समुद्देश के आरम्भिक द्वादश कारिकाओं में सम्बन्ध की विशिष्टताओं का वर्णन मात्र है और अम्बाकर्त्रीकार पण्डित रघुनाथ शर्मा जी ने उन्हीं विशिष्टताओं का विशदतापूर्वक टीका की है। जिसमे संयोग तथा समवाय की स्वीकृति में दोषों की निदर्शना से व्याकरण सम्प्रदाय सम्मत सम्बन्ध को उपस्थापित एवं प्रतिपादित किया गया है। इसी से बोध होता है कि वैयाकरणों के अभिमत में शब्द और अर्थ के मध्य संयोग और समवाय सम्बन्ध कदापि उपयुक्त नहीं है।

और न ही वैयाकरणों को संयोग और समवाय सम्बन्ध अभीष्ट है। हमने वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित शब्दार्थ सम्बन्ध विषयक स्थापना को अंबाकर्त्रीटीकाकार की टीका में व्यक्त भावों को अतिशय महत्त्वपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया है। अब यह भलीभांति स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्त शब्द रूप प्रकाश की तरह ही जगत के बहुविध पदार्थों को प्रकाशित करता है। और अंबाकर्त्रीटीकाकार भी इसी बात को पोषित करते हैं।

शोधार्थी, पीएच.डी, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते अस्ति शब्दार्थसम्बन्धी व्यवस्थाकारणम्। -न्या. भा., 2/1/54
अपि च, शब्दो सम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति प्रत्ययनियमहेतुत्वात् प्रदीपबत्। -या.वा.
2. द्रष्टव्य-न्या.म., पृ. 220-21
3. संश्लेषसम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते कार्यकारणनिमित्त-नैमित्तिकाश्रयाश्रय्यादय:
सम्बन्धा: शब्दस्यार्थेनानुपपन्ना एवेति। -शा. भा., 1/1/4
4. शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेध:। - या. सू., 2/1/54
5. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यत:।। 5
-वा.प., 11
अपि च, शब्द उच्चरिते शब्दाकारतया प्रथमं बुद्धिर्विवर्त्तते, सा तथा विवृत्ता सती ततोऽर्थाकारतया विपरिणमते, तस्यां च तथाभूतायां बुद्धौ शब्दस्वरूप-मेवार्थाकारतय निवृत्तमवगम्यत इत्यादि युक्त्युपन्यासपूर्वकं शब्दार्थयोरभेदमाहु: शाब्दा:। -न्या. म. ग्र. भङ्ग: पृ. 97
6. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। -रघुवंश, 131
7. म. भा. पस्प. पृष्ठ 46 मो. ला. प्र. वाराणसी 1667
8. पा. सू. 2/3/50
9. वा. प. 3/3/3
10. म. भाष्य पस्प. पृ. 50, मोतीलाल प्रकाशन, 1967
11. अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचक:, अस्य शब्दस्यायमर्थो वाच्य इत्यत्र शेषे षष्ठया सम्बन्धार्थिकया शब्दार्थयोर्योगो वाच्यवाचकभावलक्षणस्तन्मूलभूतश्चाध्यासिकतादात्म्यलक्षण: प्रतीयते।
12. वा.प. 3/3/15
13. वा. प. 3/3/1
14. जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां कण्ठताल्वादिरूपतत्तत्स्थाना-भिघातरूपेण प्रयोगेण स्वजन्यध्वनिद्वाराऽभिज्वलितै: प्रकाशितै: स्फोटरूपैरान्तरै: शब्दैस्त्रितयं प्रतीयते।
15. भर्तृहरि: वा. प. 3, 3, 35
शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्टप्रयोजन:।
क्रियते सोऽभिसम्बन्धमन्तरेण कथं भवेत्।।

16. शब्देन = शाबरादिमन्त्ररूपेण लोके सर्पवृश्चिकादि विषापनोदनाय प्रयुज्यमानतया प्रसिद्धेन अर्थस्य = सर्पादिविषस्य संस्कारो दृष्टप्रयोजनः क्रियते।
17. भर्तृहरिः वा. प. 3, 3, 36
नावश्यमभिधेयेषु संस्कारः स तथाविधः।
दृश्यते न च सम्बन्धस्तथाभूतो विवक्षितः।।
18. घटादिशब्दाभिधेयेषु अर्थेषु स घटादिशब्दजनितः, तथाविधः दृष्टादृष्टप्रयोजनः संस्कारः अवश्यम् = नियमेन, न दृश्यते।
19. वा. प. 3/3/4
20. म. भाष्य, 1/1/49
21. भर्तृहरिः वा.प. 3, 3, 4
नाभिधानं स्वधर्मेण सम्बन्धस्यास्ति वाचकम्।
अत्यन्त परतन्त्रत्वाद् रूपम् नास्यापदिश्यते।।
22. इह पदार्थानां स्वरूपं यदा प्राक् स्वप्रधानतया स्वशब्देनावध्रियते, तदा तदनुगतशब्दनिवेशे न तस्य तदसाधारणधर्मरूपं लक्षणं क्रियते।
23. विश्वनाथ, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दपरिच्छेद, शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः
24. भर्तृहरिः वा.प. 3, 3, 5
शक्तीनामपि सा शक्तिः गुणानामप्यसौ गुणः।।
25. द्वयोः सम्बन्धिनोः परस्परमुपकार्योपकारक-भावापन्नयोरुपकारानुमेयः खलु सम्बन्धः। परस्परमसम्बद्धानामुपकाराभावात्।
26. अस्यायं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमित्यतो व्यपदिश्यते।।3।।
27. रघुनाथ शर्माः अम्बाकर्त्रीटीका 3, 3, 5 सम्बन्ध एव च गुणानामपि द्रव्याश्रितत्वव्यवस्थापक इति नासौ गणरूपोऽपि।
28. रघुनाथ शर्माः अम्बाकर्त्रीटीका 3, 3, 6, पारतन्त्र्यं सम्बन्धधर्म इति संयोगसमवाययोर्द्रव्यगुणादिषु पारतन्त्र्यसत्त्वाद् गौण्या वृत्या तत्र सम्बन्धशब्दप्रवृत्तिः।

विवेक कुमार त्रिपाठी

मध्यवर्ग, यथार्थवाद और औपन्यासिक युगबोध

उपन्यास को आधुनिक युग में मध्यवर्ग का महाकाव्य कहकर सार्वभौम रूप दिया गया। कभी उपनिवेश के देशों के उपन्यास को 'राष्ट्रीय रूपक' कहा गया। दरअसल उपन्यास उन प्राचीन लोककथाओं के साथ नई जीवन स्थितियों का ऐसा दस्तावेज है जो सच्चाइयों, आशाओं, स्मृतियों और जीवन को बचाकर रखता आया है। उपन्यास हमेशा एक दार्शनिक विद्रोह, एक प्रतिवाद, वंचितों की आवाज और सत्ता को चुनौती देने वाली विद्या के रूप में जाना गया। साथ ही व्यवस्था की सच्चाइयों और व्यक्ति के संबंधों के जटिल मनोविज्ञान के उद्घाटक के रूप में भी। कभी उपन्यास के मृत्यु की घोषणा की गई थी, पर आज दुनिया में यह ज्यादा चर्चित विधा है। मनोरंजन उद्योगों और इंटरनेट के जमाने में, सामाजिक विस्थापन झेल रहे साहित्य के दौर में उपन्यास ही वह विधा है जो सर्वाधिक लोकप्रिय है।[1]

19वीं सदी से नई यात्रा शुरू करके हिन्दी उपन्यास तमाम परिवर्तनों के बीच से आज यहाँ पहुँचा है। मध्यकाल का समाज सरल था, लोग समुदायों में ग्रामीण जीवन व्यतीत करते थे। आधुनिक काल आते ही मनुष्य की स्थितियों में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। विज्ञान और तकनीक ने मनुष्य की अलौकिक आस्थाओं को कमजोर बना दिया। औद्योगीकरण और पूंजीवाद की वजह से नगरीकरण हुआ। यहीं से मध्यवर्ग का विकास हुआ। यह वर्ग अब न तो ग्रामीण रहा, न ही शहरी। यह वर्ग चूँकि ग्रामीण समाज से नगरों में आया था, अत: इस वर्ग में न तो उतनी कल्पनाएँ रह गईं, न ही पारलौकिकता। सामंती व्यवस्था में इस वर्ग का सर्वथा अभाव था। यह विभाजन आर्थिक आधार पर था।

भारत में मध्यवर्ग का उदय ईस्ट इण्डिया कंपनी के भारत आने के बाद हुआ। भारतीयों और अंग्रेजों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाले तथा अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से शिक्षित लोग इस श्रेणी में आते थे। मैक्राले की शिक्षा नीति ने भारत में एक बड़े मध्यवर्ग का ढाँचा तैयार किया। मैकाले चाहता था कि भारत में एक ऐसा वर्ग विकसित हो जो त्वचा एवं रंग की दृष्टि से भारतीय हो किंतु रुचि, अभिमत और नैतिक मानदण्डों पर अंग्रेज हो। अंग्रेजों ने भारत में रेल, डाक-तार, संचार, सड़कों का जो जाल बिछाया उसमें इसी मध्यवर्ग की विशेष भूमिका थी। देश में अनेक शिक्षण संस्थाएँ खुलीं, पढ़े-लिखे लोगों को नौकरी मिलने लगी। शायद भारत में सरकारी नौकरी की अवधारणा और शैक्षिक योग्यता के मानदण्ड का विकास भी यहीं से हुआ। ये भारतीय चूंकि शिक्षित थे, अत: पाठक और लेखक दोनों ही भूमिकाओं में रहे। इसी मध्यवर्ग ने शैक्षिक जागरुकता के कारण भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में भी भूमिका निभाई। साहित्य भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रहा। यूरोप में जहाँ पूंजीवाद के विकास के साथ मध्यवर्गीय चेतना जाग्रत हुई तथा रिचर्डसन, हेनरी फील्डिंग, जॉन आस्टिन के उपन्यासों में मध्यवर्ग का सटीक चित्रण हुआ, वहीं भारतीय उपन्यासकार भी इससे अछूते नहीं रहे। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार– ''मध्ययुग के सामंती समाज का अंत होने पर जब नवीन औद्योगिक सभ्यता का विकास हो रहा था और नगरों में

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

नवीन मध्यवर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी, उस समय उपन्यास का आर्विभाव हुआ। इस प्रकार उपन्यास एक ओर गद्य साहित्य के निर्माण और विकास का समकालीन है और दूसरी ओर मध्यवर्ग के उत्थान का समसामयिक।''[2]

मध्यवर्ग का जीवन इस प्रकार था कि यहाँ न तो पूर्णतः संपन्नता थी, न ही पूर्णतः अभाव। इसी कारण मध्यवर्ग का जीवन यथार्थ के अधिक निकट था। जीवन के संघर्षों, समस्याओं और हताशाओं से रूबरू इस वर्ग की स्थिति द्वन्द्वात्मक थी। इसी कारण पाठकों और लेखकों को यह विषय अधिक रोचक लगा क्योंकि ये सभी इसी मध्यवर्ग से आते थे। आरम्भ में उपन्यास जो कल्पना मिश्रित यथार्थवाद या रोमानी यथार्थवाद को लेकर चला, कालान्तर में वह यथार्थवाद जादुई यथार्थवाद तक पहुँचा। कला जगत में यथार्थवाद का सर्वप्रथम प्रयोग कोर्वे ने अपने चित्रों को 'रियलिज्म' (Realism) नाम देते हुए सन् 1855 ई. में किया। अगले ही वर्ष 1856 ई. में फ्लावेयर के उपन्यास 'मादाम बावेरी' में यथार्थ के प्रति रुझान देखा गया। यथार्थवाद की विशेषता बताते हुए जार्ज लुकाच ने लिखा है कि ''यथार्थवादी लेखक वह है जो बिना किसी भय या पक्षपात के जो कुछ अपने आस-पास देखे उसका चित्रण करे। परन्तु यदि इस चित्रण में लेखक किसी विचारधारा का समावेश नहीं करता तो वह व्यर्थ है।''[3] इसी कारण यथार्थवाद को नग्नता, कुरूपता का चित्रण न मानकर, विकृतियों, रुढ़ियों पर प्रहार माना जाता है। स्टीवेंसन इसका संबंध रचना की कलात्मक शैली से जोड़ते हैं। इस प्रकार यथार्थवाद का संबंध 'वस्तु और शिल्प' दोनों से ही जुड़ जाता है। वस्तु जहाँ जनपक्षधर होती है, वहीं शिल्प सहज एवं अकृत्रिम होता है।

यथार्थवाद का मूल उद्देश्य समाज के यथार्थ रूप का अंकन करना है। इस चित्रण में वह समाज के अच्छे-बुरे कर्मों तथा पाप-पुण्यों के साथ-साथ उसके गुण-दोषों एवं शक्ति सीमाओं आदि का निरपेक्ष अंकन करता है। प्रेमचंद ने अपने 'उपन्यास' शीर्षक निबंध में यथार्थवाद की विवेचना करते हुए कहते हैं-''यथार्थवादी उपन्यासकार चरित्रों को पाठक के सामने उसके नग्न यथार्थ रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा-चरित्र अपनी कमजोरियां या खूबियां दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं। यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।''[4]

यथार्थवाद जीवन के प्रति हमारी आँखें खोल देता है। हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक यथार्थवाद का चित्रण अधिक मात्रा में हुआ है। इसके बाद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा है। आलोचनात्मक यथार्थवाद पर आधारित उपन्यास भी हिंदी में खूब लिखे गए हैं। यशपाल और शिवप्रसाद सिंह इस श्रेणी में अग्रणी हैं। हिन्दी कथा साहित्य में अतियथार्थवाद की चर्चा भी खूब हुई है जिसमें रचनाकार उन सपनों को भी यथार्थ को रूप देता है जो उसकी कल्पना में आते हैं। इस प्रकार अतियथार्थवाद अवचेतन मन की विलास लीला है। इसका प्रमुख उद्देश्य एक ऐसी रचना करना है जिसमें यथार्थ-अयथार्थ समाप्त होकर सम्पूर्ण जीवन का निर्णायक तत्त्व प्रस्तुत करे। अब इधर जादुई यथार्थवाद की खूब चर्चा हो रही है। यथार्थवाद का यह वो रूप है जिसमें यथार्थ हमें चुभता नहीं, दु:ख नहीं देता, अरुचि पैदा नहीं करता बल्कि यह भावों का परिष्कार करता है, जीवन का सच सामने लाता है और समाज का नग्न चित्र भी प्रस्तुत करता है।[5]

महत्वपूर्ण यह भी है कि औपन्यासिक यथार्थवाद में कल्पना का तत्व भी रहता है, सीमित मात्रा में। उपन्यास को दिलचस्प बनाने में, मानव मूल्यों, समाज, परिवेश, नैतिकता से जोड़ने का काम भी करता है और यही सही भी है। यह यथार्थवाद अस्तित्ववादी जीवन दर्शन से भी प्रभावित रहा है। कथा-साहित्य में अकेलापन, कुण्ठा, संत्रास, अजनबीपन, मृत्युबोध, आत्मनिर्वासन की प्रवृत्तियाँ इस अस्तित्ववाद के कारण ही विकसित हुई। आधुनिकताबोध ने उपन्यास के यथार्थवाद को कई स्तरों पर प्रभावित किया है। इससे भाषा की व्यंजक क्षमता में वृद्धि भी हुई और कथा-शिल्प के नए-नए उपकरण विकसित हुए।[6]

औद्योगीकरण, विज्ञान-तकनीक के विकास के पश्चात् नगरीकरण के फलस्वरूप मध्यवर्ग का विकास हुआ। इसी मध्य वर्ग से आगे यथार्थवाद का विकास होता है। लेखक और पाठक के लिए यही यथार्थवाद कथा-साहित्य में व्यापक युगबोध का परिचायक बनता है। काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में यह मान्यता कि कवि या लेखक जो कुछ भी लिखता है, वह इसी संसार से अनुभूत करता है अर्थात्

अनुभूति ही कुछ कलात्मक उपादानों और कल्पना के साथ यथार्थ के मिश्रण से कृति में व्यक्त होती है। उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा के विकास के कारण युगबोध की अवधारणा में व्यापक परिवर्तन हुआ है। जो कुछ भी समाज, व्यवस्था, संसार में जिस भी रूप में है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आरम्भिक दौर में युगबोध का स्वरूप ऐसा नहीं था। पहले अनुभूति, विचार, भाव, घटनाओं या संबंधों को कल्पना या आदर्श मिश्रित स्वरूप में पेश किया जाता था। समाज और तकनीक में परिवर्तनों के कारण, अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता, अस्मिताओं के उभार के फलस्वरूप युगबोध का दायरा अधिक यथार्थपरक होता गया है। 'परीक्षा गुरु' और 'डार्क हार्स' के युगबोध का अन्तर इसका उदाहरण है। जीवन के वर्णित पक्ष भी अब उपन्यास की विषयवस्तु बन रहे हैं। इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो रही है। खुलापन और बाजारीकरण के फलस्वरूप घोर व्यक्तिवाद ने पाठक और लेखक के युगबोध को बदला है।[7] संरचनावाद, विखंडनवाद और अतियथार्थवाद युगबोध के स्वरूप को व्यापक स्तर पर बदल चुका है। कथावस्तु के व्यापक विस्तार ने युगबोध के स्वरूप को बदल दिया है। व्यक्ति के साहित्यिक संस्कारों में परिवर्तन के साथ ही, समाज के सृजित नव-संबंधों और नये परिवेश के कारण हम युगबोध में परिवर्तन देख सकते हैं। कृषक, मजदूर, निम्न मध्यवर्ग, व्यवस्था, सत्ता, विचारधारा और दक्षिण-वाम के मंतव्यों से अब युगबोध का स्वरूप दलित, स्त्री, आदिवासी, समलैंगिक संबंधों, बाजारीकरण, प्रतिस्पर्धा, परीक्षा, प्रेम-संबंधों, विवाहेत्तर संबंधों, युद्धों, राजनीतिक उठापटक और दावपेचों, सामाजिक समस्याओं से भी आगे निकल चुका है।[8]

महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी उपन्यास का युगबोध अब राष्ट्र और विश्वदृष्टि तक पहुँच चुका है। दरअसल राष्ट्र और ग्लोब में किसी एक से पूर्णतः बँध जाने पर या तात्कालिकता को एक मूल्य बना देने पर उपन्यास का युगबोध और व्यापक हो गया है। नव-औपन्यासिक युगबोध को यथार्थवाद, उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्तों के चौखटे में रखे बिना नहीं समझा जा सकता। आज के उपन्यास को एक समावेशी प्रगतिशील परम्परा के भीतर रखकर देखना होगा। भारत जैसे कथाओं से भरे देश में जहाँ पहाड़, नदियाँ, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी भी कथाओं के अंग हैं, आधुनिक अवधारणाओं के आने से युगबोध का स्वरूप व्यापक हुआ है। युगबोध के बहुरंगेपन के अलावा विषयवस्तु का तीखापन आज के उपन्यासों की विशेषता है। इस प्रकार यह सहज ही कहा जा सकता है कि जिस मध्यवर्ग से उपन्यास विधा का जन्म होता है, उसी मध्यवर्ग से यथार्थवाद का विकास हुआ और नवीन अस्मिताओं, विचारों, सिद्धांतों के मिश्रण से युगबोध का स्वरूप भी व्यापक होता चला गया।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
जयप्रकाश विश्वविद्यालय
छपरा, बिहार

संदर्भ सूची

1. हिंदी उपन्यास : राष्ट्र और हाशिया–शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016, भूमिका, पृष्ठ-vii
2. उपन्यास : स्वरूप और संवेदना–राजेन्द्र यादव, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ-15
3. वही, पृष्ठ-208
4. 21वीं शती का हिन्दी उपन्यास-पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ-48
5. उपन्यास का काव्यशास्त्र-बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ-14
6. उपन्यास की संरचना-गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ-72
7. आजकल (पत्रिका), मासिक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, जनवरी-2020, पृष्ठ-48
8. हिन्दी उपन्यास का इतिहास-गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ-404

स्वर्णदत्त अनंत बाहेरवाडे

रसस्वरूपम्

धरातलेऽस्मिन् मानवः सदैव आनन्दान्वेषण एव निरतो भवति, कुतश्चेत् आनन्दः मनुजस्य स्वभावः। तस्मात् मानवस्य आनन्दानुभूतिः कुतः? इति जिज्ञासायाम् – काव्यं हि तत्साधनम् इति स्मृतिपथम् आयाति। तथा च काव्ये हि श्रूयन्ते बहवो हि शब्दाः, यथा–रसः, भावः, रीतयः, अलङ्काराः, वृत्तयश्च। तत्रा रसशब्दोऽयं मानवं परितः परिभ्रमति – स च रसशब्दः सर्वप्रथमं वेदेषु समुल्लिखितो भवति इति विदितमेव अस्माभिः। यथा – ''दधानः कलसे रसम्''[1] इति ऋग्वेदे, यथा वा ''रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति''[2] इति तैत्तिरीयोपनिषदि दरीदृश्यते। अत एव काव्यप्रयोजने मम्मटो[3] 'सद्यः परनिर्वृतये' इति विवृणोति। तथैव विश्वनाथः साहित्यदर्पणे रसस्वरूपं प्रतिपादयति यद्

रसो ब्रह्मास्वादसहोदरः –

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।[4]

अनेन रसेन विना काव्यं रसिकानां कृते नीरसम् अनादृतञ्च भवति इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि ।

उक्तञ्च काव्यप्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे – 'पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणोऽयं रसः, सहृदयस्य हृदयं प्रविशन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः'[5] इति।

रसस्वरूपम् – कोऽयं रसः? किं वा अस्य रसस्य स्वरूपम्? कीकृशी च अस्य रसस्य निष्पत्तिः? इति जिज्ञासायाम् उच्यते भरतेन यत् – ''यथा हि नानाव्यञ्जन-संस्कृतमन्नं भुञ्जानः रसान् आस्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्ये रस इति अभिख्यात''[6] इति। अनया पङ्क्त्या ज्ञायतेऽस्माभिर्यत् – यथा भोजने षड्रसाः प्रसिद्धा लोके तथैव नाटकेऽपि रत्यादिस्थायिभावाः सर्वे रसताम् अवाप्य रसा इति प्रसिद्धा इति भरतस्य वक्तव्यम्। उक्तञ्च भरतेन नाट्यशास्त्रे-'विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति। अत्र विभावाः कारणानि, अनुभावाः कार्याणि, व्यभिचारिभावाश्च सहकारिणः, एतेषां संयोगाद् रसस्य निष्पत्तिः भवति। सूत्रेऽस्मिन् स्थितं संयोगशब्दं निष्पत्तिशब्दं चाश्रित्य प्रादुर्भवन् चत्वारः वादाः –

1. भट्टलोल्लटस्य उत्पत्तिवादः तत्सूत्रसारश्च – भट्टलोल्लटमतानुसारं विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसस्य उत्पत्तिर्भवति। अत्र तावत् – विभावैः सह स्थायिभावानाम् उत्पाद्य – उत्पादकभावः, अनुभावैः सह स्थायिभावानां गम्य – गमकभावः, व्यभिचारिभावैः सह स्थायिभावानां पोष्य – पोषक भावसम्बन्धः, तेन रसस्य निष्पत्तिः = उत्पत्तिः इत्यर्थः।

2. शङ्कुकस्य अनुमितिवादः तत्सूत्रसारश्च – शङ्कुकमतानुसारं विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसोऽनुमीयते। अत्र तावत् – गम्य – गमकभावसम्बन्धः, तेन रसस्य निष्पत्तिः = अनुमितिः इत्यर्थः।

3. भट्टनायकस्य भुक्तिवादः तत्सूत्रसारश्च – भट्टनायकमतानुसारं विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसो भुज्यते। अत्र तावत् – भोज्य – भोजकभावसम्बन्धः, तेन रसस्य निष्पत्तिः = भुक्तिः इत्यर्थः।

4. अभिनवगुप्तस्य अभिव्यक्तिवादः तत्सूत्रसारश्च – अभिनवगुप्तमतानुसारं विभावानुभावव्यभि-चारिसंयोगाद्

रसोऽभिव्यज्यते। अत्र तावत् – व्यङ्ग्य – व्यञ्जकभावसम्बन्धः, तेन रसस्य निष्पत्तिः = अभिव्यक्तिः इत्यर्थः।

अतः अलौकिकत्वं काव्यात्मकत्वञ्च रसस्यास्य सर्वैरप्यालङ्कारिकैः स्वीकृतम् – यथा – ''न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'' इति मुनिना भरतेन प्रतिपाद्य स्वीकृतं यद् रस एव हि परमोत्कृष्टतया समास्वाद्यते सहृदयैरिति। एवमेव –

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥[7]

इत्यपि च प्रतिपादयन् आनन्दवर्धनाचार्यः रसस्यैव काव्यत्वम् अङ्गीकरोति। एवमेव – ''रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्''[8] इति अभिनवगुप्तमहाभागेनापि रसस्यैव काव्यजीवितम् उररीकृतं वर्तते। एवमेव – महिमभट्टेनापि– ''काव्यस्यात्मनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः''[9] इत्युक्तमस्ति। तथैव मम्मटेनापि काव्यप्रकाशे – ''ये रसस्याङ्गिनो धर्माः'' इति प्रतिपादितं विद्यते। एवमेव – ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' इति सादित्यदर्पणेऽपि विश्वनाथेन रसस्यैव काव्यता इति निश्चप्रचम्। एवञ्च अग्निपुराणेऽपि – ''वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र हि जीवितम्''[10] इति वाक्येन रसस्यैव काव्यता, रस एव काव्यस्य आत्मस्थानीयत्वेन समुद्घोषितं वर्तते।

रसो व्यञ्जनया सहृदयस्य हृदयं प्रभावयति नितराम्। सहृदया एव तं रसं ज्ञातुं प्रभवन्ति सुतराम्। तदुक्तं पुनः साहित्यदर्पणे – ''पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्–रससन्ततिम्'' इति। एवं रूपेण जीवात्मा सहृदयो वा परमात्मानं रसं वा लब्ध्वा आनन्दीभवति, अतः रस आनन्दस्वरूपः इति स्पष्टम्।

उक्तञ्च रसगङ्गाधरे पण्डितराजेन जगन्नाथेन – ''रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः''[11] इति। सहृदयोऽयं रसममुम् अभिन्नत्वेनास्वादयति, यथा – अज्ञानस्य विनाशेन ज्ञानस्यालोकमाध्यमेन जीवात्मा परमात्मानम् अवाप्नोति, तथैव भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायिभावो रस आस्वाद्यते सहृदयैः।

शृङ्गाररसः – शृङ्गमृच्छति इति शृङ्गारः। शृङ्गं नाम कामुकयुगलयोः उत्पीडकम्। अनेन कामस्य उद्भवेन यः सम्भूयते सः शृङ्गार इत्युच्यते बुधैः। रसस्य अस्य आलम्बनविभावः नायकः, चन्द्र – चन्द्रिका – चन्दनानुलेपन – भ्रमरझङ्कारादय उद्दीपनभावाः, भ्रूविक्षेप–कटाक्षादयोऽनुभावाः, औग्र्य – मरण – आलस्य – जुगुप्सादिव्यभिचारिभावान् विहाय अन्ये चास्य पोषकाः भवन्ति। रतिरस्य स्थायिभावः। वर्णः श्यामो देवता च विष्णुः। सम्भोगः विप्रलम्भश्चेति अस्य द्वौ भेदौ स्तः।

सम्भोगशृङ्गारः – मुनिना भरतेन शृङ्गारस्य अवस्थाद्वयं निरूप्य सम्भोगशृङ्गारं विभावानुभाव– व्यभिचारिभिः निरूपयति तत्र तावत् विभावादीनां निर्देशः क्रमेणैव विहितो वर्तते – विभावाद् एव रसास्वादः प्रारभत इति तत्रादौ विभावनिर्देशः –'तत्र सम्भोगः तावद् घ्तु–माल्य–अनुलेपन–अलङ्कार–इष्टजन–विषय–वरभवन–उपभोग–उपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शन–क्रीडा–लीलादिभिः विभावैः उत्पद्यते' इति कृतः।

अत्र तावत् वसन्तादयः ऋतवः, कुसुमादि माल्यम्, चन्दनादि–अनुलेपनम्, कटक–कुण्डलादिः अलङ्कारः, विदूषकादिरूप इष्टजनः, गीतादयो विषयाः, वराणि – श्रेष्ठानि भवनानि च यानि यानि भवन्ति तेषाम् भवनानां समुपयोगः, उपवनस्य – उद्यानस्य गमनम्, अनुभवः, श्रवणम्, दर्शनं च यद् अस्ति, जलावगाहनादिरूपा क्रीडा, नायकेन नायिकायाः, नायिकया नायकस्य च अनुकरणरूपा लीला च इत्यादयो हृदयङ्गमाः पदार्थाः सम्भोगशृङ्गारस्य विभावरूपेण निर्दिष्टाः सन्ति। उपवनगमनादीनि उपवनगमनादेः सङ्कल्पादेः उपलक्षणानि वर्तन्ते। एवं रूपेण लीलादिभिः इत्यत्र आदिपदेन हंसमिथुनादेः चित्रपुस्तकादेश्च दर्शनादीनि गृहीतानि सन्ति। एवम् ऋतुप्रभृतिकथनस्याभिप्रायोऽयमेव ज्ञातव्यो यद् यद् वस्तु हृद्यं वस्तु भवति तत् सर्वं विभावो भवति। तथा च काव्येषु कविना तदनुसारिणा नटेन च प्रकाशिताभ्यां ऋतुप्रभृतीनाम् उपभोगादिना विशिष्टाभ्याम् उत्तमाभ्यां स्त्री–पुंसरूपाभ्यां विभावाभ्यां निर्विघ्न–भोगरूपस्य सम्भोगशृङ्गाररसस्य उत्पत्तिः शीघ्रमेव भवति। रसनक्रिया तावत् अस्मादेव विभावाद् प्रारभते। एषा रसनक्रिया विभावसाक्षात्कार–रूपा भवति। एषा अनुभावादिना अग्रे नीयते। एवम् – इदम् – 'एतैः कविनोपनिबद्धैः नटेन च साक्षात्कारतामानीतैः सम्यग् इत्यविघ्नभोगात्मक–सम्भोगो रस उत्पद्यते झटित्येव। न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पद्यते। अपि तु प्रथम एवावसरे। स च विभावादि–साक्षात्कारात्मक एव' इति अभिनवभारत्याम् अभिनवगुप्तेन प्रतिपादितम्। 'स' इत्यनेन रसनाव्यापारो ग्रहणीयो भवति।

अनुभावः – अनुभावस्तावत् रतिं रसनाभिमुखीं करोति इति विभावं निरूप्य भरतमुनिः सम्भोगशृङ्गारस्य अनुभावम् एवं प्रतिपादयति – 'तस्य नयनचातुर्यभ्रूविक्षेपकटाक्षसंचार–ललितमधुराङ्गहार–वाक्यादिभिः अनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः' इति। अत्र तावत् एवं वक्तुं शक्यते यत् – कान्तासम्बन्धिनां नयनानां चातुर्यादिना सञ्चालनम्, अङ्गानां लालित्येन माधुर्येण च आहरणम्, सुकुमारार्थानां श्रुतिसुखदानां च वाक्यानां प्रयोग

एव अनुभाव इति कथ्यते। यत एते अनुभावा: रसं कमपि विशेषरीत्या अनुभावयन्ति, अनुभावानाम् अभिनयश्च रसं रसनाभिमुखं नयति इति अभिनय: समुच्यते। मुने: भरतस्य अस्मिन् वाक्ये आदिपदस्य ग्रहणेन सात्त्विका रोमाञ्चादयो मुखरागादयश्चापि ग्रहणीया भवन्ति। विभावात् तावत् रसनक्रिया प्रारभते इति तु वयं जानीम:। पुनश्च विभाव-साक्षात्कार एव विभावे कान्तादौ नयनचातुर्यादयो रसनक्रियाया विषया भवन्ति। एत एव अभिनया अनुभावा कथ्यन्ते। यत: अनुभावा एव नयनचातुर्यादय: पदार्था: विभावसाक्षात्कारेण प्रारब्धं रसविशेषं रसनक्रियाभिमुखं नयन्ति इति अभिनया:, रसम् अनुभावयन्ति इति अनुभावाश्च कथ्यन्ते। तथा च अनुभावनं तावत् सामाजिकस्य आत्मनि एव भवति न तु अन्यत्र। एवम् अभिनयशब्दस्य प्रयोगेण रसस्य सामाजिके आत्मगतत्वेन विश्रान्ति: निराक्रियते, यतो हि रसो रसनक्रियाभिमुखीक्रियते, आत्मविशेषेण सम्बन्धो व्यवच्छिद्यते। अत एव – 'तस्य तु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभी रसो रसनाद्याभिमुख्यं नीयते। अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च। आभिमुख्यनयनम् अनुभावनं च। तद्रसास्वादे समर्थाचरणम् उद्दीपनम्। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहार:। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरास:' इति। अभिनवभारत्याम् अभिनगुप्त: प्रतिपादयति। अनुभावं विना तावत् कस्यचिदपि रसस्य अनुभवो भवितुं न अर्हति इति। तथा च यत्र केवलस्य विभावस्य एव स्थिति: तत्र न चमत्कार:। यथा अत्र भट्टेन्दुराजस्य पद्येऽस्मिन् –

उपपरिसरं गोदावर्या: परित्जताऽध्वगा:
सरणिमपरो मार्ग: तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोक: कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकण्टक:।।[12]

अत्र तावत् पद्ये नायिकाया: चरणन्यासेन विकसित: अशोक: विभावत्वेनैव वर्णित: पथिकगत: कश्चन अनुभावो न वर्णित:। अतोऽत्र रसनक्रियाया अभावेन न चमत्कार:। तस्मादेव हेतो: रसनाया: निष्पत्तये अनुभावा आवश्यका: भवन्ति इत्युक्तम्। एतत्सम्बन्धितम् अभिनवभारत्याम् – 'अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कार:। रसनायास्तत्राभावात्' इति एवम् अभिनवगुप्त: स्पष्टीकरोति यत् अनुभावं विना चमत्कार: नैव इति।

व्यभिचारिभाव: – इदानीं तावत् भरतमुनि: अनुभावाद् परं व्यभिचारिभावस्य निरूपणं करोति यथा – 'व्यभिचारिण: त्रासलस्यौजस्यजुगुप्सावर्जा:' इति। सम्भोगशृङ्गारस्य तावत् व्यभिचारिण: त्रास:, आलस्यम्, औजस्यम् – उग्रता जुगुप्सा च एते चत्वारो भावा: न भवन्ति एभ्य: भिन्ना: सर्वेऽपि भावा भवन्ति इति भरतोक्तस्य वाक्यस्याक्षरार्थो भवति। किन्तु अभिप्रायो वर्तते यत् सम्भोगे सुखमया एव धृतिहर्षादयो भावा व्यभिचारिणो भवन्ति। तेन दु:खप्रायाणां निर्वेदादीनां सम्भोगे न सत्ता। अत एव भरतेन अग्रे 'विप्रलम्भकृतस्तु' इत्यत्र तु शब्देन सूच्यते यत् सम्भोगे निर्वेदादयो न भवन्ति, अपितु ते विप्रलम्भ एव भवन्ति।

भरतेन वस्तुत: स एव त्रास: तदेवालस्यं च निषिद्धं यच्छृङ्गारस्य विभावेन न जनितं भवति, शृङ्गारस्य विभावेन जन्ये तु त्रासालस्ये भवत एव। अत एव मेघगर्जन-जन्येन त्रासेन नायिकाया: त्रासो वर्ण्यते कविना। एवं रत्यादिप्रभव-मालस्यं कालिदासादिभिर्विक्रमोर्वशीयादौ – 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्या:' इत्यादिरूपेण सम्भोगेऽपि निबद्धमेव। त्रासादिनिषेधेन केवलम् एतदेव ज्ञाप्यते यत् सम्भोगे सर्वे सुखमया एव व्यभिचारिणो भवन्ति, सम्भोगविभावज: त्रासादिरपि ग्रहणीयो भवति।

यद्यपि जुगुप्सा व्यभिचारिषु न गणिता, अपि तु बीभत्सस्य रसस्य स्थायिभावरूपेण स्वीकृता, एवं सम्भोगे तस्या अभावस्य स्वयं सिद्धत्वेऽपि व्यभिचारिप्रसङ्गे ग्रहणेन ज्ञाप्यते यत् सर्वेऽपि रत्यादय: स्थायिभावा: रसान्तरे व्यभिचारिणो भवन्ति। तेन सम्भोगे जुगुप्साया: प्रतिकूलत्वेन निषेध: सार्थको भवति। न हि नायिकाशरीरे रक्तवसामांसादिभावनया जन्या जुगुप्सा रतिं पुष्णाति। तेन सर्वे सुखमया धृतिहर्षादय: सम्भोगे व्यभिचारिणो भवन्ति इति भरतस्य मुनेरभिप्राय: फलितो भवति। एवम् उक्तै: विभावानुभावव्यभिचारिभि: सम्भोगशृङ्गारस्य निष्पत्तिर्भवति।

विप्रलम्भशृङ्गार: –

भरतेन तावत् सम्भोगशृङ्गारं निरूप्य अधुना विप्रलम्भशृङ्गार: निरूप्यते। यथा – 'विप्रलम्भकृतस्त्वस्य निर्वेद-ग्लानि-शङ्का-असूया-श्रम-चिन्ता-औत्सुक्य-निद्रा-सुप्त-स्वप्न-विबोध-व्याधि-उन्माद-अपस्मार-जाड्य-मोह-मरणादिभि: अनुभावै: अभिनेतव्य:' इति वचनेन व्यभिचारिणो निरूपितास्सन्ति आदिपदेन अनुभावा: सूचिताश्च। अत्र 'अस्य' इत्येकवचनेन शृङ्गारस्य अवस्थाभेदेऽपि अभेद: सूच्यते विप्रलम्भसम्भोगावस्थयो: परस्पर-उपकारकत्वं च ध्वन्यते वाक्येन अनेन।

सम्भोगशृङ्गारेण विप्रलम्भ: विप्रलम्भशृङ्गारेण च सम्भोग:

समुपजीवति। अत एव भगवदनुग्रहेण यस्य वाणी पवित्रा जाता तेन कालिदासेन सम्भोगविप्रलम्भाभ्यां मिश्रिताया: रसनाया: निष्पत्तये रघुवंशस्य त्रयोदशे सर्गे लङ्काविजयाद् अनन्तरं सीतया संयुक्तस्य रामस्य वियुक्तावस्थाया: वर्णनं कृतं वर्तते। अत्र सहृदये सामाजिके वा अपि सम्भोगशृङ्गारस्य विप्रलभस्य च मिश्रा रसना उदेति इति। एते निर्वेदादय: स्वानुभवद्वारा विप्रलम्भम् अनुभावयन्ति, अत: त एवात्र अनुभावशब्देन कथिता: भवन्ति। इदम् – 'एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भम् अनुभावयन्ति। तस्माद् अनुभावै: इत्युक्तम्' इति अभिनवभारत्यां स्पष्टीकृतम् अभिनवगुप्तेन।

उपसंहार: – रसो भवति सहृदयस्य हृदये न तु कस्मिंश्चित् काव्यविशेषे। यदि हार्द: भाव: गहनतम: तर्हि तदुत्पन्न: पदसमुदायोऽपि तादृश एव भावगर्भित:, रसगर्भितश्च भवति। 'भिन्नरुचिर्हि लोक:' इत्युक्तत्वात् प्रत्येकं कवे: भाव: भिन्न:, तस्मात् तदुत्पन्न: पदसमूहोऽपि भिन्न:, तदुत्पन्न: रसप्रकारोऽपि भिन्न एव भवति।

तथा च 'यथा दृष्टि: तथा सृष्टि:' इत्युक्तौ यस्य कवे: यादृश: वस्तुविशेष: अथवा वस्तुदर्शनं तथैव स: काव्यं कवयति। तस्मात् एक एव शृङ्गाररस: बहुधा वर्णित: बहुभि: कविभि: स्वरचनाविशेषेषु। रसस्तु एक एव – शृङ्गार:, परन्तु तत्प्रतिपादनरीतिस्तु सुतरां भिन्ना एव इति मया दृष्टपूर्वा। एकस्य एव काव्यस्य पठने मनुजानां भिन्ना एव भवति पठनशैली, तद्भिन्नत्वात् रसानुभव: अपि नितरां भिद्यत एव, तस्मात् अनुभवैकगोचरत्वं विद्यते रसस्यास्य, अनुभवेन विना शृङ्गाररस: केवलं शुष्कताम् एति न तु रसताम् एव।

तथा च – अत्र काचित् जिज्ञासा उदेति यत् – रसानुभव: कस्य? नाम – शरीरस्य? मनस:? बुद्धे:? आत्मन: वा? शरीरस्य जडत्वात् रसानुभव: शरीरस्य न – यथा – भूरिश्रवस: मृतदेहे शृङ्गारकरुणयो: विरोध:। मनस: सङ्कल्पविकल्पात्मकत्वात् रसानुभव: मनस: न, बुद्धे: निश्चयधर्मत्वात् रसानुभव: बुद्धे: न, आत्मन: सुख- दु:खगुणत्वात् आत्मन एव रसानुभव: सिद्धो भवति। आत्मन: प्रयत्नादि – गुणत्वात् सदैव सुखान्वेषणमिति आत्मन: कार्यम्। पुनश्च तत्रापि आत्मविस्मृति: यदा तदैव आनन्दानुभूति: – रसानुभूतिश्च सिद्ध्यति। रसानुभूतौ शरीरं केवलम् एकं साधनम् एव, मनोऽपि साधनम् एव, बुद्धिरपि साधनम् एव। आत्मा तु रसानुभवी। अत्र साधकस्तु आत्मा – साधनन्तु शरीर-मनो-बुद्धय: – साध्यस्तु रस:।

उक्तञ्च – रसो वै स: रसस्य अनुभवैकवेद्यत्वात् रसानुभवे अनुभव एव प्रमाणम्। 'रसमयम् इदं जगत्' ब्रह्मण: सृष्टौ सर्वेष्वपि वस्तुषु रस एव स्थितो वर्तते, स च रस: केवलं रसिकेन एव अनुभूयते परमात्मन: आनन्दस्वरूपत्वात् प्रत्येकस्मिन् अपि पदार्थे कश्चन आनन्दविशेष वर्तत एव इत्यत्र नास्ति संशयलेशोऽपि, तर्हि यत्र आनन्दविशेष: तत्र अस्ति कश्चन रस:, रसानुभवे आनन्दस्य खलु आविर्भाव:, आत्मविस्मृति: आनन्द इति उक्तत्वात् रसानन्द इति सिद्धम्। एवं रस: सत्वगुणोपेत:, अखण्ड:, आनन्दमय:, ज्ञानस्वरूप:, स्वत: प्रकाशमान:, वेद्यान्तरसम्पर्करहित:, ब्रह्मसाक्षात्कारसदृश:, अलौकिक: जीवनरूपश्चायं परमानन्दात्मक:।

शोधच्छात्र:
कर्नाटकसंस्कृतविश्वविद्यालय:
बेङ्गलूरु

संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद:
2. तैत्तिरीयोपनिषद्
3. मम्मटाचार्यकृतकाव्यप्रकाश:
4. विश्वनाथकृतसाहित्यदर्पण: – 3.2.3
5. काव्यप्रकाश:
6. भरतमुनिकृतनाट्यशास्त्रम्
7. आनन्दवर्धनाचार्यकृतध्वन्यालोक:
8. अभिनवगुप्तकृताभिनवभारतीटीका
9. महिमभट्टकृतव्यक्तिविवेक:
10. अग्निपुराणम्
11. पण्डितराजजगन्नाथकृतरसगङ्गाधर:
12. भट्टेन्दुराजस्य पद्यम्

आधारग्रन्था: –

1. भरतकृतनाट्यशास्त्रम्
2. अभिनवगुप्तकृतलोचनटीका
3. विश्वनाथकृतसाहित्यदर्पण:
4. मम्मटकृतकाव्यप्रकाश:
5. पण्डितजगन्नाथकृतरसगङ्गाधर:
6. अग्निपुराणम्
7. आनन्दवर्धनाचार्यकृतध्वन्यालोक:
8. महिमभट्टकृतव्यक्तिविवेक:
9. ऋग्वेद:
10. तैत्तिरीयोपनिषत्

'अंधायुग' में आधुनिकताबोध और प्रयोगधर्मिता

आराधना तिवारी

'अंधायुग' नई कविता आंदोलन के दौरान लिखा गया एक खण्ड काव्य है। इसमें समकालीन जीवन के मूल्यगत विभ्रम को महाभारतकालीन कथा के बीच से अंकित किया गया है। नाटक और जीवन के बुनियादी प्रश्नों को उठाया गया है। आस्था, सत्य, मर्यादा, नैतिकता जैसी परंपरित शब्दावली से जूझकर कवि ने नये युग-बोध को विकसित करने का प्रयत्न किया है। मानवीय व्यक्तित्व की सुरक्षा और उसके स्वच्छंद विकास की मूल वस्तु नई कविता के इस दृश्य-काव्य में कृष्ण की विराटता से लेकर प्रहरियों की अकिंचनता तक में व्यक्त हुई है।[1] रचना की वास्तविक शक्ति कृष्ण, अश्वत्थामा, गांधारी के चरित्रों के त्रिकोण से उपजती है। इसका रचना विधान परंपरागत माध्यमों और उनके वर्गीकरण के संदर्भ में संश्लिष्ट है तो जाहिर है कि वह रचनाकार के मन में उमड़ते-घुमड़ते बुनियादी सवालों और भाषा तथा संवेदना के जटिलतर होते संबंधों के साथ उभरा है। वृत्त के स्तर पर भी महाभारतकालीन कथानक और उसकी समकालीन संस्कृति यहाँ एक साथ जुड़ी है। यदि इस विधान को उसकी समग्रता में समझने का यत्न किया जाए तो लगेगा कि परंपरागत भारतीय महाकाव्य की उदात्तता और पश्चिमी नाटक, विशेषत: ट्रैजडी के संघर्ष का तीखापन एक साथ यहाँ कृष्ण और अश्वत्थामा के विरोधी युग्म को स्थापित करता है। युयुत्सु में समकालीन दुविधाग्रस्थ मानव मन की पहचान है। इन सबके बीच आस्था की खोज है जिसके प्रतीक कृष्ण हैं। आस्था की प्रक्रिया संपूर्ण रचना की आंतरिक क्रिया-प्रतिक्रिया से जुड़ी है न कि किसी निरपेक्ष बनी बनाई स्थिति, मूल्य या कि चरित्र से। आस्था विकसित होती है तो समग्र अंधा युग में से जहाँ अनास्था का भी तिरस्कार नहीं, उसकी अपनी स्थिति है। गांधारी की कटुता को सँवारते हुए विदुर अपने प्रभु कृष्ण को संबोधित करके कहते हैं-

आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन?[2]

'अंधायुग' के कथानक का मूल स्रोत तो महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाएं ही हैं। धर्मवीर भारती ने अधिक संख्या में पौराणिक पात्र ही लिए हैं। धर्मवीर भारती 'अंधायुग' की भूमिका में यह स्वीकार भी करते हैं-''केवल कुछ ही तत्व 'उत्पाद्य' हैं-कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएं। प्राचीन पद्धति भी इनकी अनुमति देती है। दो पहरी, जो घटनाओं और स्थितियों पर अपनी व्याख्याएं देते चलते हैं, बहुत कुछ ग्रीक कोरस के निम्न वर्ग के पात्रों की भांति हैं, किन्तु उनका अपना प्रतीकात्मक महत्व भी है। कृष्ण के वधकर्ता का नाम 'धरा' था, ऐसा भागवत में भी मिलता है। लेखक ने उसे वृद्ध याचक की प्रेतकाया मान लिया है।''[3]

'अंधायुग' में महाभारत की कथा के उस मर्म बिन्दु का चुनाव किया गया है जो युद्धोत्तर काल में व्याप्त निराशा, कुण्ठा, अनास्था, निरर्थकता, पराजय की भावनाओं से ओत-प्रोत है। ठीक यही स्थिति द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त आधुनिक युग में परिलक्षित हो रही थी। भय,

संशय, मृत्युबोध, निराशा, निरर्थकता और अनास्था के स्वर तत्कालीन समाज में व्याप्त थे। भारती जी ने 'अंधायुग' में इन्हीं से जूझते हुए मानव मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया है। भारती ने इस कृति में वर्तमान जीवन में व्याप्त विसंगतियों के साथ-साथ विघटित मानव मूल्यों एवं कुचली मर्यादाओं का सशक्त चित्रण किया है। युद्ध की ताण्डव लीला मानव मन में व्याप्त सत्य, शिव और सुंदर को कुचल देती है। शेष बचती है—अनास्था, निराशा, प्रतिशोध, त्रास, स्वार्थपरता, रक्तपात, विध्वंस, कुरूपता, बर्बरता एवं पशुता की भावनाएं। महाभारत की घटनाओं को कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किया है कि उनकी संगति आधुनिक युग की विसंगतियों से ठीक-ठीक बैठ जाती है। हर युद्ध के बाद 'अंधायुग' ही अवतरित होता है, चाहे वह महाभारत का युद्ध हो या आधुनिक समय का विश्वयुद्ध। युद्ध के बाद बचती है मन में अश्वत्थामा की पशुता, बर्बरता और प्रतिशोध, संजय की अकर्मण्यता, विदुर का संशय, युयुत्सु की अनास्था, गांधारी की चिंता।[4] इतिहास अपने को दोहराता है। चाहे महाभारत हो या आधुनिक युद्ध। मानव के मन में युद्ध के प्रति वितृष्णा का भाव पैदा होता है। युद्ध में मानव मूल्यों का विघटन होता है, मर्यादाओं को तोड़ा जाता है। अन्धकार युग आता है जिसमें पुरुष-स्त्री सब मूल्यहीन हो जाते हैं—

युद्धोपरान्त
वह अन्धायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियां, मनोवृत्तियां, आत्माएं सब विकृत हैं
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित।[5]

आधुनिक युगबोध की अभिव्यक्ति भी 'अंधायुग' के लेखक का उद्देश्य है। इसी कारण कथा में प्रतीकात्मकता का निर्वाह हुआ है। इस कथा का सामंजस्य जब वर्तमान समय से होता है, तब यह कथा केवल प्रतीक बनकर रह जाती है। धर्मवीर भारती ने इस तथ्य का उद्घाटन भी 'अंधायुग' में किया है कि चाहे सत्य का वरण करो, चाहे असत्य का, अन्त में पीड़ा ही भोगनी पड़ती है। युयुत्सु ने अपने कौरव भाइयों को छोड़कर पाण्डव पक्ष में रहकर सत्य का साथ दिया पर उसे क्या मिला—गांधारी का तिरस्कार, भीम के द्वारा अपमान, सबकी लांछना तथा आत्महत्या की विवशता। युद्ध के बाद विचारमग्न युधिष्ठिर युयुत्सु की इस स्थिति के बारे में सोच रहे हैं—

भोगी है उसने ही यातना
अपने ही बंधुजनों के विरुद्ध
जीवन का दांव लगा देना
पर अन्त में विश्वास टूट जाना
लांछन पाना
और वह भी न कर पाना
किया जो नरपशु अश्वत्थामा ने[6]

युद्ध जिन मूल्यों के लिए लड़ा जाता है, उन मूल्यों का ह्रास भी उसी युद्ध में होता है। इसी प्रकार जिस सत्य की रक्षा और अन्याय, अत्याचार का विनाश करने के लिए युद्ध को अंगीकार किया जाता है, वह युद्ध के बाद भी जस का तस रहता है। प्रजा यह अनुभव करती है कि हम जैसे पहले थे, वैसे ही अब भी हैं। शासक भले ही बदल जाएं पर परिस्थितियाँ अपरिवर्तित रहती हैं। 'अंधायुग' के दोनों प्रहरी जो सामान्य जन के प्रतीक हैं। परस्पर वार्तालाप करते हुए कहते हैं—

कोई विक्षिप्त हुआ
कोई शापग्रस्त हुआ
हम जैसे पहले थे
वैसे ही अब भी हैं
शासक बदले हैं
स्थितियां बिल्कुल वैसी ही हैं।[7]

यही है इस युद्ध की परिणति जो मनुष्य की आस्था को समाप्त कर अनास्था को जन्म देती है और उसके मन में आत्मघाती प्रवृत्तियाँ घर कर लेती हैं। पराजित व्यक्ति से मानवता की आशा करना संभव नहीं है। अश्वत्थामा भी इसी मन:स्थिति में पहुँच चुका है—

उस दिन से मैं हूँ
पशु मात्र, अन्ध, बर्बर, पशु
किंतु आज मैं भी एक अन्धी गुफा में हूँ
भटक गया।[8]

गांधारी की दुविधा यह है कि एक तरह वह पुत्र मोह में युद्ध से मना भी नहीं करती, दूसरी ओर उसे पाण्डवों की शक्ति का भय भी है। आधुनिक महत्वाकांक्षी नारियों की भांति गांधारी भी स्वार्थी हो जाती है। वह सारा राज्य अपने पुत्र को दिलवाना चाहती है। वह चाहती नहीं है कि पाण्डवों को कुछ भी साम्राज्य मिले। आधुनिक नारियों की

तरह वह अपने पुत्र मोह में सत्य, न्याय, नैतिकता और नीति को भूल जाती है। वह अपने आँख की तरह अपनी बुद्धि पर भी पर्दा डाल लेती है और युद्ध को टालने की बजाय और बढ़ाने का काम करती है। वह कृष्ण के समझाने पर उन्हें ही गलत साबित करती है। अतिशय स्वार्थपरता की वजह से वह सब कुछ खो देती है–पुत्र भी, साम्राज्य भी। इसी को अनुभव करके युधिष्ठिर भी जीतने के बाद भी खुद को हारा हुआ अनुभव करते हैं। वह कहते हैं–

ऐसे भयानक युद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है।[9]

सत्य यही है कि युद्ध में कोई विजयी नहीं होता। जिन मूल्यों के लिए युद्ध लड़ा जाता है, उन्हीं को तहस-नहस कर दिया जाता है। सत्य, धर्म, मर्यादा किसी भी पक्ष में स्थिर नहीं रह पाती। अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित मानव अपने भीतर के मनुष्यत्व को खो देता है और वह सभी मर्यादाओं का उल्लंघन कर देता है–

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा।[10]

अंधायुग एक प्रयोगधर्मी गीतिनाट्य है। इसकी रचना में भारती जी ने शिल्प प्रयोग किया है। इसे खण्ड काव्य भी कहा जाता है पर इसकी रचना रंगमंच को ध्यान में रखकर की गई थी। धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, संजय, युयुत्सु, गांधारी सब प्रतीकात्मक पात्र हैं। संजय की तटस्थता उसकी व्यर्थता भी प्रमाणित करती है। संजय उस आधुनिक मानव का प्रतीक है जो मर्यादा, नैतिकता, सत्य को खण्डित होते हुए तटस्थ भाव से देखता हुआ अपनी व्यर्थता को प्रमाणित कर रहा है। 'अंधायुग' में एक प्रयोग और भी है, वह है इसे काव्य और नाटक के बीच की रचना के रूप में प्रतिष्ठित करना। संजय कहता है कि–

मैं दोपहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा चक्र हूँ।
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता।[11]

मनोवेगों और मन:स्थितियों की तीव्र एवं सशक्त व्यंजना के लिए प्रश्नवाचक वाक्यों, उक्तियों, विस्मयादिबोधक चिन्हों, वाक्य की लम्बाई को छोटा-बड़ा करने जैसे उपायों का आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए प्रहरी के मन में व्याप्त 'भय' की व्यंजना निम्न कथन में हुई है–

झुक जाओ
झुक जाओ
ढालों के नीचे
छिप जाओ
नरभक्षी हैं
ये गिद्ध भूखे हैं।[12]

यहाँ कवि की रचना समस्या अपने विराट संदर्भ में उभरती है जिससे वह 'अंधायुग' में बार-बार टकराता है–आस्था-अनास्था के बीच अंतर और संबंध क्या है? अश्वत्थामा, युयुत्सु और माता गांधारी, केन्द्र में कृष्ण को प्रभु और पुत्र दोनों रूपों में रखकर इस बुनियादी सवाल से जूझते हैं। 'अंधायुग' के कृष्ण में प्रभु की दिव्य महिमा है या महापुरुष की लौकिक शक्ति? यह प्रश्न बार-बार उठता है। आस्था का विराट रूप के साथ व्यक्तिगत संबंध है। कवि यहाँ हत्या, कूटनीति, षड्यंत्र तथा युद्ध के घात-प्रतिघात के बीच इस संबंध और उसकी प्रक्रिया को ही समझना चाहता है। अंधायुग बनाम आस्था–पूरी रचना का संघर्ष यही है। आधुनिक कविता का यह अपने में अपराजेय समर है।[13]

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
जयप्रकाश विश्वविद्यालय
छपरा, बिहार

संदर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृष्ठ-240
2. वही, पृष्ठ-241
3. हिंदी नाटक और रंगमंच : नई दिशाएं, नए प्रश्न-गिरीश रस्तोगी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 1999, पृष्ठ-58
4. आलोचना (पत्रिका), जनवरी से मार्च, 2002, पृष्ठ-78
5. अंधायुग-धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, नई

दिल्ली, 2008, पृष्ठ–22

6. आजकल (पत्रिका), जुलाई, 2012, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृष्ठ–42
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास–सं. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल, मयूर पेपरबैक, नोयडा, 2014, पृष्ठ–670
8. अंधायुग–धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ–26
9. वही, पृष्ठ–28
10. वही, पृष्ठ–30
11. हिंदी नाटक और रंगमंच : नई दिशाएं, नए प्रश्न–गिरीश रस्तोगी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 1999, पृष्ठ–60
12. अंधायुग–धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ–34
13. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास–रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृष्ठ–242

Ramjatton Kirthee Devi

कारक तथा कर्ता का पर्यायवाचित्व एवं सम्प्रदानादि कारकों में भी कर्तृत्व की उपस्थिति

कारक शब्द की निष्पत्ति 'कृ' धातु से 'ण्वुल्तृचौ'[1] सूत्र से 'ण्वुल्' प्रत्यय के विधान के फलस्वरूप होती है। 'कृ' धातु से ही 'तृच्' प्रत्यय का विधान भी 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र द्वारा होकर 'कर्ता' शब्द निष्पन्न होता है। इस दृष्टि से 'कारक' शब्द 'कर्ता' शब्द का पर्यायवाची सिद्ध होता है। अपि च कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान अधिकरण आदि सभी कारकों में कर्तृत्व विद्यमान रहता है।

वस्तुत: प्रत्येक कारक स्वनिष्ठ क्रिया की निष्पत्ति में कर्तृत्य से युक्त होता है।[2] 'पच्' इत्यादि प्रधान क्रिया की निष्पत्ति प्रत्येक कारक के कर्तृत्व के द्वारा निष्पन्न तत्कारकनिष्ठ 'क्रिया' के भेद से होती है।[3] तात्पर्य यह कि विभिन्न कारकों में विद्यमान विभिन्न क्रियाएँ प्रधान क्रिया के साथ स्वसम्बन्ध के द्वारा प्रधान क्रिया की निष्पत्ति करती हैं। प्रत्येक कारक में कर्तृत्व अर्थात् स्वनिष्ठ क्रिया की निष्पत्ति का स्वातन्त्र्य विद्यमान होने पर ही वह प्रधान क्रिया की निष्पत्ति में समर्थ होता है। यदि कारक में स्वक्रिया सम्बन्धी कर्तृत्व विद्यमान न हो तो कर्ता के समीप होने पर भी परतन्त्र अवस्था में वह प्रधान क्रिया की निष्पत्ति नहीं कर सकता।[4] 'ओदनं पचतीति'–इस उदाहरण वाक्य में अधिश्रयण, उदकासेचन, तण्डुलावेपन, एधोपकर्षण इत्यादि सभी क्रियाओं का उद्देश्य प्रधान क्रिया 'पाक' की निष्पत्ति है।[5] ये सभी क्रियाएँ विभिन्न सम्बन्धों के द्वारा प्रधान क्रिया से सम्बन्धित होकर समूहरूप में प्रधान क्रिया की निपत्ति करती है।

विभिन्न कारकों में विद्यमान कर्तृत्व को 'स्थालीपुलाक' न्याय से निम्न उदाहरणों के द्वारा विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है।

(i) कर्ता-कारक में विद्यमान कर्तृत्व का विवेचन

कर्ता कारक में कर्तृत्व स्वक्रिया की दृष्टि से तथा समूहरूप में प्रधान क्रिया की निष्पत्ति की दृष्टि से सर्वदा विद्यमान रहता है। यथा–'देवदत्तश्छिनत्ति'–इस उदाहरण वाक्य में परशुनिष्ठ व्यापार उद्यमन निपतन को देवदत्त निष्पादित करता है। तदनन्तर छेदन–क्रिया निष्पन्न होती है। इस प्रकार काष्ठ में होने वाला छेदन अर्थात् द्वैधीभाव 'देवदत्त' के अधीन होने के कारण देवदत्त में छेदन क्रिया का कर्तृत्व विद्यमान रहता है।[6]

(ii) कर्म-कारक में विद्यमान कर्तृत्व का विवेचन

कर्म–कारक में कर्तृत्व की अवधारणा 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिय:'[7] – इस सूत्र से सिद्ध होती है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'कर्म में स्थित जो क्रिया होती है, उसके साथ तुल्य क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् (कर्म के समान) हो जाता है।[8]

वस्तुत: जहाँ क्रिया के द्वारा होने वाला व्यापारविशेष कर्म में हो, वहाँ क्रिया कर्मस्थ होती है, यथा–'पच्यते ओदन:' उदाहरण में पाक क्रिया के द्वारा निष्पन्न होने वाला गलनत्व (विक्लित्ति) कर्म 'ओदन' में निष्पन्न होती है। अत: क्रिया कर्मस्थ है। जब कर्म को कर्ता बनाया जाता

है, तब जो क्रिया कर्मदशा में होती है, वहीं कर्तृदशा में भी होती है। ऐसे तुल्य क्रिया-स्थलों में कर्मवद्भाव होता है।

करण कारक में विद्यमान कर्तृत्व का विवेचन

'एधा: पक्ष्यन्ति' - प्रकृत उदाहरण वाक्य में 'एधा:' पाक-क्रिया का करणत्व सम्बन्ध से निर्वर्तक है। परन्तु ज्वलन-क्रिया का प्रेरक होने के कारण 'एधा:' पद में ज्वलन-क्रिया का कर्तृत्व विद्यमान है। अत: यद्यपि प्रधान क्रिया-'पाक' (विकिलति) की निष्पत्ति में करणत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित है तथापि 'एधा:' पद में ज्वलन क्रिया का कर्तृत्व विद्यमान है।[9]

'(देवदत्त:) परशुना छिनत्तीति' - इस उदाहरण वाक्य में छेदन-क्रिया का प्रेरक होने से 'देवदत्त' शब्द में कर्तृत्व तथा छेदन-क्रिया के प्रति साधकतम होने से 'परशु' शब्द में करणत्व विद्यमान है। परन्तु काष्ठ तथा परशु के संयोगोपरान्त होने वाले द्वैधीभाव का प्रेरक होने से 'परशु' में कर्तृत्व विद्यमान है।

यदि 'परशुना छिनत्तीति'-उदाहरण वाक्य में परशु की अपेक्षा उद्यमन-निपातन को कारण माना जाए तो काष्ठ के ऊपर परशु के समान 'तृण' का भी उद्यमन-निपातन होने से काष्ठ का द्वैधीभाव होना चाहिए, जो कि नहीं होता। अत: काष्ठ के द्वैधीभाव होने में 'परशु' की तैक्ष्ण्यता में ही कर्तृत्व विद्यमान है न कि उद्यमन अथवा निपातन में।[10]

सम्प्रदान कारक में विद्यमान कर्तृत्व का विवेचन

'ब्राह्मणाय ददाति' - इस उदाहरण वाक्य में ब्राह्मण जो कि सम्प्रदान के स्वीकर्ता के रूप में होने वाले गौण व्यापार का जनक (कर्ता) है इसलिए उसमें सम्प्रदानरूप कारक (कर्तृत्व) का व्यवहार सर्वथा उचित है। परन्तु प्रकृत उदाहरण वाक्य में दूसरे सम्प्रदान से भिन्न अर्थ की प्रतीति न होने के कारण सम्प्रदान के अभाव में स्वीकर्ता के स्वीकार करने के व्यापार का भी अभाव रहता है, और अन्य किसी रूप में देने की क्रिया से सम्बद्ध न होने के कारण 'ब्राह्मण' उस व्यापार का किसी भी रूप में जनक नहीं बनता। अत: 'ब्राह्मणो ददाति' - यह प्रयोग उचित नहीं है।[11]

अपादान कारक में विद्यमान कर्तृत्व का विवेचन

'ग्रामादागच्छतीति' - प्रकृत उदाहरण वाक्य में 'ग्राम' जोकि अपादान की अवधि- भूतरूप में होने वाले गौण व्यापार का जनक (कर्ता) है, इसलिए उसमें कारक (कर्तृत्व) का व्यवहार सर्वथा उचित है। परन्तु 'ग्रामाद् आगच्छति' - इस उदाहरण में यदि ग्राम शब्द में अपादानत्व के अतिरिक्त किसी प्रकार से क्रिया की सम्बद्धता या जनकता को देखा जाए तो वह वहाँ किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। इस प्रकार दूसरे अर्थ की प्रतीति न होने के कारण अपादान के अभाव में 'ग्राम' उसका जनक नहीं बनता। अत: ग्राम शब्द में कर्तृत्व के अभाव में 'ग्रामाद् आगच्छति' के स्थान पर 'ग्राम: आगच्छति' प्रयोग उचित नहीं है।[12]

अधिकरण कारक में विद्यमान कर्तृत्व का विवेचन

'स्थाली पचतीति' - इस उदाहरण वाक्य में 'स्थाली' यद्यपि 'पचति' क्रिया-पद से अधिकरण सम्बन्ध से सम्बन्धित है तथापि 'संभवन' - क्रिया अर्थात् होने वाली 'गलनत्व'-क्रिया के आश्रयभूत ओदन आदि को 'धारण'-क्रिया की निष्पत्ति में स्वतन्त्र होने के कारण स्थाली में 'संभवन' एवं 'धारण' - दोनों क्रियाओं का कर्तृत्व विद्यमान है। वस्तुत: सम्पूर्ण संभवन-क्रिया की समाप्ति पर्यन्त स्थाली स्थिर होने के कारण तथा उसे आधार प्रदान करने के कारण ही उसमें कर्तृत्व विद्यमान है।[13]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि इस प्रकार स्वव्यापार के अनुष्ठान के बिना कोई भी कारक प्रधान क्रिया की निष्पत्ति में सहायक नहीं हो सकता।[14] सभी कारकों में स्वनिष्ठ क्रिया को निष्पन्न करते समय स्वतन्त्रता विवक्षित होने पर कर्तृसंज्ञा होती है, यथा-'स्थाली पचतीति'।[15] परन्तु जब स्थाली के स्वनिष्ठ व्यापार के प्रति उसकी स्वतन्त्रता विवक्षित नहीं होगी तो देवदत्त आदि प्रधानकर्ता के आश्रित होने से स्थाली की परतन्त्रता की स्थिति में ओदन कर्म का आश्रय होने से वह ओदन कर्म के द्वारा पाक क्रिया का आश्रय बनती है। इस प्रकार उसके अधिकरणत्व की विवक्षा होने पर 'स्थाल्यां पचति' प्रयोग होता है।

इस प्रकार पारतन्त्र्य की विवक्षा में अर्थात् प्रधान क्रिया की निष्पत्ति में यद्यपि वाक्य का प्रत्येक घटकतत्व (कारक) स्वनिष्ठ क्रिया का निष्पादक होने से स्वतन्त्र होता है तथापि वह प्रधान कर्ता के अधीन होने के कारण स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में समर्थ नहीं होता। जैसे–अमात्य यद्यपि स्वकार्य करने में स्वतन्त्र होते हैं तथापि राजा के समीप होने पर वे स्वकार्यों में प्रवृत्त नहीं होते।[16] ठीक इसी प्रकार वाक्य में विद्यमान विभिन्न कारक मुख्य कर्ता के न होने पर या उसकी अविवक्षा में स्वतन्त्र होते हैं, जबकि समवाय अर्थात् कर्ता की उपस्थिति में अथवा विवक्षा होने पर परतन्त्र होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वनिष्ठ क्रिया की निष्पत्ति की दृष्टि से प्रत्येक कारक में कर्तृत्व विद्यमान होता है। जबकि प्रधान क्रिया की निष्पत्ति की दृष्टि से प्रत्येक घटक (कारक) के द्वारा अलग-अलग व्यापार की अपेक्षा होने पर उन्हें करण इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।[17, 18]

M.A. Sanskrit, M.A. Hindi,
B.A. (Hons.) Sanskrit,
B.A. (Hons.) Hindi,
Diploma in Sanskrit

संदर्भ सूची

1. पाणिनि, अष्टाध्यायी, 3.1.133
2. सिद्धं तु प्रतिकारकं क्रियाभेदात् कर्तृभावः। – पतञ्जलि, म.भा., पृ. 7
3. पचादीनां हि प्रतिकारकं क्रिया भिद्यते। – वही, पृ. 7
4. स्वव्यापारे सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्तदनुष्ठानद्वारेण प्रधानक्रियायामुपयोगात्कर्तृसंनिधावपि स्वव्यापारस्यानिवर्तनात् पारतन्त्र्यावस्थायामप्यनिवृतं कारकत्वम्। – कैयट, प्रदीप, पृ. 8
5. अधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनैधोपकर्षणक्रियाः प्रधानस्य कर्तुः पाकः। – पतञ्जलि, म. भा., पृ. 8
6. उद्यमननिपातनाभिकुर्वन्देवदत्तश्छिनत्तीत्युच्यते। तत्र तदा छिदिर्वर्तते। एष प्रधानकर्तुश्छेदः। एतत्प्रधानकर्तुः कर्तृत्वम्। – पतञ्जलि, म.भा., पृ. 9
7. पाणिनि, अ., 3.1.87
8. कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात्। – दीक्षित, भट्टोजि, सि. कौ., पृ. 610
9. एधाः पक्षन्त्या विक्लितेर्ज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रियां कुर्वन्ति काष्ठानि पचन्तीत्युच्यन्ते। तत्र तदा पचिर्वर्तते। एष करणस्य पाकः। एतत्करणस्य कर्तृत्वम्। – पतञ्जलि, म.भा., पृ. 9
10. यत्समान उद्यमने निपातने च परशुना छिद्यते न तृणेन, तत्परशोश्छेदनम्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। – वही, पृ. 10
11. ब्राह्मणाय ददातीत्यर्थे ब्राह्मणो ददातीति प्रयोगाभावः। – कैयट, प्रदीप, पृ. 11
12. ग्राम आगच्छतीत्यर्थान्तरावगमादपादानव्यापारानवसायत् प्रयोगभावः। – वही
13. द्रोणं पचतीति संभवनक्रियां धारणक्रियां च कुर्वती स्थली पचतीत्युच्यते। स्थिरत्वादा क्रियासमाप्तेस्तण्डुलानां धारणमित्यर्थः। तत्र तदा पचिर्वर्तते एषो अधिकरणस्य पाकः। एतदधिकरणस्य कर्तृत्वम्। – पतञ्जलि, म.भा., पृ. 8
14. स्वव्यापारानुष्ठानमन्तरेण प्रधानक्रियायामुपयोगाभावात्। – कैयट, प्रदीप, पृ. 11
15. उद्भूत स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृसंज्ञा यथा स्थाली पचतीति। – वही
16. प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा व्यवाये स्वतन्त्रा। तद्यथा अमात्यादीनां राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यवाये स्वातन्त्र्यम्। – पतञ्जलि, म.भा., पृ. 11
17. निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके। व्यापारभेदपेक्षायां करणत्वादि संभवः। – दीक्षित, हरि, लघुशब्दरत्न, पृ. 121
18. सर्वेषां स्वस्वव्यापारद्वारा स्वातन्त्र्येनैव क्रियाजनकत्वात्कर्तृत्वेन कारकत्वम्। – सरस्वती, जिनेन्द्र, त. बो., पृ. 157

शोध-पत्र

वर्तमान मीडिया का समाजशास्त्र एवं दलित

डॉ॰ गुरनाम सिंह

आज के दौर की मीडिया भी जोर-शोर से आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद पर बहस करती नजर आती है लेकिन 'जाति-उन्मूलन' जैसे विषय को केन्द्र में नहीं आने देती है, इस मुद्दे को ढ़कने के लिए गरीबी उन्मूलन जैसे विषय पर बहस चलाती है। वर्तमान में इस मीडिया के पन्ने, रीले, कैसटे आदि फिल्म जगत, व्यापार जगत, खेल जगत से जुड़े मुद्दों को अधिक तरजीह देते हैं लेकिन जाति-विनाश, अन्तर्जातीय-विवाह एवं सामाजिक-मुक्ति के पक्ष को गौण रखना चाहते हैं। देखा जाए तो इसके पीछे जरूर कोई बड़ी मानसिकता काम कर रही है। इसका पर्दाफाश 'मीडिया' की समाजशास्त्रीय व्याख्या के बिना संभव नहीं है। मीडिया का समाजशास्त्रीय अध्ययन करके ही हम मीडिया और समाज के आपसी रिश्तों/संबंधों की पड़ताल कर सकते हैं।

'मीडिया' भारतीय लोकतंत्र की सबसे मजबूत स्तम्भ मानी जाती है। भारतीय लोकतंत्र के तीन अन्य स्तम्भों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की विसंगतियों को उजागर करना भी इसका दायित्व है। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या मीडिया वास्तव में अपने दायित्व का निर्वाह करने में सक्षम है? क्या आज की 'मीडिया' भारत के आम आदमी, बहुसंख्यक शोषित समाज या दलित समाज हित में अपने को व्यक्त करती है? ऐसा लगता है कि भारतीय मीडिया चाहे वह प्रिंट/इलैक्ट्रानिक दलित सवालों को लेकर बहुत अधिक गम्भीर नहीं है, वास्तव में इसके दो कारण स्पष्ट नजर आते हैं। पहला यह कि इसका नियंत्रण समाज के उच्च सवर्ण लोगों के हाथ में है। दूसरी वास्तविकता यह पूरी तरह से पूंजीपतियों की गिरफ्त में है। भारतीय लोकमानस में एक कहावत है 'जिसकी बंदरिया वही नचाये।' यह सच्चाई वर्तमान मीडिया पर पूरी तरह लागू होती है। जिस वर्ग और जाति के हाथों में 'मीडिया' का कारोबार है वह उसी के हितों की प्रवक्ता एवं संरक्षण करेगी। जिसे चाहे धूल चटा दे, जिसे चाहे रातों रात हाइलाइट कर दे। 'मीडिया' अपने अनुसार खेल खेलती रही है। मीडिया की मानसिकता पर विचार करें तो डॉ॰ अम्बेडकर ने स्वाधीनता आन्दोलन के समय दलितों की आजादी की बात उठाई तो मीडिया ने कहा अम्बेडकर स्वाधीनता आन्दोलन को भटकाना चाहते हैं। स्वाधीनता जैसे गम्भीर मुद्दे को छोड़कर 'दलित-आजादी'[1] एवं 'अस्पृश्यता'[2] जैसे गैर-जरूरी मुद्दे को उठा रहे हैं। उस समय की मीडिया अपनी पढ़ी-लिखी द्विज जनता में यह संदेश फैलाना चाहती थी कि अम्बेडकर राष्ट्रद्रोह का काम कर रहे हैं। इस संबंध में पत्रकारिता पर डॉ॰ अम्बेडकर ने कई आरोप लगाये जिसका जिक्र डॉ॰ श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपनी पुस्तक 'गांधी-अम्बेडकर हरिजन-जनता' में किया है।[3]

उस समय के 'राष्ट्रीय अखबारों ने गोलमेज सम्मेलन (लंदन 1931) के समय मुझे दलित आजादी एवं अस्पृश्यता पर आवाज उठाने की बजाए राष्ट्रहित में अडंगा डालने वाला देशद्रोही करार देने का षड्यंत्र रचा था।'[4] डॉ॰ अम्बेडकर के कथन रेखांकित करते हैं कि 'मीडिया' ने उनके साथ कैसा बर्ताव किया। आधुनिकता की बात करने वाली 'मीडिया' जातिवादी सोच से मुक्त नहीं हो पायी।

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

गुलामी सिर्फ राजनीतिक ही नहीं होती सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक भी होती है। दलितों की आवाज को 'मीडिया' तरजीह क्यों नहीं देती? जबकि मीडिया का काम लाखों दबे-कुचले लोगों की आवाज को सामने लाना है। बकौल मनिका चोपड़ा 'आजादी के अनुपात में दलित पत्रकार काफी कम तादात में हैं। संख्या कम होने के कारण उनकी आवाज कभी अर्थपूर्ण ढंग से सामने नहीं आ पाती क्योंकि पूरा मीडिया उच्च जाति के लोगों से भरा पड़ा है।'[5] जाहिर है 'मीडिया' पर जिस वर्ग या जाति का नियंत्रण होगा वह उसकी संरक्षण करेगी। इस संबंध में 2006 में स्वतंत्र पत्रकार अनिल चमड़िया, जीतेन्द्र कुमार और योगेन्द्र यादव ने मिलकर दिल्ली के राष्ट्रीय मीडिया कहलाने वाले सैंतीस बड़े अखबार, पत्रिकाओं और टी॰वी॰ चैनलों आदि के शीर्ष पदों पर विराजमान 315 पत्रकारों की सामाजिक पृष्ठभूमि का समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण किया। इस समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण के नतीजों से कुछ तथ्य निकलकर सामने आए हैं-'भारत की राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति किस प्रकार संचालित होगी? भारत की आन्तरिक और बाह्य समस्याएँ क्या हैं? भारत का भूत क्या है? वर्तमान कैसा है? भविष्य कैसा होगा? इसका निर्धारण राष्ट्रीय मीडिया कहलाने वाले संस्थाओं के महज गिने-चुने (315) पत्रकार करते हैं। इन पत्रकारों में 85 फीसदी सवर्ण पत्रकार हैं, जिनकी भारत में आबादी 16 फीसदी है। इन 315 में दलित आदिवासी समाज का एक भी पत्रकार नहीं है। भूतकाल के इन तथ्यों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हैं तो भारतीय समाज की विविधता राष्ट्रीय मीडिया के शीर्षस्थ पत्रकारों में प्रतिबिम्बित नहीं होता। राष्ट्रीय मीडिया में दलितों की भागेदारी नगण्य है, अगर दलित समाज में पैदा हुआ एक भी व्यक्ति अपनी बात स्पष्ट और स्वतंत्र तरीके से राष्ट्रीय स्तर पर नहीं उठा सकता। अगर कोई अपनी बात उठाता भी है तो उसे मीडिया 'सेंसर बोर्ड' से होकर गुजरना पड़ता है। मीडिया में दलित भागेदारी काफी सीमित है। इस सीमित भागेदारी से उन्हें उस मछली की स्थिति में ला देता है, जिसे पानी से बाहर निकाल फेंका गया हो।'[6] बाजार के इस कठिन दौर में 'मीडिया' पूरी तरह पूंजीपतियों की गिरफ्त में। इस बाजारवादी युग में बिकने और खरीदने वालों की होड़ सी लगी है। इस स्थिति विज्ञापन के लिए न कोई धन है और न कोई संसाधन जिसके लिए मीडिया नत-मस्तक होता है। ऐसे में भला दलितों की आवाज को क्यों उठायेगी? बाजार से पैसा कैसे खींचना है, मीडिया को यह अच्छी तरह पता है क्योंकि मीडिया का मैनेजमेंट अपने स्वघोषित एक्सपर्ट प्रत्येक विषय पर अपनी एडवाइज देते हैं। लोकतंत्र में जनमत तैयार करने का महत्त्वपूर्ण काम 'मीडिया' करती है। भारतीय सन्दर्भों में इस मीडिया की भूमिका दलितों के प्रति नकारात्मक। राष्ट्रीय मीडिया में दलितों की जरूरी भागीदारी न होने के वजह से दलित समस्या एक राष्ट्रीय समस्या बनकर नहीं उभर पा रही है। दलित समस्या को राष्ट्रीय समस्या बनाने के लिए स्वतंत्र दलित मीडिया की स्थापना एक चुनौती है। दलित क्या सभी बुद्धिजीवियों की दृष्टि में 'मीडिया' वही है जो सामाजिक गुलामी को समाप्त करने के लिए सामाजिक परिवर्तन की एक लहर चलाए।

वास्तव में भारतीय मीडिया के लिए उच्चवर्णीय सांस्कृतिक सरोकर तो महत्त्वपूर्ण है परंतु हाशिए के समाज के सपने उसके अकेलेपन और संघर्ष को दिखाने का कोई समय नहीं है। वैकल्पिक राजनीति और वैकल्पिक संस्कृति के सवाल तो जैसे मीडिया के लिए कोई मुद्दा ही नहीं है। इसीलिए बहुसंख्य समाज की उच्चवर्णीय संस्कृति को पोषित और महिमामंडित करने का काम मीडिया कर रहा है। एन॰डी॰टी॰वी॰ के प्रसिद्ध पत्रकार रवीश कुमार अपने लेख-'एबसेंट दलित : द इंडिया न्यूज रूम' में बहुत विस्तार से इस बात को दिखाते हैं कि 'किस प्रकार से मीडिया में जाति एक बड़ी भूमिका निभाती है। वे मीडिया में उपस्थित जातिवाद की सूक्ष्म महों को उजागर करते हैं। वे मीडिया में मध्यवर्ग की सांस्कृतिक अधिपत्य का अर्थ है कि करवा चौथ, लोहड़ी और यहां तक कि धन लक्ष्मी जैसे व्रत त्यौहार के विषय में बोला और लिखा जाता है। लेकिन अंबेडकर जयंती, वाल्मीकि जयंती या रविदास जयंती पर एक बहरी चुप्पी रहती है।'[7] रवीश कुमार मीडिया में जाति आधारित विविधता की कमी को बहुत गंभीर समस्या कहते हैं। वे मानते हैं कि यह समस्या मात्र मेरिट की नहीं है समस्या कहीं गहरी उस मानसिकता की जिसके कारण मीडिया में दलितों का प्रतिनिधित्व हो ही नहीं पाता।

आदिवासियों के प्रश्नों पर तो आम तौर पर मीडिया की चुप्पी देखी ही जा सकती है। मीडिया में आदिवासियों के चित्र तभी दिखाए जाते हैं जबकि या तो प्रधानमंत्री राज्य का दौरा कर रहे हों और उसके सामने आदिवासी संस्कृति

की कुछ झलक प्रस्तुत करनी हो या फिर किसी आंदोलन में अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ते हुए उनमें से कुछ मारे जाते हैं। यदि आप मुख्यधारा के मीडिया में ढूंढने जाएं तो मुश्किल से ही कुछ लोग ऐसे होंगे जिन्हें वास्तव में आदिवासियों के मुद्दों की समझ होगी। आदिवासियों की अपनी जो पत्रिकाएं भी निकलती हैं। वे सभी बहुत छोटे स्तरों पर निकल रही है। इन्हें व्यावसायिक रूप से सफल बनाने के लिए विज्ञापन भी नहीं मिलते हैं। जिसकी वजह से ये पत्र-पत्रिकाएं भी बहुत लंबे समय तक नहीं निकल पाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वैकल्पिक मीडिया का स्थान बहुत आसानी से मुख्यधारा का मीडिया ले लेता है।

क्या करें? आज हिंदी में दलितों के सवालों को लेकर दलित दस्तक मूकवक्ता जैसी अनेक पत्रिकाएं निकल रही हैं। जिनमें अनेक प्रगतिशील पत्रकार अपना योगदान देते हैं। पर यह भी सच है कि आज इनका सर्वेक्षण और विश्लेषण करने पर इनका सर्कुलेशन बहुत कम है। अब मीडिया का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने पर पता चलता है कि दलितों की समस्याओं को मीडिया मुख्यधारा में क्यों नहीं लाता। मीडिया को इन दलितों की सांस्कृतिक-बौद्धिक लड़ाई की ओर भी अधिक ध्यान देना होगा। वैकल्पिक मीडिया का काम यह होगा कि वह इन मुद्दों को आम जनता के बीच में लाए जिन्हें या तो मुख्यधारा मीडिया छोड़ देता है या फिर उन्हें ठीक से प्रस्तुत नहीं करता। आज का शिक्षित दलित युवा तकनीक के क्षेत्र में खूब काम कर रहा है।

इस 'दलित मीडिया' की आवश्यकता आज बड़ी शिद्दत से महसूस की जा रही है, उसको स्थापित करने का पहला प्रयास डॉ॰ अम्बेडकर ने किया था। डॉ॰ अम्बेडकर ने अपने आन्दोलन की शुरुआत 1918 में नागपुर में 'अनटचेबल्स-कांफ्रेंस' के आयोजन से की। इस मीडिया के दायरे में 'मूकनायक' (साप्ताहिक) उनका पहला चेतना पत्र/जनसामान्य में चेतना प्रवाहित करने के लिए इन पत्र-पत्रिकाएँ का आन्दोलन की शिराएँ के रूप में अहम् योगदान रहता है।

अम्बेडकर युग के बाद आज के दौर में 'दलित साहित्य' एवं विमर्श को केन्द्र में रखकर अनेक पत्र पत्रिकाओं का संपादन हो रहा है जिसमें से काफी समय से अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं का संपादन अन्य वर्गों के हाथों में है जिनमें दलित हितों के संरक्षण की बात पूरी शिद्दत से नहीं आ पाती क्योंकि उनका नियंता कोई और है। वर्तमान में कुछ पत्र-पत्रिकाएँ दलितों द्वारा संपादित की जा रही हैं। जिनको अर्थाभाव के कारण सही कलेवर नहीं मिल पा रहा है। सही कलेवर और अर्थाभाव के कारण इनका दायरा भी बहुत सीमित है। बहुत कड़ी मेहनत एवं संघर्ष के बाद केवल दो-तीन साल तक ये पत्रिकाएँ चलती भी हैं तो इनके अंक समय पर प्रिंट नहीं होते, जिससे पाठक तक पहुंचने में देर हो जाती है। 21वीं सदी के भारत में दलितों का अपना कोई मीडिया चैनल भी नहीं है। निष्कर्षता कहा जा सकता है कि दलितों की अपनी कोई राष्ट्रीय मीडिया नहीं है क्योंकि मीडिया में दलित भागेदारी काफी सीमित है।

एसो॰ प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
आई॰बी॰ (पी॰जी॰) महाविद्यालय,
पानीपत

सन्दर्भ सूची

1. डॉ॰ यशवन्त वीरोदय, हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा, नव भारत प्रकाशन, 2010, पृ॰ 155
2. वही, पृ॰ 155
3. श्यौराज सिंह 'बेचैन', गांधी-अम्बेडकर हरिजन-जनता, समता प्रकाशन, दिल्ली संस्करण, 2001, पृ॰ 86
4. वही
5. मनिका चोपड़ा, लेख आरक्षित आग्रहों का कवरेज, पुस्तक मण्डल 2, दुसाध प्रकाशन, 2006, पृ॰ 225
6. ईश कुमार गंगानिया, 'दलित आइने में मीडिया : सच की तस्वीर', पुस्तक - भारतीय दलित साहित्य - संपादक पुन्नी सिंह, नई दिल्ली-110002, सं॰ 2003, पृ॰ 79
7. http://www.indiaseminar.com/2015/672/672_ravish-kumar.html

शोध-पत्र

वेदों में सृष्टि विचार

डॉ. प्रीति कौशिक

सारांश :

'वेदों में सृष्टि विचार' इस लेख के अन्तर्गत इस जगत् की सृष्टि प्रक्रिया एवं हेतु को स्पष्ट करने के लिए ऋग्वेद और यजुर्वेद में उच्चारित सृष्टि विषयक मन्त्रों पर गहन चिन्तन किया गया है। यजुर्वेद में ब्रह्म को इस संसार का सृष्टा स्वीकार किया है। नारायण सूक्त के अनुसार परम पुरूष परमात्मा इस सृष्टि के उत्पादक, पालक और संहारक हैं। हिरण्यगर्भ सूक्त, पुरूष सूक्त और नासदीय सूक्त के अध्ययन के बिना सृष्टि पर विचार करना असम्भव है।

जागतिक सृष्टि का मूल सर्वप्रथम वेद में ही प्राप्त किया जाता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में सृष्टि-प्रक्रिया विशदरूपेण वर्णित है। भारतीय और वैदेशिक सभी ज्ञान के इच्छुक वेदों की महिमा से परिचित हैं। ऋग्वेद में सृष्टि प्रक्रिया बहुधा प्राप्त की जाती है। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ सूक्त, पुरूष सूक्त नासदीय सूक्त और श्रीनारायण सूक्त में प्रतिपादित संसार की सृष्टि अति विशदरूपेण वर्णित है। ऋग्वेद के ऋषि के मन में यह जिज्ञासा हुई कि इस जगत् की सृष्टि कैसे हुई, सृष्टि का कारण कौन था और क्या सृष्टि से पूर्व हवा, आसमान और सागर थे?

ऋग्वेद के दशम मण्डल का 129वां सूक्त-नासदीय सूक्त सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व की दशा एवं सृष्टि का ज्ञान प्रस्तुत करना है। नासदीय सूक्त के कुल सात मन्त्र हैं। इस सूक्त के प्रथम और द्वितीय मन्त्र में तो सृष्टि से पूर्व की स्थिति का परिचय देते हुए ऋषि का कथन है कि, सृष्टि से पूर्व न सत् था और न असत्, न स्वर्गलोक और न पाताललोक तथा न हवा थी, न आसमान और न उसके परे कुछ था, चारों ओर समुद्र की भांति गंभीर और गहन अन्धकार ही था।[1]

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अहन् आसीत्प्रकेतः।

इस संसार की रचना से पूर्व मृत्यु भी नहीं थी, न ही पृथ्वी पर कोई जीवन था और दिन-रात भी नहीं थे। उस समय केवल एक अनादि पदार्थ था, जिसे प्रकृति का नाम दिया गया। यहाँ अनादि से अभिप्राय है, जिसका आदि या आरम्भ न हो और जो सदा से चला आ रहा हो। नासदीय सूक्त के अनुसार आरम्भ में तो अन्धकार ही जल की तरह अनादि पदार्थ था जो रूप रहित था। उस आनादि पदार्थ में निरन्तर तप से वह परमात्मा रचयिता प्रकट हुए और सर्वप्रथम रचयिता के मन में जगत् की सृष्टि का विचार आया जो उत्पत्ति का पहला बीज था। तदनन्तर उस कामना रूपी बीज से निकली ऊर्जा की तरंगों ने प्रकृति के साथ मिलकर सृष्टि का आरम्भ किया।[2]

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।।

ऋग्वेद में दसवें मण्डल के अन्तर्गत सृष्टि प्रक्रिया का वैज्ञानिक रीति से निरूपण भी उल्लेखनीय है। प्रभु के अद्भुत और अनन्त सामर्थ्य ने वेदों को प्रकट किया और फिर प्रकृति को कार्यरूप प्रदान किया। परम प्रभु ने समुद्र की उत्पत्ति के उपरान्त सम्वत्सर और सूर्य तथा चन्द्रमा को उत्पन्न किया। एवञ्च सूर्य और चन्द्रमा से दिन-रात

बने। दिन-रात की गणना से ही सम्वत्सर की उत्पत्ति होती हैं। सृष्टि तीन भागों पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभाजित हैं। प्रभु के अनन्त तप से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय तथैव होती रहती है यथा हमारी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया सहजरूपेण चलती रहती है। ऋग्वेद के इस मन्त्र में सृष्टि विज्ञान विशेषतः अवलोकनीय हैं।[3]

ऋतं च सत्यं चाभीद्धोत्तपसोध्यजायत।
ततो रात्र्येजायत् ततः समुद्रोऽअर्णवः।
समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरोऽजायत।
अहोरात्राणि विदधद विश्ववस्य मिषतो वशी
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः

इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण ईश्वर को बताया गया है। वेदों के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पूर्व जन्म में सम्पादित कर्मों का फल भोगना स्पष्ट किया गया है। यह सत्य एवं यथार्थ सिद्धान्त है कि ईश्वर ने ही सृष्टि की उत्पति एवं प्रलय की। महर्षि दयानन्द जी द्वारा 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका में नासदीय सूक्त के अन्तर्गत प्रतिपादित सृष्टि और सृष्टि से पूर्व की स्थिति को अति सरलता से समझाने का प्रयास किया है। महर्षि दयानन्द के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व जगत् की कारण के रूप में एक सर्वशक्तिशाली परमेश्वर विद्यमान थे। उस समय असत् अथवा शून्य नाम आकाश भी नहीं था क्योंकि उसका व्यवहार ही नहीं था और न ही सत् अर्थात् सत्व रजस् तमस् तीनों को मिलाकर जो प्रधान कहलाता है वह भी नहीं था। परमेश्वर अनन्त है और उनका बनाया हुआ जगत् कुछ भी नहीं था।[3] महर्षि दयानन्द के मतानुसार जब जगत नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं थी क्योंकि जब स्थूल शरीर की उत्पत्ति होगी, तब तो शरीर का वियोग होगा।

इस संसार को रचने वाला परमात्मा ही जगत् के धारक, पालक और संहार कर्त्ता हैं। परमात्मा आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और प्रलय होने पर सम्पूर्ण जगत् परमेश्वर के सामर्थ्य में रहकर उन्हीं से उत्पन्न होता है।

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में भी नासदीय सूक्त के तृतीय और सातवें मन्त्र के भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है, यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व में अन्धकार से आक्त, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, अनन्त परमेश्वर के सामने आच्छादित था। तदनन्तर परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्यरूप में बदल दिया।

न केवल नासदीय सूक्त में अपितु पुरूष सूक्त में भी सृष्टि विषयक प्रश्न विशेषरूपेण विचारणीय हैं। नासदीय सूक्त के उपरान्त पुरूष सूक्त में ऋषि ने प्रश्न किया है- ''कासीत् प्रमा, प्रतिमा किं निदानम्'' अर्थात् इस सृष्टि की प्रभा क्या थी? किस प्रतिभा को आधार स्वीकार करके सृष्टिकर्त्ता ने इस जगत् की रचना की और किस उपकरण से संसार की सृष्टि सम्पन्न हुई। पुरूष सूक्त में इन तीनों प्रश्नों के उत्तर उल्लेखनीय है। यहाँ प्रतिमा से पुरूष का बोध होता हैं। विराट पुरूष से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई।[4]

ततो विराडजायत।

यह पिण्ड पुरूष ही प्रभा है। वैदिक जनों ने पुरूष को जगत् का स्रष्टा स्वीकार किया। पुरूष सूक्तानुसार रचित ब्रह्माण्ड और जो वर्तमान में ब्रह्माण्ड विराजमान है तथा भविष्य में जिस ब्रह्माण्ड की रचना होगी, सब विराट पुरूष ही है।[5]

पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्

इस सम्पूर्ण सृष्टि का श्रेय विराट पुरूष को ही समर्पित है। यही कारण है कि, यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे जैसी सूक्ति प्रसिद्ध हुई।

परम पुरूष तो इतने अधिक विराट हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आवृत्त करके भी दश अङ्गुल शेष रहते हैं। सहस्रो सिर वाले, सहस्रो नेत्र वाले और सहस्रो चरण वाले इस पुरूष के चार भाग हैं जिनमें से एक भाग में यह सारा संसार जड़ और चेतन समाहित है और इसके तीन भाग अन्तरिक्ष में निहित है।[6]

सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात्
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम

उस पुरूष ने सर्वप्रथम इस पृथ्वी को उत्पन्न किया।[7] तदनन्तर सभी शरीर धारण करने वालों को और वायुदेव से सम्बन्धित पशु हरिण, गौ, अश्वादि को उस परम पुरूष से न केवल जगत् की उत्पत्ति हुई प्रत्युत् ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्वेद की ऋचाओं का प्रकटीकरण भी हुआ। वैदिक काल में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यज्ञ में उस परम पुरूष का अभिषेक करके विराट पुरूष से ही यज्ञ का प्रादुर्भाव किया। विराट पुरूष के विभिन्न अङ्गों से विविध प्रकार की सृष्टि सम्पन्न हुई। पुरूष परमात्मा के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, कर्ण से वायु एवं प्राण तथा

मुख से अग्नि प्रकट हुई।[8]

ततो विराडजायत् विराजोऽधिपुरूषः।

स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः

एवञ्च परम पुरूष की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, चरणों से भूमि तथा कानों से दिशाएँ प्रकट हुई।

सर्वप्रथम तो परम पुरूष परमात्मा ने चन्द्रमा, सूर्य, वायु, प्राण और अग्नि को उत्पन्न किया जिनके अभाव में जीवन असम्भव था। परम पुरूष के अङ्गों से अन्तरिक्ष, द्युलोक, भूमि और दिशाओं का प्रकटीकरण उनके सृष्टि सामर्थ्य को स्पष्ट करता है। एक दिन परब्रह्म ने स्वयं को अनेक रूप में उत्पन्न करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु उनकी माया तो थी नही तब उन्होंने सत्व-रजस्-तमस् रूप वाली त्रिगुणात्मिका माया को जाया रूप में चयन किया।[9] एवञ्च ब्रह्म ने जगत् की रचना कर दी।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायते।।

विराट पुरूष का विभाजन करते हुए उसमें अनेक कल्पनाएँ की गई। पुरूष सूक्त में परम पुरूष के मुख से ब्राह्मण, दोनों भुजाओं से क्षत्रिय और दोनों जंघाओं से वैश्य तथा चरणों से शुद्र उत्पन्न हुए जिससे समाज में चतुर्विध वर्णो-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की उत्पत्ति हुई।[10]

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य तद्वैश्यः शूद्रो अजायते।।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सृष्टिकर्त्ता को परमात्मा परम पुरूष और हिरण्यगर्भ नाम से नामान्वित किया गया। हिरण्यगर्भ का शाब्दिक अर्थ है स्वर्णिम गर्भ वैदिक दर्शन में यदि यह विचार किया जाए कि सबसे आरम्भ में ब्रह्माण्ड में कौन था? तब यह कथन समुचित होगा कि सर्वारम्भ में तो हिरण्यगर्भ ही सभी प्राणियों का एक अधिपति था। हिरण्यगर्भ ही समस्त भूलोक, द्युलोक और अन्तरिक्ष का धारक है।[11] वैदिक दर्शन में ब्रह्माण्ड के निर्माण का स्रोत हिरण्यगर्भ हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकासीत्।

सदाधार पृथ्वी ध्यातुमेम् कस्मै देवाय हविषा विधामे।।

हिरण्यगर्भ सूक्त में सृष्टि के उस मूलतत्त्व को प्रश्नवाचक सर्वनाम किम् से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि उसका स्वरूप ज्ञात नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में भी प्रजापति को 'क' नाम से पुकारा गया है। ऋषि ने सृष्टिकर्त्ता के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा है कि, इस जगत् में समस्त प्राणियों को रचने वाला और उनका पालन-पोषण करने वाला तथा उनमें व्याप्त रहने वाला प्रजापति ही है अन्य कोई और नहीं।

पीटर्सन के अनुसार, ''हिरण्यगर्भ का अर्थ स्वर्ण बीज'' हैं। स्वर्ण बीज से सूर्य का बोध होता है। सभी देवताओं और मानव की उत्पत्ति का श्रेय सूर्य को प्राप्त होता है। इस प्रजापति ने इच्छा की, मैं अधिक होऊँ, मुझ से प्रजा उत्पन्न हो। एवञ्च उसने श्रम और तप करके सर्वप्रथम त्रयी विद्या और ब्रह्म को उत्पन्न किया। प्रजापति का भी एक वर्ष में जन्म हुआ और तब उसने बोलने की इच्छा होने पर भूः कहा, तब यह पृथिवी हुई और भुवः कहने पर अन्तरिक्ष और स्वः कहने पर आकाश अस्तित्व में आए। प्रजापति ने ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश को स्थापित किया।

प्राणदाता हिरण्यगर्भ तो इतने अधिक महान है कि देवता भी उनके आदेश को स्वीकार करते हैं। अमरता और मृत्यु भी हिरण्यगर्भ के आधीन रहते हैं, ये दोनों तो छाया के समान हिरण्यगर्भ के साथ-साथ रहते हैं।[12]

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्ये देवाः

यस्यं छायामृतं यस्येमृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

हिरण्यगर्भ दो पैरों वाले अर्थात् मनुष्यों का, चार पैरों वाले अर्थात् पशु वर्ग का अकेला ही राजा हो गया। हिरण्यगर्भ की महिमा का हिमाच्छादित पर्वतों एवं मिश्रित नदियों वाले सागरों में श्लाघनीय दर्शन होता है।[13]

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय, हविषा विधेम।।

ऋषियों ने प्रजापति अथवा देवता को ढूंढ निकाला! प्रजापति का शाब्दिक अर्थ है प्रजाओं का स्वामी। सृष्टिकर्त्ता देव के रूप में प्रजा का अर्थ सम्पूर्ण सृष्टि और पति का अर्थ सृष्टा होगा इस प्रकार प्रजापति में सृष्टि और सृष्टा दोनों ही निहित हैं। ब्रह्माण्ड दो प्रकार के तत्त्वों देवतत्त्व और भूततत्त्व से समन्वित हैं। इनमें देवतत्त्व अमरण धर्मा है तथा भूततत्त्व मरण धर्मा है प्रजापति में दोनों तत्त्व समाहित हैं। प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ को विश्व कर्मा नाम से भी अमिहित किया गया है। प्रजापति भी एक यज्ञकर्त्ता ही है जिसने जगत् की सृष्टि के लिए स्वयं की आहुति दी। ऋषि ने एक स्थान पर प्रजापति को होता और पिता के रूप में वर्णन किया है।

ऋग्वेद के अन्तर्गत नासदीय सूक्त, पुरूष सूक्त और हिरण्यगर्भ सूक्त के बाद नारायण सूक्त भी इस जगत् की सृष्टि के प्रशंसनीय परिचायक हैं। पुरूष सूक्त के पुरूष और श्रीनारायण सूक्त में निरूपित सृष्टिकर्त्ता परमात्मा के स्वरूप में समानता उल्लेखनीय हैं। यथा पुरूष सूक्त में ऋषि ने पुरूष देवता को हजारों सिर और हजारों नेत्रों वाला दर्शाया है तथैव नारायण सूक्त में भी परमात्मा को हजारों सिर और नेत्रों से सम्पन्न कहा गया है।[14]

सहस्र शीर्ष देवं विश्वाक्षं विश्ववंशभुवम्।

श्री नारायण सूक्त में ऋषि ने परम पुरूष परमात्मा को ब्रह्माण्ड कह दिया है। ऋषि के कथनानुसार यह सम्पूर्ण सृष्टि उनसे ही उपजी है और उन पर ही स्थित है।[15]

विश्वं एव इदं पुरूषः तद्विश्वं उपजीवति।

इस सृष्टि की उत्पत्ति करने वाले और पालन कर्त्ता और संहार करने वाले परमात्मा ही है। श्री नारायण सूक्त में उस नारायण के निवास स्थल का अति श्लाधनीय वर्णन करते हुए कहा है कि, वह श्री नारायण अधोमुखी कमल अर्थात् उलटे कमल के पुरूष के समान सभी जीवों के ह्रदय के आकाश में निवास करते हैं।[16]

अनन्तं अव्ययं कवि समुद्रेन्तं विश्वशंभुवम्।
पद्म कोश प्रतीकांश ह्रदयं च अपि अधोमुखम्।।

ऋषि ने श्री नारायण की निवास स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि कंठ से एक हाथ नीचे, और नाभि के ऊपर अर्थात्, उस ज्वाला (लौ) का निवास स्थल है।[17] यहाँ इस कथन का यह अभिप्राय है कि परमात्मा जीव के ह्रदय में ज्योति के रूप में निवास करते हैं।

अद्यो निष्ठया वितस्त्यान्ते नाम्याम् उपरि तिष्ठति।
ज्वालामालाकुलं भाती विश्वस्यातनं महत्।।

उपसंहार :

ऋग्वेद में नासदीयसूक्त के अन्तर्गत इस संसार की सृष्टि से पूर्व की दशा का प्रशंसनीय वर्णन है। पुरूष सूक्त में यह स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् की सृष्टि क्यों और कैसे सम्पन्न हुई। हिरण्यगर्भ सूक्त में ऋषि ने प्रजापति को सृष्टिकर्त्ता पालन-पोषण करने वाला तथा सभी प्राणियों में व्याप्त रहने वाला स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त श्री नारायण सूक्त में ऋषि ने परम पुरूष परमात्मा को ब्रह्माण्ड ही कह दिया है।

सहाचार्य,
जाकिर हुसैन, दिल्ली कॉलेज (सान्ध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. नासदीय सूक्त, 10-129 - 2
2. नासदीय सूक्त, 10-129 - 5
3. ऋग्वेद, 10-190-1- 3
4. यजुर्वेद, 31-1
5. यजुर्वेद, 31-2
6. यजुर्वेद, 31-1
7. यजुर्वेद, 31-1
8. यजुर्वेद, 31-12
9. अथर्वेद, 11-1
10. यजुर्वेद, 31-11
10 ऋग्वेद, 10-121-1
11. ऋग्वेद, 10-81-1
12. ऋग्वेद, 10-121-2
13. ऋग्वेद, 10-121-4
14. ऋग्वेद, 10-71-1
15. ऋग्वेद, 10-71-2
16. ऋग्वेद, 10-71-6
17. ऋग्वेद, 10-71-7

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद संहिता, डॉ. जियालाल काम्बोज, विद्यानिधि प्रकाशन, 2013
2. यजुर्वेद संहिता, डॉ. जियालाल काम्बोज, विद्यानिधि प्रकाशन, 2013

डॉ. समरेन्द्र कुमार

हिंदी फिल्मों में बनारस : पहचान, विरासत और मिथक का आधुनिक संदर्भ

बनारस विश्व के प्राचीनतम नगरों में एक है, लेकिन आज भी यह नगर उतना ही जीवंत है जितना सैकड़ों साल पहले था। बनारस भारतवर्ष की साझी विरासत का प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दू मतावलंबियों के लिए शिव की नगरी के विश्वास से यह आस्था और मोक्ष की भूमि है, तो बनारस के निकट स्थित सारनाथ के बौद्ध धर्म तथा संघ की स्थापना-स्थल होने से यह पावन है एवं तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मस्थली होने के कारण जैन धर्मावलंबियों के लिए भी यह पवित्र-स्थल है। प्रसिद्ध लेखक मार्क ट्वेन ने अपनी यात्रा-वृत्तांत विषयक पुस्तक 'फालोइंग दि इक्वैटर' में बनारस के लिए लिखा है, "Benaras is older than history, older than tradition, older even than legend, and looks twice as old as all of them put together!"[1]

बनारस धर्म, आध्यात्म, कला-संस्कृति और साहित्य की समृद्ध विरासत तथा परंपरा को अपने अंदर समेटे हुए है। सतत प्रवाहमान दीर्घ ऐतिहासिक यात्रा-काल में बनारस में कई परम्पराओं, मिथकों और विश्वासों का निर्माण हुआ, जो आज भी भारत की धार्मिक-सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न हिस्सा है। ये धार्मिक मान्यताएँ, सांस्कृतिक धरोहर और साहित्यिक परंपरा ऐतिहासिक महत्व की हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता है। बनारस अगर धर्म और धर्मशास्त्रों की व्याख्या करने वाले आचार्यों की नगरी रही है, तो धार्मिक कर्मकांड को चुनौती देने वाले कबीर जैसे संत की भूमि भी रही है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक शासन का विरोध करने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र, पं. मदन मोहन मालवीय जैसे युग-चेतना संपन्न महापुरुष भी इसी नगरी में हुए हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य की नींव भी यहीं पड़ी और भारतेंदु, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल सरीखे कालजयी रचनाकारों ने यहाँ की साहित्यिक परंपरा को समृद्ध किया।

बनारस की पृष्ठभूमि पर निर्मित फिल्में

भारतीय जनमानस के लिए फिल्म मनोरंजन का सर्वसुलभ और लोकप्रिय साधन रहा है। आरंभ से ही फिल्मों ने सभी तरह के लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया तथा उनके सुख-दुःख, आशा-निराशा और अन्य मनोभावों को आकार देकर उनकी स्मृतियों का हिस्सा बन गया। आरंभिक दौर में पौराणिक-ऐतिहासिक कहानियों पर आधारित फिल्मों के निर्माण से शुरू हुआ सिनेमा का सफर आज वैश्विक परिदृश्य और आधुनिक जीवन और संबंधों की जटिल समस्याओं के चित्रण तक पहुँच चुका है। फिल्म का एक कालखंड और निश्चित स्थान होता है, जो कथा-विन्यास में पृष्ठभूमि का काम करता है। कहानी की पृष्ठभूमि में बनारस की मौजूदगी भारत की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) में ही बताई जा सकती है, जिसका निर्माण दादा साहेब फाल्के ने किया था। आगे चलकर अनेक ऐसी फिल्में बनी हैं, जिसमें बनारस की महत्वपूर्ण उपस्थिति है। जब कभी धर्म, आध्यात्म, दार्शनिक ज्ञान या जातीय भेदभाव आदि पर आधारित कथानक को

सिनेमाई कलेवर देने की कोशिश हुई है, तब फिल्मकारों की दृष्टि बनारस की ओर गई है। बनारस की समृद्ध विरासत, गंगा घाटों और मंदिरों के बिंब, खान-पान और भाषाई संस्कृति के साथ यहाँ के जीवन में रची-बसी उन्मुक्त मौज-मस्ती के किस्से एक नॉस्टैलजिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं। सिर्फ हिंदी ही नहीं बल्कि बांग्ला, तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि भाषाओं की फिल्मों में भी बनारस कहानी की पृष्ठभूमि में मौजूद है।

वाटर (2005), बनारस (2006), लागा चुनरी में दाग (2007), धर्म (2007), यमला पगला दीवाना (2011), यमला पगला दीवाना-2 (2013), राँझना (2013), इसक (2013), मोहल्ला अस्सी (2015 में निर्मित), मसान (2015), मुक्ति भवन (2017), अंग्रेजी में कहते हैं (2017), मुल्क (2018), मुक्काबाज (2018), काशी (2018), दि लास्ट कलर (2019), सेटर्स (2019) आदि कुछ ऐसी फिल्में हैं, जिन्हें पूरी तरह बनारस में फिल्माया गया है या फिर कहानी के बहुत बड़े हिस्से में बनारस मौजूद है। बनारसी बाबू (1973), राम तेरी गंगा मैली (1985), घातक (1996), बनारसी बाबू (1997), बस इतना सा ख्वाब है (2001), बंटी और बबली (2005), बनारस (2006), लागा चुनरी में दाग (2007), जॉली एलएलबी-2 (2017), सुपर 30 (2019), मणिकर्णिका : द क्वीन ऑफ झाँसी (2019) आदि कुछ ऐसी फिल्में हैं, जिसके कुछ हिस्सों में बनारस के दृश्य हैं। इन फिल्मों में विशेष तौर पर बनारस की गलियों, घाटों, मंदिरों और गंगा नदी का दृश्य देखने को मिलता है, जिनसे यहाँ की पहचान निर्मित होती है।

फिल्मों में बनारस : विरासत और मिथक का आधुनिक संदर्भ

सन् 1985 में प्रदर्शित राजकपूर निर्देशित फिल्म 'राम तेरी गंगा मैली' में गंगा के प्रदूषित होने की कहानी को प्रतीकात्मक तरीके से दिखाया है। इस फिल्म में एक महत्वपूर्ण मोड़ पर बनारस की कहानी घटना को क्लाइमैक्स की ओर अग्रसर करती है। बनारस में आकर नायिका 'गंगा' एक पंडित की बुरी नीयत का शिकार होने से किसी भांति बचती है तो एक धूर्त व्यक्ति मणिलाल के चंगुल में फंस जाती है, जो उसे बनारस के कोठे पर बेच देता है। नायिका अपने पुत्र की खातिर वहाँ रहने के लिए मजबूर हो जाती है। यहीं उसे एक नेता भागवत चौधरी देखता है तथा मणिलाल को पैसे देकर उसे कलकत्ता लाने के लिए कहता है, जहाँ पहुँचने के बाद नायिका नाटकीय घटनाक्रम में नायक से मिलती है और फिल्म का एक सुखद अंत होता है। फिल्म में बनारस स्टेशन, गंगा नदी और घाट के दृश्यों को फिल्मांकित किया गया है।

फिल्म 'घातक' (1996) का नायक काशी (सन्नी देओल) बनारस का रहने वाला है। फिल्म में नायक का प्रवेश गंगा-स्नान और घाट पर मंदिर में शिव-पूजा के दृश्य के साथ होता है। आरंभिक कुछ दृश्य में बनारस के घाट और गंगा नदी का चित्रण है। इसके बाद कहानी मुंबई पहुँचती है, जहाँ काशी अपने पिता (अमरीश पुरी) का इलाज करवाने आता है। मुंबई में वह माफिया सरगना कात्या (डैनी डेंजोगप्पा) से टकरा जाता है। फिल्म के एक दृश्य में मुंबई पहुँचने के बाद अपने बड़े बेटे के घर जाते समय रास्ते में अमरीश पुरी टैक्सी ड्राईवर से कहता है, ''पाप धुलाने के लिए आपको बनारस आना पड़ेगा, गंगा नहाना पड़ेगा, आप वहाँ आईये, हम आपको हरिश्चंद्र के घाट पर पूजा करवाकर स्नान करवा देंगे, समझे।''[2] फिल्म के कुछ अन्य दृश्यों में भी बनारस के मूल्यों और संस्कारों को संवादों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

वर्ष 2005 में आई दीपा मेहता निर्देशित फिल्म 'वाटर' बनारस पर बनी फिल्मों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें बनारस के विधवा आश्रमों में रहने वाली महिलाओं की व्यथा और पीड़ा को अत्यंत मार्मिक तरीके से दिखाया गया है। फिल्म सन् 1938 के काल-खंड में स्थित है तथा विधवा स्त्रियों के जीवन, उनकी पारिवारिक-सामाजिक स्थिति तथा रूढ़िवादी जड़ प्रथाओं को बहुत करीब से दिखाती है। कुछ समूहों के विरोध के कारण फिल्म की शूटिंग बनारस में नहीं हो पाई, लेकिन फिल्म देखते हुए इसकी कमी महसूस नहीं होती है। फिल्म धार्मिक मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाती है और विधवा-स्त्रियों के लिए मानवीय गरिमा के साथ जीवन जीने के अधिकार के प्रश्न को उठाती है।

वर्ष 2006 में प्रदर्शित फिल्म 'बनारस' की कहानी आध्यात्मिक भाव-बोध और मानवीय स्वभाव के विभिन्न अंतर्विरोधों के इर्द-गिर्द बुनी गई है। उच्च वर्ण और

अत्यंत समृद्ध परिवार की श्वेताम्बरी (उर्मिला मातोंडकर) सोहम (अश्मित पटेल) से प्रेम करती है। सोहम घाट पर मिला हुआ बच्चा है, जिसका पालन-पोषण वहाँ झाड़ू लगाने वाली एक स्त्री करती है। बाबाजी (नसीरुद्दीन शाह) उसे आध्यात्मिक शिक्षा देते हैं। श्वेताम्बरी के माता-पिता शादी के लिए तैयार नहीं होते; लेकिन फिर यह सोचकर कि वह निम्न जाति का नहीं बल्कि अज्ञात जाति का है और दादी के साथ उसका कोई खून का रिश्ता नहीं है, सोहम के साथ औपचारिक रूप से उसकी सगाई करवा देते हैं। अचानक एक दिन सोहम के हत्या की सूचना मिलती है, यह खबर श्वेताम्बरी के लिए अत्यंत पीड़ादायक होता है। अपने दु:ख में वह एकाकी हो जाती है। उसके पिता अपने बचपन के दोस्त मनोचिकित्सक डॉ. गोपाल भट्टाचार्य से इलाज के लिए कहते हैं। एक दिन श्वेतांबरी को पता चल जाता है कि सोहम की मौत के लिए कौन जिम्मेदार है, लेकिन इस राज को अपने भीतर छुपाये हुए वह बनारस छोड़कर बंबई चली जाती है और एक आध्यात्मिक उपचारक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करती है। फिल्म में बनारस की धार्मिक-दार्शनिक चिंतन को संवादों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। फिल्म जातिगत भेदभाव, रूढ़िवादी मानसिकता, परंपरागत मूल्यों और सोच को उद्घाटित करती है। फिल्म बनारस की सांस्कृतिक विरासत को भी सामने लाती है।

बनारस को केंद्र में रखकर बनी फिल्मों में वर्ष 2007 में प्रदर्शित भावना तलवार निर्देशित फिल्म 'धर्म' अत्यंत महत्वपूर्ण है। फिल्म में पंकज कपूर, सुप्रिया पाठक, हृषिता भट्ट, पंकज त्रिपाठी आदि ने अभिनय किया है। यह फिल्म धर्म के वास्तविक स्वरूप की खोज करती है। इसमें बनारस के अत्यंत प्रतिष्ठित और विद्वान कर्मकांडी ब्राह्मण पंडित चतुर्वेदी (पंकज कपूर) की कहानी है, जो अपना जीवन पारंपरिक धार्मिक रीति-रिवाजों और नियमों के अनुसार बिताते हैं। एक दिन उनकी बेटी वेदिका (अनन्या त्रिपाठी) एक शिशु को लेकर घर आ जाती है, जिसे एक स्त्री उसके हाथों में सौंप कर कहीं चली गई। उनकी पत्नी पार्वती (सुप्रिया पाठक) और बेटी उस बच्चे का पालन-पोषण करने लगते हैं, बाद में पंडितजी भी भावनात्मक रूप से बच्चे से जुड़ जाते हैं। उनके जीवन में तब एक मोड़ आता है जब उस बच्चे की माँ, जो मुस्लिम है, लौटती है और कहती है कि सांप्रदायिक दंगों के दौरान उन्होंने इस बच्चे को खो दिया था। पंडित जी का परिवार लड़के को उसकी माँ को वापस कर देता है। लेकिन पंडित चतुर्वेदी एक मुस्लिम के संपर्क के कारण अपने शरीर, मन और आत्मा को पवित्र करने के लिए शुद्धिकरण प्रक्रिया में जुट जाते हैं। जब वे शुद्धि के लिए चंद्रायण व्रत के पूर्णाहुति में लगे होते हैं और उन्हें लगता है कि वह पूरी तरह से शुद्ध हो गए हैं ठीक इसी समय बनारस में सांप्रदायिक दंगे शुरू हो जाते हैं, उस बच्चे को बचा लेने की याचना करती उसकी माँ पंडितजी के घर पहुँचती है। फिल्म के अंत में पंडित चतुर्वेदी बच्चे को बचाने के लिए दंगाग्रस्त इलाके में पहुँचते हैं, जहाँ उनका सामना दंगाइयों की भीड़ का नेतृत्व कर रहे सूर्यप्रकाश, पंडित दयाशंकर आदि से होता है, पंडित चतुर्वेदी हिंसा को घोर अपराध बताते हैं। बच्चे को मारने की बात कहता हुआ सूर्यप्रकाश जब आगे बढ़ता है, तब वे उसे रोकते हुए कहते हैं, "जन्म से हमने तुम्हें धर्म की शिक्षा दी है सूर्यप्रकाश, अधर्म के रास्ते पर नहीं चलने देंगे।....आज हमें ज्ञात हुआ, धर्म केवल साधना नहीं कर्तव्य भी है, कर्म भी है। एकता और सद्भावना है धर्म, भेदभाव को त्यागना है धर्म, मानवता है धर्म।"[3] चारों ओर आगजनी, रक्तपात और हिंसक भीड़ की ओर देखते हुए वे कहते हैं कि यह धर्म नहीं है और उस बच्चे को गोद में उठाकर को उस जगह से निकल जाते हैं। फिल्म सांप्रदायिक सद्भाव के संदेश के साथ समाप्त होती है। यह फिल्म सूर्यप्रकाश के चरित्र के माध्यम से स्त्रियों के प्रति पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता और दृष्टि को भी सामने लाती है। कट्टरपंथी संगठन किस प्रकार लोगों की धार्मिक भावना का दोहन कर उसे उन्मादी हिंसक भीड़ में बदल देती है, इसे भी फिल्म बखूबी उद्घाटित करती है।

प्रदीप सरकार द्वारा निर्देशित फिल्म 'लागा चुनरी में दाग' (2007) में एक स्त्री के त्याग और संघर्ष को दिखाया गया है। रानी मुखर्जी, जया बच्चन, अभिषेक बच्चन, कोंकणा सेन शर्मा आदि ने इसमें अभिनय किया है। फिल्म की कहानी अपेक्षित ढर्रे पर चलती है। अपने परिवार की आर्थिक कठिनाइयों को देखते हुए बड़ी बेटी 'बड़की' मुंबई जाने का फैसला करती है, लेकिन दसवीं पास 'बड़की' को कोई नौकरी नहीं मिलती। अपने परिवार

की जरूरत को पूरा करने के लिए वह अपने जिस्म का ही सौदा करने के लिए मजबूर हो जाती है और 'बड़की' से 'नताशा' बन जाती है। फिल्म 'इसक' (2013) की कहानी विलियम शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'रोमियो जूलिएट' पर आधारित है। कहानी की पृष्ठभूमि बनारस रखी गई है। कहानी दो परिवारों की आपसी रंजिश और बालू के धंधे पर वर्चस्व स्थापित पर आधारित है। फिल्म के एक दृश्य में नायिका को कक्षा में जयशंकर प्रसाद की रचना 'कामायनी'[4] की पंक्तियों का पाठ करते हुए दिखाया गया है।

फिल्म 'राँझना' (2013) की कहानी का बहुत बड़ा हिस्सा बनारस में घटित होता है। कुंदन (धनुष) जब बचपन में पहली बार जोया (सोनम कपूर) को देखता है, तो उसे उससे प्यार हो जाता है। कुंदन का यह प्रेम स्कूल में आकर और बढ़ता है और आखिरकार जोया भी उससे प्यार करने लगती है। लेकिन इसका पता चलते ही जोया के परिवार वाले उसे अलीगढ़ भेज देते हैं। कुंदन और जोया अलग-अलग शहरों में बड़े होते हैं। बाद में जोया दिल्ली जाकर जेएनयू में पढ़ाई में लग जाती है, वहीं कुंदन जोया के प्यार में डूबा हुआ उसका इंतजार करता है। जब वापस बनारस आने पर जोया कुंदन को बताती है कि वह जेएनयू में साथ में पढ़ने वाले अकरम से प्यार करती है, तो यह जानकर कुंदन बहुत दुखी हो जाता है। फिर हालात कुछ ऐसे बनते हैं कि कुंदन की वजह से ही अकरम की मौत हो जाती है और जोया कुंदन से नफरत करने लगती है। कुंदन को अपनी भूल का अहसास होता है। वह जोया के सपने को पूरा करने में उसका साथ देने की कोशिश करता है। लेकिन जोया कुंदन को हर वक्त नजरंदाज करती है। जोया कुंदन के निस्वार्थ प्यार को समझ नहीं पाती है। अंत में, कुंदन की मौत हो जाती है।

फिल्म 'मसान' (2015) की पूरी कहानी बनारस में केन्द्रित है। मसान का अर्थ होता है- श्मशान घाट, जहाँ शवों का अंतिम संस्कार होता है। फिल्म में जीवन की जटिलताओं को अत्यंत संवेदनशील ढंग से दिखाया गया है। फिल्म सामाजिक विषमताओं और जातिगत भेदभाव के साथ-साथ पुलिस-प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को सामने लाती है। फिल्म में दो कहानियाँ समानांतर रूप में चलती हैं और अंत में जाकर जुड़ जाती हैं। एक कहानी देवी (रिचा चड्ढा) की है, जिसे पुलिस उसके दोस्त पीयूष के साथ होटल में आपत्तिजनक अवस्था में पकड़ लेती है। उसका दोस्त शर्मिंदगी से बचने के लिए आत्महत्या कर लेता है। पुलिस इंस्पेक्टर देवी और उसके पिता को धमकी देता है कि अगर तीन महीने के अंदर उसे तीन लाख रूपये नहीं दिये गए तो वह उसकी वीडियो सोशल मीडिया पर डाल देगा। फिल्म पिता और पुत्री के संबंधों की जटिलताओं को भी सामने लाती है, पिता को सामाजिक मान-मर्यादा की चिंता है और इसके लिए वह कर्ज लेकर भी पुलिस वालों को तीन लाख रुपये देने के लिए तैयार हो जाता है। देवी के चरित्र में दृढ़ता है, वह आत्मनिर्भर है, अपनी आइडेंटिटी को लेकर सजग है और अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीने की दिशा में आगे बढ़ती है।

'मसान' में दूसरी कहानी दीपक (विक्की कौशल) की चलती है, जो अस्पृश्य डोम जाति का है और जिसका पूरा परिवार गंगा किनारे हरिश्चंद्र घाट पर शवों के अंतिम संस्कार का पुश्तैनी काम करता है। दीपक इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहा है, साथ ही वह घाट पर शवों के अंतिम संस्कार में अपने परिवार का हाथ भी बँटाता है। लेकिन उसके पिता की इच्छा है कि वह इस तरह के जीवन से बाहर निकल जाए, फिल्म के एक दृश्य में पिता उससे कहते हैं, ''निकल जाओ, अच्छा है। जितना जल्दी निकल जाओ उतना अच्छा है। नाहीं तो तोहरा जिंदगी मुरदा फूकत-फूकत यहीं खतम हो जाई।''[5] दीपक शालू से प्रेम करता है, जो उच्च वर्ण की है। अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में बात करने को लेकर वह असमंजस में रहता है क्योंकि उसे लगता है कि कहीं असलियत जानकार शालू उससे दूर न चली जाए। लेकिन एक दिन गुस्से में वह बोलता है, ''हम हरिश्चंद्र घाट पर रहते हैं, पैदा भी वहीं हुए थे। लकड़ी उठाना, मुर्दा जलाना यही काम करते हैं हम। हम क्या, हमारे बाप, भाई, चाचा, सब यही काम करते हैं।''[6] इसके बाद भी शालू उसके साथ अपना जीवन बिताने का फैसला ले लेती है। लेकिन इसके तुरंत बाद एक दुर्घटना में शालू की मौत हो जाती है, अंतिम संस्कार के लिए उसके शव को देखकर दीपक स्तब्ध रह जाता है। इस घटना के बाद उसके जीवन की दिशा बदल जाती है। फिल्म में दाह-संस्कार के कई दृश्य हैं, जो अत्यंत प्रामाणिक, यथार्थपरक और जीवंत बन पड़े

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

हैं, ऐसे दृश्य इससे पहले शायद ही किसी फिल्म में इस तरह से दिखाए गए होंगे। फिल्म में बनारस की गलियों, घाटों, सड़क और बाजार के दृश्य दिखाये गए हैं।

बनारस के बारे में मान्यता है कि यहाँ मृत्यु होने पर व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी मान्यता पर फिल्म 'मुक्ति भवन' (2017) आधारित है, जिसका निर्देशन शुभाशीष भूटियानी ने किया है। फिल्म मृत्यु जैसे गंभीर विषय को अत्यंत सहजता के साथ प्रस्तुत करते हुए पारिवारिक संबंधों की जटिलताओं और स्नेह को दिखाता है। पिता (ललित बहल) मोक्ष के लिए अपने जीवन के अंतिम दिन बनारस में बिताना चाहता है। वह अपने परिजनों से कहता है, "मुझे लगता है मेरा वक्त आ गया है और मैं मरने के लिए तैयार हूँ अब। पर मैं यहाँ नहीं मरना चाहता, बनारस चला जाऊँ।"[7] बनारस में वे एक गेस्ट हाउस 'मुक्ति भवन' में ठहरते हैं, लेकिन इस गेस्ट हाउस की एक शर्त है कि कमरा केवल पंद्रह दिनों के लिए दिया जाता है। पूरी फिल्म बनारस के गलियों, बाजारों, घाटों को बखूबी दिखाता है।

हरीश व्यास द्वारा निर्देशित फिल्म 'अंग्रेजी में कहते हैं' (2017) एक मध्यवर्गीय परिवार के दंपत्ति की कहानी है, जिनके विवाह के 24 वर्ष हो गए हैं। लेकिन इन वर्षो में यशवंत बत्रा (संजय मिश्रा) कभी भी अपने प्रेम को उस तरह से खुले रूप में अभिव्यक्त नहीं करता जैसा उसकी पत्नी किरण (एकावली खन्ना) चाहती है। एक दिन कुछ कहासुनी के बाद किरण घर छोड़कर चली जाती है, जिसके बाद यशवंत को अपने जीवन के अधूरेपन का बोध होता है। वह अपने प्रेम को प्रकट करने की कोशिश करता है और कुछ घटनाक्रम के बाद वह अपने प्रेम को अभिव्यक्त करता है। फिल्म मध्यवर्गीय परिवार के अंतर्द्वंद्व और दो अलग पीढ़ियों के प्रेम को व्यक्त करने के तरीके और सोच में बदलाव को सामने लाता है। फिल्म दो अलग-अलग पीढ़ियों के जीवन-मूल्यों और जीवन जीने के तरीके के अंतर को भी सामने लाता है और कहीं न कहीं समय के साथ अपने आपको बदलने का संदेश देता है। पूरी फिल्म बनारस में केंद्रित है और वहाँ की गलियों, सड़कों, घाटों और गंगा नदी के दृश्यों को फिल्मांकित किया गया है।

'मोहल्ला अस्सी' (2018) फिल्म की कहानी प्रसिद्ध साहित्यकार काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर आधारित है। फिल्म में 1988 से 1998 के बीच का घटनाक्रम दिखाया गया है। मोहल्ला अस्सी के ब्राह्मणों की बस्ती में धर्मनाथ पांडेय (सनी देओल) पत्नी (साक्षी तंवर) और बच्चों के साथ रहते हैं तथा जजमानों की कुंडली बनाने और बच्चों को संस्कृत की शिक्षा देने का काम करते हैं। उसकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है लेकिन वह नहीं चाहता कि मोहल्ले के ब्राह्मण अपने घरों में विदेशी लोगों को किराये पर रखें। उसके विरोध के कारण कोई चाहकर भी ऐसा नहीं कर पाता। टूरिस्ट गाइड कन्नी गुरु (रवि किशन) बनारस आए विदेशी सैलानियों को घुमाता है और किराये पर मकान दिलाने का काम करता है। पप्पू के चाय की दुकान पर समकालीन राजनीतिक मुद्दों पर अलग-अलग विचारधारा के लोग एक साथ बैठकर गर्मागर्म बहस करते हैं, लेकिन इस बहस में कहीं वैमनस्य का भाव नहीं है। इस क्रम में नेताओं के नाम और राजनीतिक पार्टियों के नाम का भी उल्लेख होता है। मंदिर-मस्जिद का मुद्दा, धर्म और योग का बाजारीकरण, सांस्कृतिक पतन आदि की चर्चा के बीच भारत का बदलता परिवेश फिल्म में हमारे सामने आता है। 1990 के दशक में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक बदलाव के साथ ही जीवन-मूल्य में हो रहे बदलाव की ओर फिल्म में संकेत किया गया है। शिला-पूजन कार्यक्रम के बाद के तनाव भरे माहौल में अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति अविश्वास की भावना की ओर संकेत करता हुआ फिल्म में एक मुस्लिम पात्र कहता है, "मेरी सारी जिंदगी इसी मोहल्ले में बीती है। इसी मोहल्ले के बच्चों के साथ मैं खेला, बड़ा हुआ हूँ। यहाँ सभी लोग जानते भी हैं मुझे। रोजी-रोटी भी उन्हीं से चलती है, पूरा परिवार चलता है। मैं उनसे अलग नहीं हूँ। मैं वोट उसे ही दूँगा, जिसे मोहल्ला देना चाहता है। लेकिन मैं वोट दे भी दूँ, तब भी कोई विश्वास नहीं करेगा। बस, तकलीफ इसी से होती है।"[8]

'मुल्क' (2018) मुस्लिम समाज और आतंकवाद की समस्या के विषय पर आधारित एक संवेदनशील फिल्म है, जिसकी कहानी बनारस में चलती है। जिसमें मुख्य पात्र मुराद अली मोहम्मद (ऋषि कपूर) अपने परिवार और अपने भाई पर आतंकवादी होने के आरोप से मुक्ति की लड़ाई लड़ता है। मुराद के छोटे भाई बिलाल के बेटे

शाहिद का नाम इलाहाबाद में हुए बम विस्फोट में सामने आता है। इसके बाद पुलिस मुठभेड़ में उसे मार गिराती है। परिवार उसका शव लेने से इंकार कर देता है, लेकिन इसके बाद पूरा परिवार मुसीबत में फंस जाता है क्योंकि पुलिस-प्रशासन मुराद और बिलाल को भी आतंकवादी बताने लग जाता है। अपने आपको निर्दोष साबित करने के लिए मुराद को कोर्ट में जाना पड़ता है, जहाँ उसकी वकील बहू आरती (तापसी पन्नू) उसका साथ देती है। फिल्म बहुत सहज ढंग से गंभीर विषय को सामने लाती है और मुस्लिम समुदाय को लेकर समाज में रूढ़ हो चुकी सोच को खंडित करने की कोशिश करती है। फिल्म के एक दृश्य में मुराद के घर के बाहर जब लोग लिख देते हैं कि 'पाकिस्तान जाओ', तब मुस्लिम लोग भड़क जाते हैं। इस पर वह कहता है कि यदि कुछ मुस्लिम पाकिस्तान के मैच जीतने पर पटाखे फोड़ेंगे तो लोग ऐसा ही बोलेंगे। इसी तरह एक अन्य दृश्य में वह कहता है कि ''यह मेरा भी उतना ही घर है जितना कि आपका और अगर आप मेरी दाढ़ी और ओसामा बिन लादेन की दाढ़ी में फर्क नहीं कर पा रहे तो भी मुझे हक है सुन्नत निभाने का।''[9] फिल्म दर्शकों को यह संदेश देते हुए समाप्त होती है कि हमें अपने सोचने के तरीके को 'हमें और उन्हें' से 'हम' में बदलना चाहिए। फिल्म मुस्लिम समुदाय के प्रति समाज में व्याप्त मानसिकता को सामने लाते हुए धार्मिक समरसता और सौहार्द का संदेश देती है।

फिल्मों में बनारस की विरासत और पहचान के तत्व

बनारस की पहचान अपने गंगा-घाटों के लिए है, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, हरिश्चंद्र घाट आदि यहाँ के कुछ प्रसिद्ध घाट हैं। ये घाट यहाँ की समृद्ध धार्मिक-सांस्कृतिक विरासत और दैनिक जनजीवन का अंग है। बनारस की पृष्ठभूमि पर बनी कोई ऐसी फिल्म नहीं है, जिसमें गंगा-घाट का दृश्य नहीं हो। 'मसान' फिल्म की कहानी में घटना का महत्वपूर्ण हिस्सा घाट पर ही दिखाया गया है। इस फिल्म में हरिश्चंद्र घाट पर शवों के दाह-संस्कार का दृश्य अत्यंत स्वाभाविक और जीवंत रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसे ही एक दृश्य में फिल्म का नायक 'दीपक' अपनी प्रेमिका के शव को देखता है और उसे उसका अंतिम संस्कार करना पड़ता है। इसके बाद उसका पूरा जीवन ही बदल जाता है। 'धर्म' फिल्म में भी कई महत्वपूर्ण घटनाएं घाट पर ही घटित होते हैं। फिल्म के आरंभ में झाड़ू लगाने वाला व्यक्ति जब पंडित चतुर्वेदी से टकरा जाता है, तब लोग उस झाड़ू लगने वाले को पीटने लगते हैं और पंडित जी शुद्ध होने के लिए दुबारा स्नान करने के लिए वापस गंगा में जाते हैं। यहाँ भारतीय समाज में व्याप्त जातीय भेदभाव और अस्पृश्यता की समस्या को संकेत किया गया है।

अत्यंत प्राचीन शहर होने के कारण बनारस समृद्ध विरासत, परंपरा और संस्कृति का शहर है। सामाजिक और धार्मिक परंपराओं को आत्मसात करता हुआ बनारस अपनी जीवंतता, सरसता और स्वच्छंदता के लिए जाना जाता है। गंगा घाट पर स्नान, पान का बीड़ा और भांग का गोला वहाँ की जीवन-शैली का अभिन्न हिस्सा है, जिसकी झलक बनारस पर बनने वाली सभी फिल्मों में देखने को मिलता है। फिल्म 'राँझना' का एक गीत 'बनारसिया' बनारस के स्वभाव, भाव-भंगिमा और चाल-चलन को बहुत ही सुंदर शब्दों में अभिव्यक्त करता है। गीत में बनारस के प्रतीकों- घाट, भांग, बनारसी पान आदि के साथ ही लोगों की सरल सहज प्रवृत्ति का भी उल्लेख हुआ है-

चाल चालाकी हर होशियारी जानत यूँ तो सब नर नारी
चाल चालाकी हर होशियारी जानत यूँ तो सब नर नारी
मन के पर भोले भंडारी, मन के पर भोले भंडारी
घाट किनारे उमर गुजारे घाट बनारसिया
हाए घाट बनारसिया, घाट बनारसिया.......
तुरत फुरत में सब कर जावे आये पे जो अपनी आवे
तुरत फुरत में सब कर जावे आये जो अपनी आवे
गाल में जब ये पान दबावे, गाल मे जब ये पान दबावे
तिन ताल मे चलते जावे बात बनारसिया
हाए बात बनारसिया, बात बनारसिया
थाटों मे थाट बनारसिया, हाए हाए थाट बनारसिया..[10]

घाट के साथ ही बनारस अपनी संकरी और एक दूसरे से जुड़ी गलियों के लिए भी प्रसिद्ध है। विभिन्न फिल्मों में इन गलियों के दृश्य तो देखने को मिलते ही हैं, इन गलियों के ऊपर गीत भी लिखे गए हैं। फिल्म 'शादी में जरूर आना' (2017) बनारस की गलियों में भटकने का जिक्र करते हुए एक मधुर गीत है, ''तू बन जा गली

बनारस की, मैं शाम तलक भटकूँ तुझमें।''[11]

प्रसिद्ध साहित्यकार हेमचंद्र ने 'कुमारपाल चरित' में ठग पर टीका करते हुए उस युग की कहावत, 'वाराणसी ठकानां स्थानं' अर्थात् बनारस ठगों का घर है, का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. मोतीचन्द्र का मानना है कि धर्मांधता के कारण बारहवीं सदी में बनारस ठगी का घर बन गया था। 1973 ई. में बनी फिल्म 'बनारसी बाबू' के एक दृश्य में मोहन (देव आनंद) पान की दुकान पर एक बंगाली व्यक्ति का बटुआ उड़ा लेता है और फिर उस व्यक्ति से कहता है, ''तब तो जरूर कोई हाथ की सफाई दिखा गया है। जरा जेब पकड़कर चला करो बाबू, बनारस ठगों और जेबकतरों की नगरी है।''[12] फिल्म 'यमला पगला दीवाना' में धर्मेन्द्र और बॉबी देओल को बनारस में ठगी करते हुए दिखाया गया है।

बनारस की पहचान जिन चीजों से जुड़ी हुई है, उनमें बनारसी पान प्रमुख है। हमारे देश में धार्मिक अनुष्ठान में पान एक अनिवार्य तत्व है। पान बनारस की सांस्कृतिक विरासत और खान-पान का अभिन्न हिस्सा है, जिसका उपयोग फिल्मों में भी किया गया है। बहुत सारी फिल्मों में पान खाने वाले चरित्र रखे गए हैं और फिल्मी गानों में भी बनारसी पान का उल्लेख किया गया है। सन् 1978 में आई फिल्म 'डॉन' में अमिताभ बच्चन पर फिल्माया गया गीत ''खइके पान बनारस वाला, खुलि जाए बंद अकल का ताला''[13] आज भी बेहद लोकप्रिय है। इसी तरह फिल्म 'बनारसी बाबू' (1997) का गीत, ''पान का एक बीड़ा खिला दो फिर चाल देखो बनारसी बाबू की, इसमें थोड़ा सा जर्दा मिला दो फिर चाल देखो बनारसी बाबू की''[14] भी अपने समय में काफी प्रचलित हुआ था। चाय की दुकानों पर बैठकबाजी, गप्प और दुनिया भर के मुद्दों पर घंटों बहस करना बनारस की रोजमर्रा की जीवन-शैली का हिस्सा रहा है। इसकी झलक भी कई फिल्मों में देखने को मिलती है, खासकर 'मोहल्ला अस्सी' फिल्म में कहानी का एक हिस्सा तो चाय की दुकान पर ही घटित होता है, जिसमें बदलते राजनीतिक-धार्मिक माहौल पर काफी तीखी बहस होते हुए दिखाया गया है। यह बनारस की जीवंतता और बौद्धिक समझ की ओर संकेत करता है।

कुल मिलाकर, बनारस हिंदी फिल्मों में केवल स्थान के रूप में नहीं आया है, बल्कि कहानी के अपरिहार्य भाग बनकर आया है, जिसमें वह पात्रों के सोच-विचार, रहन-सहन और खान-पान को प्रकट करता है। धर्म, आध्यात्म और मोक्ष जैसे गंभीर विषयों को उठाने के लिए फिल्मकारों की दृष्टि बनारस की ओर ही जाती है क्योंकि यह नगरी अपनी प्राचीनता में इन सबको विरासत के रूप में अपने अंदर समाहित किए हुए है। सामाजिक दृष्टि से ऊँच-नीच, जातीय भेद-भाव और मध्यवर्गीय द्वंद्व को भी इस नगर की पृष्ठभूमि में फिल्मकार सरलता से अभिव्यक्त कर पाता है क्योंकि यहाँ आधुनिक जीवन-शैली के साथ ही परंपरागत सोच भी व्यवहार में मौजूद है। यही कारण है कि मुख्य रूप में हो अथवा आंशिक रूप में हो, हिंदी फिल्मों में कहानी के परिवेश को व्यक्त करने के लिए लगातार बनारस ने फिल्मकारों को आकृष्ट किया है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

संदर्भ सूची

1. Mark Twain, Follwing the equator, https://www.gutenberg.org/files/2895/2895-h/2895-h.htm#ch50
2. फिल्म-घातक, निर्देशक-राजकुमार संतोषी, 23:18, https://www.youtube.com/watch?v=konAYnXGOWk
3. फिल्म-धर्म, निर्देशक-भावना तलवार, 1:33:15, https://www.youtube.com/watch?v=tgSm7IFugFk
4. फिल्म-इसक, निर्देशक-मनीष तिवारी, 39:28, https://www.youtube.com/watch?v=CZUiQ0pv6wH4
5. फिल्म-मसान, निर्देशक-नीरज घेवाण, 24:38, https://www.youtube.com/watch?v=6l8Ros5YkV0
6. फिल्म-मसान, निर्देशक-नीरज घेवाण, 59:58, https://www.youtube.com/watch?v=6l8Ros5YkV0
7. फिल्म-मुक्ति भवन, निर्देशक-शुभाशीष भूटियानी, डिज्नी हॉटस्टार
8. फिल्म-मोहल्ला अस्सी, निर्देशक-चंद्रप्रकाश द्विवेदी,

57:12, https://www.youtube.com/watch?v=_6j4w0r-dxY&t=4804s
9. फिल्म-मुल्क, निर्देशक-अनुभव सिन्हा, from trailer https://www.youtube.com/watch?v=1MjC30zo1KA
10. फिल्म-राँझना, गीतकार-इरशाद कामिल, संगीत-ए. आर. रहमान, https://www.youtube.com/watch?v=LU29lSULUsk
11. फिल्म-शादी में जरूर आना, निर्देशक-रत्ना सिन्हा, https://www.youtube.com/watch?v=pgc3J2hBBEU
12. फिल्म-बनारसी बाबू, निर्देशक-शंकर मुखर्जी,19:28, https://www.youtube.com/watch?v=WhDjSKkOAks
13. फिल्म-डॉन, गीतकार-अंजान, संगीत-कल्याणजी आनंदजी, https://www.lyricsgaon.com/khaike-paan-banaras-wala-lyrics/
14. फिल्म-बनारसी बाबू, गीतकार-समीर, संगीत-आदेश श्रीवास्तव, https://hindilyrics123.com/paan-ka-ek-beeda-lyrics-in-hindi-4466.html

शोध-पत्र

डॉ. मोहम्मद शबीर

पूर्वोत्तर विषयक हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन

शोध सारांश :

पूर्वोत्तर भारत का अभिन्न हिस्सा है। इस हिस्से में कुल आठ राज्य हैं। इन राज्यों में कई छोटी-बड़ी आदिवासी जातियाँ रहती हैं। इनकी अपनी खास तरह की संस्कृति, परम्पराएँ, मान्यताएँ और जीवन-दृष्टि है। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासी समाज और उसके जीवन पर शोध कार्य हो रहे हैं। जिसके कारण उनके विषय में बहुत-सी नवीन जानकारियाँ प्राप्त हो रही हैं। हिंदी साहित्य भी इस कार्य से अछूता नहीं रहा है। हिंदी साहित्य के विपुल भण्डार में कई विधाओं में आदिवासी जीवन पर लिखा मिल जाएगा; मसलन कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, निबंध आदि। पर यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिंदी में पूर्वोत्तर के आदिवासी समाज और उनके जीवन पर कम लिखा गया है। विधागत दृष्टि से देखा जाए तो उपन्यास में स्थिति और चिंताजनक है। फिर भी कुछ रचनाकार इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये हैं और कुछ प्रयासरत हैं। जिसमें मुख्य रूप से देवेन्द्र सत्यार्थी (ब्रह्मपुत्र), कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्खु' (रक्तयात्रा), महेंद्रनाथ दूबे (मुक्ति), श्रीप्रकाश मिश्र ('जहाँ बाँस फूलते हैं', 'रूपतिल्ली की कथा'), जोराम यालाम (जंगली फूल) आदि का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने अपनी रचनात्मक शक्ति से पूर्वोत्तर के आदिवासी जीवन को रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है। इन्हीं अभिव्यक्तियों में देखने का प्रयास है कि आदिवासी जीवन पर हुए अत्याचार एवं शोषण के मूल में वह कौन-सी प्रवृत्ति और शक्ति कार्य कर रही हैं। जिनके खिलाफ होकर आदिवासी समाज को 'मुक्तिकामी संघर्ष' करनी पड़ी। अपने अस्मिता और पहचान के लिए सबकुछ दाँव पर लगाना पड़ा। इन सभी उपन्यासों ने आदिवासी जीवन की छवियों और समस्याओं को सामने लाने का बड़ा काम किया।

आदिवासी समाज को 'हाशिये का समाज' माना गया है। ऐसा मानने के पीछे कई बड़े कारण हैं। मसलन कि यह समाज वर्षों से उपेक्षित, वंचित, तिरस्कृत, विस्थापित और शोषित होता रहा है। जिस वजह से यह लगातार मुख्यधारा के समाज से अलग-थलग पड़ा दिखता है। मुख्यधारा के समाज के परिधि पर आकार सिमट गया है। एक स्वस्थ समाज की बुनियादी जरूरतों से दूर रह गया। विकासवादी परिभाषा के दायरे में नहीं पहुँच सका। यह सच है कि आदिवासी जीवन हमेशा से संकटग्रस्त तो रहा ही है। यह भी कहना गलत नहीं है कि यह समाज अभाव के साथ जीवन को जीता आ रहा है। पहचान और अस्मिता जैसी समस्या के दंश को कितनी बार इस समाज ने झेला और सहा है। यह बताना कोई नयी बात नहीं माननी चाहिए। वर्तमान समय में भी यह समाज भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार हो रहा है। असंसदीय भाषाओं और टिप्पणियों से लगातार वह मानसिक उलझनों से गुजर रहा है। अपने चेहरे की बनावट के कारण भी यह समाज आए दिन हिंसा का शिकार हो रहा है। इन सबके पीछे के कारणों को जानना अतिआवश्यक है। साथ में इस पर भी चर्चा अपेक्षित है कि आदिवासी कहने से आशय क्या है? पूर्वोत्तर के आदिवासी जीवन में उत्पन्न समस्याएँ क्या हैं? इन्हीं सब बिंदुओं पर चर्चा करके एक सार्थक निष्कर्ष

तक पहुँचा जा सकता है।

बीज शब्द :

पूर्वोत्तर भारत, आदिवासी जीवन, हाशिए का समाज, विमर्श, विस्थापन, अस्मिता, पहचान, मुक्तिकामी संघर्ष, रचनात्मक अभिव्यक्ति, असंसदीय भाषा, जीवन-दृष्टि।

मूल आलेख

इस शोध आलेख में आगे बढ़ने से पहले यह जान लेना उचित होगा कि 'आदिवासी' कहने से क्या बोध होता है। ध्यातव्य हो कि बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों में चिन्तकों ने 'हाशिये के समाज' को जानने का काम शुरू किया। उनके जीवन से जुड़े संकट के मूल कारणों की तलाश की जाने लगी। परिणामस्वरूप वंचित समुदाय को 'परिधि से केंद्र' की ओर लौटने का अवसर प्राप्त हुआ। इस समय को चिन्तकों ने अपने-अपने विचारानुसार परिभाषित किया है। आदिवासी चिन्तक गंगा सहाय मीणा ने इस समय को 'मुक्तिकामी संघर्षों के दौर' के रूप में देखते हैं। उन्होंने इस तरह लिखा है कि ''यह भारतीय समाज, राजनीति और साहित्य में उत्पीड़ित अस्मिताओं के मुक्तिकामी संघर्षों का दौर है।''[1] इस मुक्तिकामी दौर में स्त्री, दलित और आदिवासी को जानने समझने की शुरुआत हुई। अगर आदिवासी शब्द पर बात करें तो कहना सही होगा कि 'आदिवासी' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। 'आदि' का अर्थ है–प्रथम, पहला, आरंभ, शुरू और 'वासी' शब्द से अर्थ निकलता है- रहने, बसने वाला या निवासी। पूरे शब्द का अर्थ ठहरा 'किसी भी जगह पर आरम्भ या शुरू से रहने या निवास करने वाला समुदाय'। इस अर्थ से यह मानना कठिन नहीं है कि आदिवासी समुदाय यहाँ का मूल निवासी है। अपने आरम्भ से रहने वाले समुदायों का सामूहिक नाम है। आदिवासी के लिए कुछ और नाम प्रचलित हैं। अंग्रेजी में ट्राईब, इंडीजीनस (देशज), अबोर्जिनल (देशज), प्रिमिटिव (आदिम), नेटिव (मूल निवासी), बैंड (आदिम समूह), नैव (भोला भाला), सीवेज (जंगली) प्रमुख हैं। वहीं हिंदी में बनवासी, जनजाति, जंगली, बर्बर, गिरिराज तथा लंगोरिया आदि प्रयोग में लाया जाता है। पर अधिकांश विद्वान इन शब्दों के ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रयोगों पर विचार करते हुए पाया कि 'आदिवासी' कहना अन्य नामों से ज्यादा बेहतर है। दरअसल 'आदिवासी' शब्द के अतिरिक्त जो भी अन्य उपर्युक्त नाम है। वह किसी 'निजी स्वार्थ या दुराग्रह से प्रेरित' होकर दूसरों ने उन्हें दिया है। इसके विपरीत आदिवासी स्वयं को 'आदिवासी' नाम से पहचाने जाने के पक्ष में हैं। जो एक सामूहिक चेतना के भाव को अपने अंदर निहित किये हुए है।

इसी सामूहिक चेतना के भावों एवं व्यापारों को हिंदी साहित्य में सबसे पहली अभिव्यक्ति देवेंद्र सत्यार्थी ने 'ब्रह्मपुत्र' (1956) उपन्यास के रूप में दी। यह उपन्यास पूर्वोत्तर भारत पर आधारित है। इसके केंद्र में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर बसा दिसांगमुख है। साथ ही उपन्यास में कुछ वर्णित घटनाएँ माजुली की भी हैं। उपन्यास में जो समय है वह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का है। कहना गलत नहीं होगा कि यह उपन्यास असमिया समाज के जीवनाभाओं, यातनाओं और संघर्षों को सटीक रूप से प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास पर विचार करते हुए गोपाल राय ने लिखा है कि ''यह हिंदी का पहला उपन्यास है जिसमें भारत के सुदूर उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की जीवनगाथा इतने यथार्थ और मार्मिक ढंग से कही गयी है। यह जीवन इस उपन्यास में अपनी सम्पूर्णता में उपस्थित है, जिसमें वहाँ के निवासियों, किसानों, मछुवारों और अन्य लोगों के साथ पूरी प्रकृति, विशेष रूप से ब्रह्मपुत्र नदी, अपनी बाढ़ और बर्बादी की भाषा के साथ विद्यमान है। इस उपन्यास में असम प्रदेश की मिलीजुली संस्कृति, भाषा, पर्व त्यौहार, लोकगीत, नृत्य, विश्वास, मिथक, इतिहास आदि के साथ वहाँ के जातीय संघर्ष, अंधविश्वास, गरीबी, पिछड़ेपन आदि का भी प्रमाणिक चित्रण हुआ है। इसके साथ ही उपन्यासकार ने इस सुदूर क्षेत्र में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए किये गये आंदोलन का भी मार्मिक अंकन किया है।''[2]

आदिवासी जीवन में लोक की उपस्थिति बराबर दिखाई पड़ती है। यह उपस्थिति अधिकांशतः सभी पूर्वोत्तर विषयक हिंदी उपन्यासों में उस क्षेत्र की स्थानीय लोक कथा-कहानियों, लोक परम्पराओं, लोक गीतों, लोक संगीतों, लोक उत्सवों, एवं लोक मान्यताओं एवं लोक कलाओं के द्वारा व्यक्त होती है। कहना ठीक होगा कि यह सब पूर्वोत्तर के रंग-रूप हैं। इनके अभाव में पूर्वोत्तर के आदिवासी जीवन को जानना-समझना कठिन है। बसंती खेस्स आदिवासी जीवन से सम्बद्ध रचनात्मकता के विषय

में लिखती हैं कि ''आज जितनी भी आदिवासी साहित्य से संबंधित रचनाएँ लिखी जा रही हैं, उनमें आदिवासी जीवन को आधार के रूप में लोकगीतों व लोक कथाओं को ही लिया जाता है, क्योंकि इनके बगैर आदिवासी जीवन और साहित्य दोनों ही अधूरा है।''[3] यह कहना गलत नहीं है कि आज के समय में लोक कथा-कहानी, कलाओं, लोक परम्पराओं एवं मान्यताओं को भुलाया जा रहा है। ऐसे कार्यों से एक अर्थ स्पष्ट होता है कि इन्हें भूलाने का मतलब है इनको मानने वालों को भुला देना, अर्थहीन एवं मूल्यहीन समझना। सवाल बड़ा है क्या ऐसा करना चाहिए? इसके उत्तर में कहना होगा कि कोई छोटा हो या बड़ा हर समाज की अपनी जीवंत संस्कृति होती है। उसमें अनुभव संचित रहते हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि आदिवासी समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति है। उसके आधार पर वह अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस पहलू से इंकार भी नहीं किया जा सकता है कि इन समाजों में कई ऐसी मान्यताएँ प्रचलित हैं जो एक लोकतांत्रिक समाज की दृष्टि से ठीक नहीं ठहरती हैं। पर इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि अनेक समाजों से आदिवासी समाज कई स्तरों पर लोकतांत्रिक मूल्यों का निर्वाह करता है। मसलन, प्रकृति सहजीवन, नारी समानता, भाईचारे, श्रम समानता आदि के स्तर पर देखा जा सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आदिवासी जीवन में लोगों की उपस्थिति बराबर दिखाई देती है। श्रीप्रकाश मिश्र द्वारा लिखित 'जहाँ बाँस भी फूलते हैं' उपन्यास आदिवासी जीवन में प्रचलित लोक कथाओं के आधार पर विकसित हुआ है। इसकी कथावस्तु मिजोरम में हुए सशस्त्र विद्रोह पर आधारित है। परंतु इसका शीर्षक वहाँ की एक प्रचलित कथा पर आधारित है। कहा जाता है कि कई वर्षो बाद बाँस पर फूल आते हैं। उन फूलों को चूहे खा जाते हैं। जिन वर्षो में यह घटना होती है उन वर्षो में मिजोरम के रहवासियों पर कई तरह के संकट के बादल घिरते हैं। उनके यहाँ उस जगह पर अकाल पड़ता है। इस संबंध में सुरेश चंद लिखते हैं कि ''हर पचास साल की आवृति पर वहाँ के बाँस फूलते हैं। उनके बीजों को खाकर चूहे बहुत बच्चे पैदा करते हैं, जो फसल खा जाते हैं और मिजोरम में अकाल पड़ जाता है।''[4] यह बात हकीकत नहीं है लेकिन वहाँ के लोगों के बीच काफी प्रसिद्ध है। खैर, इस उपन्यास में लेखक ने बड़ी मार्मिकता से मिजोरम में हुए विद्रोह एवं संघर्ष को वर्णित किया है। इस उपन्यास के विषय में अरविन्द कुमार यादव लिखते हैं कि ''जहाँ बाँस भी फूलते हैं उपन्यास मिजोरम के सशस्त्र विद्रोह पर आधारित है। 'माउटम' के बाद पनपे असंतोष ने कैसे एक बड़े विद्रोह का रूप धारण कर लिया, यह इस उपन्यास की कथावस्तु है। डोपा गांव इसके केंद्र में है। उपन्यासकार इस दौरान खुफिया विभाग कार्यरत था। इसी कारण वह विद्रोह की भावना और सरकारी तंत्र के इससे निपटने के तरीके की तहों तक जाकर पहुँचने में सक्षम हो पाया है।''[5] एक बात यहाँ कहना आवश्यक है कि लेखक ने बड़ी ईमानदारी से मिजोरम की समस्या को यथार्थ रूप में उठाया है न कि आदर्श रूप में। मिजोरम के आदिवासी समाज के जीवन की समस्याओं को बड़ी बारीकी के साथ पाठक के सामने प्रस्तुत किया है।

प्राचीन समय से ही आदिवासी जीवन में प्रकृति का स्थान सर्वोपरि माना गया है। कारण यह है कि हर आदिवासी प्रकृति के सानिध्य में अपना जीवन व्यतीत करता है। दूसरे शब्दों में कहना अच्छा होगा कि आदिवासी वह समुदाय है जो प्रकृति के साथ तालमेल बिठाता हुआ अपने जीवन के अंतिम समय को गिनता है। वो प्रकृति से अपने जीवन की गतिविधियों को संचालित करता है। अपने जीवन के रंगों को प्रकृति के विविध रंगों से भरता है। प्रकृति के ही आदेश का वह पूर्णत: पालन भी करता है। प्रकृति उसकी रक्षा करती है तो वह भी प्रकृति का रक्षक बनता है। दोनों एक-दूसरे के पर्याय के रूप में जाने जाते हैं। उन दोनों में आपसी मित्रता और बंधुत्व का भाव रहता है। यही कारण है कि आदिवासी जीवन से यदि कोई प्राकृतिक का विनाश करता है या हानि पहुँचाता है तो वह समाज उसे अपना शत्रु समझता है। पूर्वोत्तर पर लिखे गये लगभग सभी उपन्यासों में यह देखने को मिलता है कि जिस प्रकार से विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का जिस ढंग से दोहन किया जा रहा है उससे आदिवासी समाज काफी नाराज है। नाराज ही नहीं है बल्कि प्राकृतिक संसाधनों को बचाने के लिए अनेक को लड़ाईयां भी लड़ी हैं। बहुत सारी सरकारी नीतियों के खिलाफ संघर्ष भी किया है, अपनी आवाज बुलंद किया है। जिसमें उसने अपने भाई बंधुओं को गंवाया भी है। आदिवासी समाज के संघर्षो

को केंद्र बनाकर 'मुक्ति' उपन्यास की रचना हुई है।

'मुक्ति' उपन्यास के लेखक महेन्द्र नाथ दुबे हैं। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1999 में हुआ। इस उपन्यास के कथानक के विषय में कहा जाए तो यह पूर्वोत्तर राज्य असम और पूर्वी पाकिस्तान के बंटवारे से संबद्ध है। आजादी मिलने के तत्पश्चात हुए बंटवारे की त्रासदी को इसमें रचनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। बंटवारे के पृष्ठभूमि को लेकर भारतीय भाषा साहित्य में अनेक रचनाएँ देखने को मिलती हैं। किंतु पूर्वोत्तर को केंद्र में रखकर यह उपन्यास जिस ढंग से उस त्रासदी का वर्णन किया। उसे पढ़कर मानो ऐसा लगता है कि यह अपने वर्तमान में घटित हुई कोई घटना है। विभाजन की त्रासदी के विषय में इस उपन्यास का एक पात्र कहता है कि ''पागल हुई हो। बंटवारा देश का हुआ है न की आदमियों का। अपनी धरती-जमीन, घर-बार, बाग-बगीचा बताओ किसे प्यारा नहीं... हिंदू होने भर से ही हिंदुस्तान वालों को हिंदुओं को अपनी छाती में नहीं बसा लेंगे और मुसलमान होने भर से ही पाकिस्तान वाले किसी मुसलमान को सिर माथे नहीं चढ़ाएंगे... संघर्षों से भागने से मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति मिलेगी संघर्षों से सामना करने से।''[6]

पूर्वोत्तर विषयक उपन्यासों से गुजरते हुए यह महसूस किया जा सकता है कि आदिवासी जीवन में कई तरह के संघर्षों समय-समय पर आते रहे हैं। इन संघर्षों से भागने की प्रेरणा यह उपन्यास नहीं देते; बल्कि अपने अर्थ को चरितार्थ करते हैं। संघर्षों से सामना करने का हौसला प्रदान करते हैं। चाहे वह संघर्ष आदिवासी समाज में 'बाहरियों' के प्रवेश से उपजी हो या सरकारी एवं पूंजी विस्तार से जुड़ी रही हो। सभी प्रकार के संघर्षों से लड़ने की प्रेरणा यह उपन्यास देते हैं। यहाँ बताना जरूरी है कि जिस प्रकार से 'बाहरियों' ने आदिवासी समाज में प्रवेश किया है। वह एक बड़ी समस्या के रूप में आदिवासी जीवन में दिखाई देती है। श्रीप्रकाश मिश्र ने अपने उपन्यास 'जहाँ बाँस भी फूलते हैं' में इस बात को बड़ी गंभीरता से रेखांकित किया है। पीछे यह कहा जा चुका है कि इस उपन्यास के केंद्र में जो मिजो समाज की समस्या है। उसमें से एक सबसे बड़ी समस्या के रूप में 'वाई' की समस्या है। 'वाई' का अर्थ मिजो आदिवासी समाज में 'बाहरी' लोगों के लिए इस्तेमाल होने वाली शब्दावली है। दरअसल मिजोरम के आदिवासी समाज का मानना है कि 'वाई' की वजह से हमारा समाज बहुत सारी परेशानियों का शिकार होता रहा है। उनकी वजह से हमारा साधारण जीवन कई समस्याओं से ग्रसित हो गया है। पहले की अपेक्षा हम हिंसक प्रवृत्ति के होते जा रहे हैं। ऐसी न जाने कितनी समस्याएँ पैदा हो गयी हैं आदिवासी जीवन में बाहरियों के प्रवेश के साथ। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में वे लोग बाहरियों को जिम्मेदार मानते हैं। काफी हद तक यह सही भी है। 'जहाँ बांस फूलते हैं' उपन्यास में एक स्थान पर लेखक ने इस तरह से लिखा है कि ''वाई लोग यहाँ से पैसा कमाकर ले जाते हैं और हमारे ही पैसे से बंदूक खरीद कर हमें गुलाम बनाते हैं।''[7] यह उपन्यास कई मायनों में काफी महत्वपूर्ण है। यह केवल मिजोरम के आदिवासी समाज एवं जीवन को बाहरी संरचना में समझने की मांग नहीं करता है; बल्कि उसकी आंतरिक संरचना को समझने की भी मांग करता है।

निष्कर्ष :

हिंदी के पूर्वोत्तर विषयक उपन्यासों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि अपने ऐतिहासिक क्रम में आदिवासी जीवन काफी सरल जीवन रहा है। जिसमें श्रम का विशेष महत्त्व रहा है। आपसी भाईचारे का भाव देखने को मिलता है। सहजीविता इस आदिवासी समाज की विशेषता रही है। प्रकृति के साथ जीवन जुड़ा रहा है। पर विकासवाद की अवधारणा ने इनकी अस्मिता एवं पहचान को खत्म कर रही है। इनको जल, जंगल और जमीन से दूर कर रहा है। अपनी मिट्टी और पहचान के लिए ये सदियों से संघर्ष कर रहे हैं। आज जरूरी है इस बात को समझने की; कि विकास के रास्ते चलते हुए बड़ी-बड़ी सभ्यताओं और मशीनों ने क्या प्राप्त किया? अगर आदिवासी समाज को जीवित एवं बचाए रखना है तो हमें उनके मूल्यों पर उनका विकास करना होगा न कि अपने विकास के मूल्यों पर। अंत में यही कहना है कि तथाकथित समाज को उनके जीवन से बहुत कुछ बातें सीखने एवं समझने की आवश्यकता है।

सह आचार्य, हिंदी-विभाग
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : shabeermlnc140@gmail.com

संदर्भ सूची

1. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी साहित्य विमर्श पत्रिका, अप्रैल-जून-2018, दिल्ली, पृ. 07
2. राय, गोपाल, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 236
3. यादव, कालीचरण (संपा.), मड़ई पत्रिका, 2016, पृ. 174
4. चंद्र, सुरेश (संपा.), श्रीप्रकाश मिश्र की साहित्य-साधना की परख, पृ. 133
5. यादव, अरविंद कुमार, कंचनजंघा पत्रिका, वर्ष-03, अंक 5-6, जनवरी-दिसंबर, पृ. 24
6. दुबे, महेंद्रनाथ, मुक्ति वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1999, पृ. 21
7. मिश्र, श्रीप्रकाश, जहाँ बाँस फूलते हैं, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संशोधित संस्करण-2005, पृ. 76